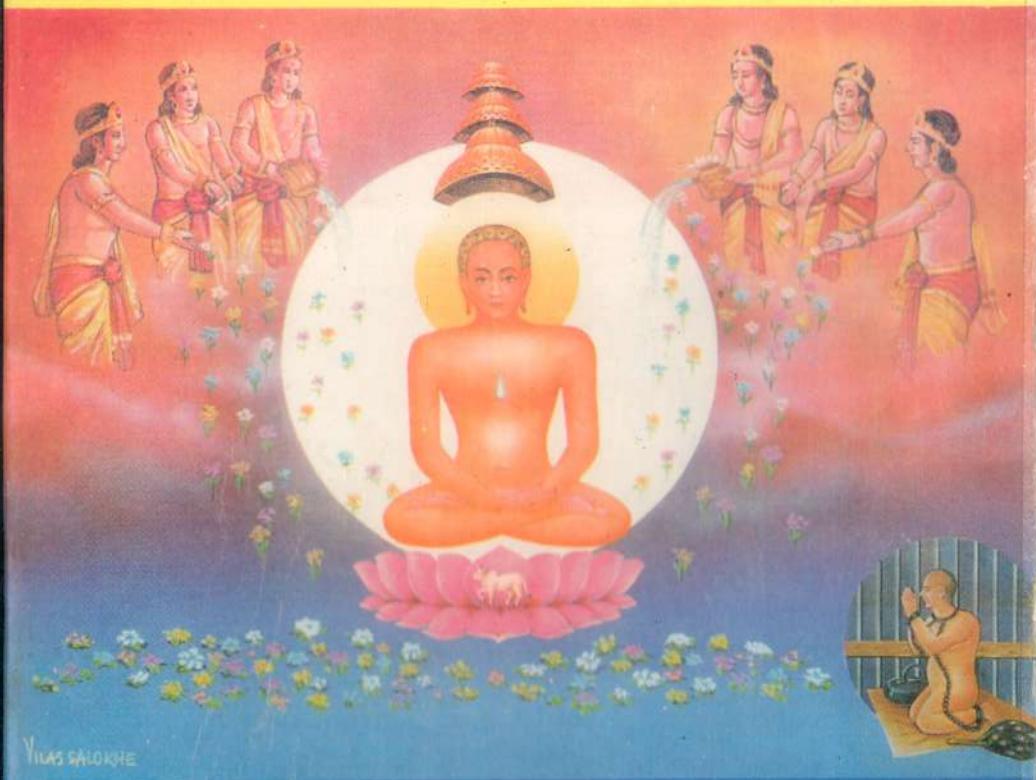


शान्ति-क्रान्ति के विश्व नेता बनने के उपाय

(सोलह काव्य भावना)



VILAS SALOKHE

आ. रत्न श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

शान्ति-क्रान्ति के विश्व-नेता बनने के उपाय

(सोलह कारण भावना)

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

मिल (ग्रन्थ) समाज विधान कर्मीहर्व मनुष्यां भृत्य

विषय-साहित्य इति विश्व-नेता बनने के 16 कारण भावना

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदीजी गुरुदेव

शान्ति-क्रान्ति के विश्व-नेता बनने के उपाय

(सोलह कारण भावना)

**चतुर्थ राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी आयड़ (उदयपुर) की
पावन मधुर स्मृति में प्रकाशित यह पवित्र ग्रन्थ**

प्रवचनकार - आचार्यरत्न कनकनंदी जी गुरुदेव
संकलनकन्त्री - आ. ऋष्टिश्री

द्रव्यदाता-

श्री विमल गोधा एवं उनके अग्रज श्री ख्यालीलालजी गोधा एवं
श्री शांतिलालजी गोधा द्वारा अपने पूज्य पिताजी श्री प्रभुलालजी गोधा
एवं माताश्री राजबाई गोधा के स्मरणार्थ प्रकाशित

प्रकाशन - धर्म-दर्शन-विज्ञान- शोध संस्थान का इंटरनेट एवं ई-मेल
w.w.w.Jain kanaknandhi.org.
E-Mail-InFo@Jain kanaknandhi.org.

वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी गुरुदेव

- धर्म-दर्शन-विज्ञान शोध संस्थान ग्रंथाक - 123
पुस्तक - शान्ति-क्रान्ति के विश्व नेता बनने के उपाय
प्रवचनकर्ता एवं लेखक - वैज्ञानिक धर्माचार्य आचार्य रत्न कनकनंदीजी गुरुदेव
आशीर्वाद - गणधराचार्य श्री कुंथुसागर जी गुरुदेव
सहयोगी - मुनि श्री विद्यानन्दीजी, मुनिश्री आज्ञासागरजी, आ. ऋष्टिश्री
परम शिरोमणि संरक्षक - "दानश्री" श्री रमेशचन्द्रजी कोटड़िया
(दानवीर, गुरुभक्त, उद्योगपति प्रतापगढ़, नि. मुंबई, अमेरिका प्रवासी)
फोन नं.: (022) 8017281, 8016207, 8954989
अध्यक्ष - 'दानश्री' श्री गुणपालजी जैन (भूतपूर्व इंजीनियर वर्तमान उद्योगपति)
वरिष्ठोपाध्यक्ष - 'प्रज्ञापुँज' श्री सुशीलचन्द्रजी जैन (एम.एस.सी. भूतपूर्व
भौतिकशास्त्र प्रवक्ता) बड़ौत (मेरठ) फो. : (01234) 62845
कार्याध्यक्ष - श्री गुरुचरण एम. जैन (वकील हाइकोर्ट, मुंबई)
उपाध्यक्ष - (1) श्री प्रभातकुमारजी जैन (एम.एस.सी. रसायन शास्त्र)
मुजफ्फरनगर, फो. : (0131) 431998
(2) 'सेवाश्री' राजमलजी पाटोदी (कर्तव्यनिष्ठ, सामाजिक कार्यकर्ता, कोटा)
फोन नं. : (0744) 23474
(3) श्री रघुवीर सिंह जैन (एम.एस.सी., एल.एल.बी., रिटायर्ड हैड ऑफ
कैमेस्ट्री व प्रिंसीपल डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज) फो: (0131) 26514,
407865, मुजफ्फरनगर।
मानद निर्देशक - 'सरस्वती पुत्र' डा. राजमल जी जैन (अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक)
संयुक्त मंत्री - श्री पंकजकुमारजी जैन (बी.एस.सी.) बड़ौत
फोन नं. : (01234) 65076, 73179
प्रचारमंत्री - सुश्री सुरुचि जैन एवं महावीर कुमार जैन (कोटा)
संस्करण - प्रथम 2000 मूल्य - 41/- प्रतियाँ - 9000
प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान -
(1) श्री सुशीलचन्द्रजी जैन, 'धर्म-दर्शन-विज्ञान शोध संस्थान' निकट दि.
जैन धर्माशाला, बड़ौत
(2) श्रीमती रत्नमाला जैन C/o डॉ. राजमलजी जैन, 4-5 आदर्श कॉलोनी
पुलाँ, उदयपुर (राज.) फो. नं. (0294) 440793
(3) श्री गुणपालजी जैन, बेहड़ा भवन 87/1 कुंदनपुरा मुजफ्फरनगर
फो नं. : (0131) 450229

(4) श्रीमती लक्ष्मीगुरुचरण जी जैन, 144 मुवी टावर नीयर, मिल्लतनगर लोखण्डवाला कॉम्प्लेक्स, अंधेरी (वे.) मुंबई

फोन नं. : (022) 6327152, 6312124, 63271152

(5) 'सेवाश्री' सुरेखा जैन (शिक्षिका) w/o वीरेन्द्रकुमार डालचन्दजी गड़िया कपड़े के व्यापारी - सलुम्बर जि. उदयपुर पिन. 313001

फोन नं. : (02906) 32043

(6) श्री महावीर कुमार जैन, 13 अग्रसेन कॉलोनी, दादाबाड़ी कोटा

फोन नं. : (0744) 410818

(7) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान

C/o चन्द्रप्रभु मंदिर, आयड़, छोटूलाल चित्तोड़ा, आयड़ बस स्टोप के पास, उदयपुर-313001 (राज.), फोन न. 413565

लेसर टाइप सेट्स :

श्री कुथुसागर ग्राफिक्स सेन्टर 25, शिरोमणि बंगलोज, सी.टी.एम. चार रस्ता के पास, अहमदाबाद-380026 फोन - 5892744, 5891771

प्रशिक्षण शिविर में ग्रन्थ विमोचन करते हुए डॉ. नारायणलाल कछारा एवं विश्व हिन्दू परिषद के कार्यकर्ता श्री के.एल. गोधा आचार्यश्री के साथ विचार-विमर्श



प्राकृकथनम्

विश्व के प्रत्येक जीव स्वभावतः अनंत अक्षय ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सम्पन्न प्रभु-विभु होने के कारण, कर्म-परतन्त्र में रहने वाले संसारी-दुःख आक्रान्त जीव भी सुखी, प्रभु-विभु होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु यथार्थ मार्ग प्रदर्शनकारी के अभाव से दुःख आक्रान्त जीव; यथार्थ उक्तान्ति-शान्ति के मार्ग को जाने माने बिना एवं उस मार्ग में चले बिना उसका प्रयत्न असम्यक्-विपरीत होता है। विपरीत मार्ग में सतत प्रयत्नशील होकर गति करने पर भी वह सुखेच्छु-मुमुक्षु जीव स्व-चिर पोषित लक्ष्य बिन्दु को प्राप्त नहीं कर पाता है। अपितु वह लक्ष्य बिन्दु से अधिक से अधिक दूर से अतिदूर होता जाता है। परन्तु जब उसको यथार्थ सुख-शान्ति क्रान्ति के पथिक का सुयोग्य मार्ग प्रदर्शन मिलता है, जिसने स्वयं अपना लक्ष्य बिन्दु प्राप्त कर लिया है, तब उसको दिशा बोध होता है, एवं यथा शक्ति विपरीत मार्ग का त्याग कर सत्य, सुख, शान्ति, क्रान्ति के मार्ग में प्रयाण करता है। अत एव योग्य क्रान्ति के लिए क्रान्तिकारी महा मानव की आवश्यकता प्रथम, प्रधान, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ एवं सर्वोपरि है। जैन दर्शनानुसार अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जब तक सच्चे गुरु का उपदेश प्राप्त नहीं कर पाता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। क्योंकि अनादि काल से कर्म परतन्त्रता के कारण संसारी जीव ने सत्य-स्वरूप से विमुख होकर असत्य, अर्धम दुःख में ही रचा - पचा एवं उसका अनुभव किया है। इसलिए उसको सत्य का परिज्ञान एवं सत्य प्राप्ति के लिए सत्य मार्ग का परिज्ञान गुरु से ही होता है। वे गुरु असाधारण, अलौकिक-प्रतिभा, ज्ञान, वैराग्य-शक्ति से सम्पन्न होते हैं। अखिल जीव के हितकारी शान्तिमय-क्रान्ति के अग्रदृत जगत्गुरु के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार कहा है-

मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूमृताम्।

ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तदगुण लब्ध्ये॥

जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, कर्म रूपी पर्वत को भेदन करने वाले हैं, अखिल विश्व के सम्पूर्ण तत्व का परिज्ञान करने वाले हैं, उनके गुणों की प्राप्ति के लिए उनकी वन्दना करता है।

उपरोक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि स्वातन्त्र्य मार्ग के नेता बनने के लिए

सम्पूर्ण बन्धनों से रहित होना चाहिए और सम्पूर्ण विश्व के रहस्य का परिज्ञान करना चाहिए। महान् दार्शनिक, मनीषी समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

आत्मेनोच्छिन्नं दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भक्तिव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

रत्नकरण्ड श्रा.

In the nature of things the true God should be free from the faults and weaknesses of the lower nature; (he should be) the knower of all things and the revealer of Dharma; in no other way can divinity be Constituted.

सच्चे सुख-शान्ति, क्रान्ति के उपदेशक (आप्त-नेता) को सम्पूर्ण अन्तरंग-बहिरंग दोषों से पूर्ण रूप से रहित होना चाहिए। जगत् गुरु (आप्त) को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी के साथ-साथ सर्व जीव हितकारी हितोपदेशी होना चाहिए। उपर्युक्त गुण सहित आप्त होते हैं। अन्यथा आप्त होने के लिए कोई भी योग्य नहीं हो सकता है।

उपरोक्त गुणालंकृत महामानव ही स्व-पर उपकार कर सकता है। वे महान् कारुणिक, सर्व जीव हितकारी, शान्तिमय-क्रान्ति के अग्रदूत दुःख संतप्त जीवों को अपनी क्रान्तिमय वाणी से सम्बोधन करके जाग्रत करते हैं। इसी प्रकार अद्वितीय क्रान्तिकारी महापुरुष व अद्वितीय क्रान्तिकारी मत का संक्षिप्त सारागर्भित परिचय देते हुए तार्किक शिरोमणि समन्तभद्र स्वामी ने युक्त्यानुशासन में निम्न प्रकार कहा है—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठा, नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽज्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै- जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥6॥

हे वीर जिन ! आपका मत-अनेकान्तात्मक शासन-दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा तत्परता को लिए हुए है। पूर्णतः अथवा देशतः प्राणी हिंसा से निवृत्ति तथा परोपकार में प्रवृत्ति रूप वह दया व्रत जिसमें असत्यादि से विरक्ति रूप सत्यव्रतादि का अन्तर्भव (समावेश) है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष की निवृत्ति रूप संयम; बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहों का खेच्छा से त्यजन अथवा दान और धर्म तथा शुक्ल ध्यान का अनुष्ठान ये चारों उसके प्रधान लक्ष्य हैं। नयों तथा प्रमाणों के द्वारा सम्यक् वरतु तत्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और दूसरे सभी प्रवादों से अबाध्य है। दर्शन मोहोदय के वशीभूत हुए सर्वथा एकान्तवादियों के द्वारा

प्रकल्पितवादों में से कोई भी वाद उसके विषय को बाधित अथवा दूषित करने के लिए समर्थ नहीं हैं 'यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिए वह' अद्वितीय है.... अकेला ही सर्वाधिनायक होने की क्षमता रखता है।

जगत् गुरु, सर्व जीव उपकारी क्रान्ति के अग्रदूत निर्दोष भगवान् जिनेन्द्र का धर्मतीर्थ, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, उभय लोक मंगलमय, सर्व अभ्युदय के कारण होने से इनके तीर्थ को समन्तभद्र स्वामी ने सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वान्त वत्तद् गुण-मुख्य कल्पं, सर्वान्त शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।

सर्वाऽपदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥61॥

(युक्त्यानुशासन)

हे वीर भगवान ! आपका तीर्थ प्रवचनरूप शासन अर्थात् परमागम वाक्य जिसके द्वारा संसार महासमुद्र को तिरा जाता है सर्वान्तवान् है— सामान्य-विशेष द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध एक-अनेक, आदि अशेष धर्मों को लिए हुए हैं और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिये हुए हैं। एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, इसी से सुव्यवस्थित है, उसमें असंगतता अथवा विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है। जो शासन वाक्य धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता, उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है; वह सर्वधर्मों से शून्य है; उसमें किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासन—तीर्थ सर्व दुःखों का अन्त करने वाला है, यही निरन्त है, किसी भी मिथ्या दर्शन के द्वारा खण्डनीय नहीं है, और यही सब प्राणियों के अभ्युदय का कारण तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय का साधक ऐसा सर्वोदय तीर्थ है।

सर्वोदय तीर्थ होने के लिए कुछ विशेष गुणों से युक्त होना अनिवार्य है। जो तीर्थ निर्दोष साम्यभावी, उदार, गुणग्राही सर्व जीव हितकारी, समसामयिक हो वही तीर्थ सर्वोदय हो सकता है। 'सापेक्ष सिद्धान्त से युक्त सर्व विरोध से रहित स्याद्वादात्मक अनेकान्त सिद्धान्त ही सर्वोदय शासन है' ऐसी समन्तभद्र स्वामी ने उद्घोषणा की है यथा—

अनवद्यः स्याद्वादस्त्व दृष्टेष्टाऽविरोधतः स्याद्वादः।

इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः॥

पृष्ठ 319 श्लोक 3

हे मुनिनाथ ! 'स्यात्' शब्द पुरस्सर कथन को लिए हुए आपका जो स्याद्वाद है, अनेकान्तात्मक प्रवचन है, वह निर्दोष है, क्योंकि दृष्ट प्रत्यक्ष और इष्ट आगमादिक प्रमाणों के साथ उसका कोई विरोध नहीं है, दृसरा 'स्यात्' शब्द पूर्वक कथन से रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनों के विरोधी को लिए हुए हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही नहीं हैं, किन्तु अपने इष्ट अभिमत को भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिन्धु करने में समर्थ नहीं हो सकता।

सर्वोदय तीर्थ सर्वकालीन सर्वदेशीय होने के कारण यह तीर्थ कालजयी है। इस तीर्थ का शासन स्वर्ग, नरक; शाश्वतिक कर्मभूमि आदि त्रिलोक में, त्रिकाल में सतत प्रवाहमान रहता है। परिवर्तनशील कर्म-भूमि में इसका प्रभाव कुछ मन्द हो जाता है तो भी सम्पूर्णरूप से नष्ट नहीं हो जाता है।

तवजिन ! शासन विभवो,

जयति कलावपि गुणाऽनुशासन विभवः।

दोषकशाऽसनविभवः स्तवन्ति,

चैनं प्रभा कुशाऽसन विभवः॥

हे धीर जिन ! आपका शासन-महात्म्य-आपके प्रवचन का यथावस्थित पदार्थों के प्रतिपादन स्वरूप घोर कलिकाल में भी जय को प्राप्त है। सर्वोल्कृष्ट रूप से प्रवृत रहा है उसके प्रभाव से गुणों में अनु-शासन-प्राप्त शिष्य जनों का भव विनष्ट हुआ है। संसार परिभ्रमण सदा के लिए छूटा है। इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकों का निराकरण करने में समर्थ है, चाबुकों की तरह पीड़ाकारी काम-क्रोधादि दोषों को अपने पास फटकने नहीं देते और अपने ज्ञानादि तेज से जिन्होंने आसन-विभुओं को लोक के प्रसिद्ध नायकों को निरतेज किया है वे गणधर देवादि महात्मा, भी आपके इस शासन के महात्म्य की स्तुति करते हैं।

वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक युग में सर्वोदय तीर्थ की उपादेयता एवं आवश्यकता का अनुभव मानव आज कर रहा है। पूँजीपति एवं निर्धन व्यक्ति के बीच में जो गहरी एवं चौड़ी खाई दिनों दिन बढ़ती जा रही है, उसको कम एवं सम्पूर्ति करने के लिये अपरिग्रहवाद की आवश्यकता, साम्यवदी तथा समाजवादी लोग रूपरूप से महसूस कर रहे हैं। राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपरिग्रह-वाद को व्यवहारिक रूप देने के लिए कार्लमार्क्स, लेनिन, महात्मा, गांधी, वल्लभभाई पटेल

आदि महान् नेताओं ने अथक परिश्रम किये हैं। इसी प्रकार शांति पूर्ण सह अस्तित्व जीवन-यापन के लिये दूसरों के सत्यांश को र्खीकार करना एवं स्वयं के मिथ्या अंश का त्याग करने रूप सापेक्षवाद एवं अनेकान्त-सिद्धान्त को सर्व-जन र्खीकार कर रहे हैं। क्रूर हिंसा प्रक्रिया से मानव समाज के साथ-साथ प्रकृति को ध्वंस-विध्वंस देखते हुए आज के संवेदनशील मानव अहिंसा को ही एक अद्वितीय रक्षक मानकर अहिंसा की शरण में जा रहे हैं। क्रूर हिंसा को अमानवीय कृत्य मानते हुए निरस्त्रीकरण करने की जोरदार आवाज उठ रही है। इसी प्रकार शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शांति के लिये एवं सुख शांति के लिये सर्वोदय के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनेकान्त, सापेक्षवाद, संगठन आदि इस युग में भी सम-सामायिक उपयोग, आवश्यक अपरिहार्य सिद्धान्त हैं।

"शान्तिमय धर्म क्रान्ति के अग्रदृत का सर्वोदय तीर्थः मंगलमय, सम-समायिक, निष्कलंक, सर्वत्र, सर्वकाल, सर्वजीव हितकारी होने के कारण सर्व शोभा सम्पन्न सर्वतोभद्रमय है" ऐसा समन्तभद्रस्वामी ने कहा है :-

बहुगुण-सम्पद सकलं परमतमपि मधुर-वचन-विन्यास-कलम्।

नय-भक्त्यवतंस-कलं तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम्॥८॥

स्वयम्भू स्तोत्र

हे धीर जिनदेव ! जो परमत है.... आपके अनेकान्त-शासन से भिन्न दूसरों का शासन है, वह मधुर वचनों के विन्यास से- कानों को प्रिय मालूम देने वाले वाक्यों की रचना से मनोज्ञ होता हुआ भी, प्रकट रूप में मनोहर तथा रुचिकर जान पड़ता हुआ भी, बहुगुणों की सम्पत्ति से विकल है.... सत्य शासन के योग्य जो यथार्थवादिता और पर-हित प्रतिपादनादि-रूप बहुत से गुण हैं उनकी शोभा से रहित है - सर्वथैकान्तवाद का आश्रय लेने के कारण वे शोभन गुण उसमें नहीं पाये जाते- और इसलिये वह यथार्थ वस्तु के निरूपणादि में असमर्थ होता हुआ वास्तव में अपूर्ण सवाध तथा जगत् के लिये अकल्याणकारी है। किंतु आपका मत-शासन-नयों के भंग-स्यादस्ति-नास्त्यादि रूप अलंकारों से अलंकृत है अथवा नयों की भक्ति-उपासना रूप आभूषण को प्रदान करता है- अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर नयों के सापेक्ष व्यवहार की सुंदर शिक्षा देता है, और इस तरह यथार्थ वस्तु तत्व के निरूपण और परहित-प्रतिपादनादि में समर्थ होता हुआ, बहुगुण-सम्पत्ति से युक्त है.... (इसी से) पूर्ण है और समन्तभद्र है- सब और से भद्ररूप, निर्बाधतादि

विशिष्ट शोभा सम्पन्न एवं जंगत् के लिये कल्याणकारी है।

प्रत्येक द्रव्य अनेक गुण, धर्म, स्वभाव, अवस्थाओं का अखण्ड पिण्ड होने के कारण प्रत्येक द्रव्य अनेकान्त स्वरूप है। उसकी प्रेरुपणा केवल एक अपेक्षा से (नय, दृष्टिकोण, भाव) नहीं हो सकती है। इसीलिए एक ही अपेक्षा को लेकर संपूर्ण वर्तु का कथन करना आंशिक सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है। आंशिक सत्य को आंशिक सत्य मानना सत्य होते हुये भी पूर्ण सत्य मानना मिथ्या है। जैसे— रामचन्द्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं, लव-कृश की अपेक्षा पिता है, लक्ष्मण की अपेक्षा भ्राता हैं, विभीषण की अपेक्षा मित्र हैं, रावण की अपेक्षा शत्रु आदि। इस सापेक्ष कथन से रामचन्द्र पुत्र, पति आदि होते हुए भी केवल पुत्र या पति स्वरूप नहीं हैं, भले सीता की अपेक्षा पति हैं परन्तु इस सापेक्ष सत्य को सर्वत्र सत्य मानकर दशरथ, विभीषण, लक्ष्मण, रावण की भी अपेक्षा पति मानने पर मिथ्या ठहरता है। इसी प्रकार एकान्त हठाग्राही वस्तु स्वरूप के एक सत्यांश को पकड़कर अन्य सत्यांश को नकार दिया जाता है तब वहाँ वस्तु स्वरूप का विप्लव होने के कारण अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए अनेकान्तात्मक सापेक्ष सिद्धान्त ही मंगल, भद्र, कल्याणकारी सिद्धान्त है।

उपर्युक्त सर्वोदय समन्तभद्र तीर्थ के प्रवर्तक शान्तिमय क्रान्ति के अग्रदूत सर्वजयी आत्मा के लिए सुखेच्छु, मुमुक्षु, गुणग्राही, भव्यात्मा के हृदय में स्वयमेव समर्पित होकर उन पवित्रात्मा का गुणगान करने के लिए भावरूपी तरंगों तरंगित होने लगती हैं—

नमो नमः सत्वहितंकराय, वीराय भव्यांबुजभास्कराय।

अनन्तलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय॥७॥

समस्त प्राणियों के हित करने वाले भव्य जीवों के हृदय कमल को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाले अनन्त आकाश द्रव्य को देखने वाले देवों के द्वारा पूजित सामान्य रूप से जिनेन्द्र देव के लिए नमस्कार हो उसमें भी इस युग के विशेष देवों के भी अधिदेव आराध्य वर्धमान स्वामी के लिये बारम्बार नमस्कार हो।

नमो जिनायत्रिदशार्चिताय, विनष्टदोषाय गुणार्णवाय।

विमुक्तमार्ग प्रतिबोधनाय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय॥८॥

तीन दशा.... बुद्धापा, जवानी और बाल्यावस्था जिसकी समान रहती हैं अर्थात् जो सदा जवान ही बने रहते हैं, ऐसे देवताओं के द्वारा अर्चित अर्थात् पूजित जिनेन्द्र

देव के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने जन्म—जरा आदि 18 दोषों को नष्ट कर दिया है, जो मुक्ति मार्ग का प्रतिबोधन करते हैं अर्थात् अन्य प्राणियों को समझाते हैं, जो देवताओं के भी देवता हैं जिनेन्द्र देव को नमस्कार हो।

**देवाधिदेव ! परमेश्वर वीतराग, सर्वज्ञतीर्थकरसिद्धमहानभाव।
त्रैलोक्य नाथ, जिनपुंगवद्वमान, स्वामिन् गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयंते॥९॥**

हे देवों से पूज्य हे परम प्रभु ! हे राग, द्वेष कषाय रहित वीतरागी ! हे लोकालोक प्रकाशक सर्वज्ञ देव ! हे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थकर ! हे सिद्ध ! तथा हे महान् आशययुक्त ! हे तीन लोकों के स्वामी ! हे समस्त चरमशरीरी जीवों में प्रमुख जिनश्रेष्ठ ! हे महावीर स्वामिन् ! इस युग के अन्तिम तीर्थकर ! आपके दोनों चरणों की शरण को मैं प्राप्त हुआ हूँ।

जितमदहर्षदेषा जितमोहपरीषहा जितकषायाः।

जित जन्ममरणरोगाः जितमात्सर्याजयन्तु जिनाः॥१०॥

जिन्होंने मद हर्षभाव, द्वेष परिणति को जीत लिया है जिन्होंने मोह रूपी महाशत्रु को तथा क्षुधा, तृष्णादि 22 परीषहों को जीत लिया है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संन्यलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुसा तीनों वेदरूप 25 कषायों को जीत लिया है तथा जिन्होंने मात्सर्य, ईर्ष्या के भाव को जीत लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव सदा जयवंत रहें।

जयतु जिन वर्द्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजवन्धुः।

त्रिदशपतिमुकुटभासुरचूडामणिरशिमर्जितारूणचरणः॥११॥

जो तीनों लोकों के हित करने वाले धर्म समूह रूपी अर्थात् भव्यजन समूह रूप कमलों के बन्धुस्वरूप अर्थात् उन्हें सुख देने वाले सूर्य के समान हैं। देवताओं के स्वामी इन्द्रों के मुकुटों में लगी हुई चूडामणि का किरणों से रंगे गये हैं, लालचरण जिनके, ऐसे महावीर स्वामी जयवंत रहें।

जय जय जय त्रैलोक्यकाण्डशोभि शिखामणे,

नुद नुद नुद स्वान्तर्धान्तं जगत्कमलार्क नः।

नय नय नय स्वामिन् शांति नितांतमनंतिमा,

नहि नहि नहि त्राता लौकेकमित्र भवत्पर॥१२॥

हे तीनों लोकों में सुशोभित होने वाले शिखामणि के समान प्रभो ! आपकी जय हो, जय हो, जय हो। हे जगत् रूपी कमल को विकसित करने वाले अर्क अर्थात् सूर्य हमारे हृदय के अंधकार को दूर कीजिए, दूर कीजिए, दूर कीजिए। हे प्रभो कभी नाश न होने वाली शान्ति को पूर्ण रूप से प्राप्त कराइये, शांति दीजिए, शान्ति से युक्त कीजिये। हे भव्य जीवों के अद्वितीय मित्र आपके सिवाय और कोई रक्षा करने वाला नहीं है, नहीं है, बारतव में नहीं है।

जैसे सर्वोदय होने से अन्धकार का साम्राज्य विलय हो जाता है, प्रकाश का सम्राज्य विस्तारित होता है, कमल विकसित हो जाते हैं, जीवों को वस्तु स्पष्ट प्रतिभाषित होने लगती हैं, रात्रिचर जीवों के संचार स्थगित हो जाते हैं, पशु, पक्षी, मनुष्यादि दिनचर प्राणी आनन्दोल्लाससे विचरण करने लगते हैं, वैसे ज्योतिर्मय क्रान्तिकारी, महामहिम महामानव के प्रादुर्भाव से अज्ञान मिथ्यात्व, कुर्धम, अन्ध परम्परा, हिंसारूपी अन्धकार का साम्राज्य विलय हो जाता है, सत्य, धर्म, न्याय, सदाचार रूपी प्रकाशमय साम्राज्य का विस्तार होता है। भव्य जनों के हृदयरूपी कमल खिल उठते हैं, हिताहित पुण्य-पाप करणीय-अकरणीय, भक्ष-अभक्ष, ग्रहण-त्याग का परिज्ञान स्पष्ट रूप से परिभाषित होने लगता है। पाप रूपी रात्रि में विचरण करने वालों का प्रभाव मन्द हो जाता है एवं धर्मरूपी प्रकाशमान दिन में विचरण करने वाले आनन्द से संचार करने लगते हैं। इसीलिए क्रान्तिकारी महापुरुष सूर्य के समान स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं उनका जीवन ही जीवन्तशास्त्र, उनका चरित्र चलता-फिरता धर्म, उनके वचन ही अमृत हैं। महापुरुषों के बारे में एक कवि ने कहा है....

चलते चलते राह है, बढ़ते बढ़ते ज्ञान तपते तपते सूर्य हैं, महापुरुष महान्॥

वे जिस मार्ग में चलते हैं वह ही मार्ग दूसरों के लिये गमन करने योग्य आदर्श पथ बन जाता है। उनके सम्पूर्ण आचार-विचार, उच्चार मूर्तिमान ज्ञान स्वरूप होते हैं और वे स्व-पर कल्याण के लिए विभिन्न बाधाओं से संघर्ष करते हुए सूर्य के समान दैदीयमान हो जाते हैं।

नेता का अर्थ है जो स्वयं आगे-आगे गमन करके दूसरों को प्रेरणा देता है अथवा जो लक्ष्य बिन्दु प्राप्त करने के लिए स्वयं चलता है तथा दूसरों को ले जाता है उसे नेता कहते हैं। आधुनिक युग के संकीर्ण स्वार्थनिष्ठ कुछ नेताओं के समान

केवल भाषण के मंच पर भाषण करके अपने कर्तव्य को इतिहास मानता है, वह यथार्थ से नेता नहीं हो सकता। नेता को क्रान्तिकारी, आदर्श विचारधारा, निश्चल वचन, निष्कलंक चरित्र, कर्तव्यनिष्ठ, निःस्वार्थभाव, दूसरों के लिए समर्पित सेवा, अदम्य-साहस, उत्साह, बलिदान की भावनादि अनिवार्य गुणों से अलंकृत होना चाहिये। नेता को आदर्श के पथ पर स्वयं को सर्व प्रथम चलना चाहिए पश्चात् दूसरों को चलने के लिए प्रेरणा देनी चाहिए। परन्तु वर्तमान के नेता स्वयं आदर्श के पथ पर एक कदम भी आगे न बढ़कर, पीछे हटते हैं एवं दूसरों के लिए लम्बा-चौड़ा भाषण झाड़ते हैं। इसलिए आज के नेता दूसरों के लिए आदर्श प्रेरणापद, अनुकरणीय नहीं हो पा रहे हैं।

क्रान्ति का अर्थ है विकास/उन्नति, बद्धमान, सर्वोदय, सुख, शान्ति की उपलब्धि। सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, यान्त्रिक, औद्योगिक, बौद्धिक, शैक्षिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि भेद से अनेक भेद हैं। परन्तु वहीं क्रान्ति यथार्थ से क्रान्ति है, जिससे अक्षय, अनन्त, शाश्वतिक सुखशान्ति की उपलब्धि हो। इसकी उपलब्धि आध्यात्मिक क्रान्ति से ही हो सकती है अतः आध्यात्मिक क्रान्ति ही यथार्थ से सर्वश्रेष्ठ क्रान्ति है, इसलिए शान्ति के लिए आध्यात्मिक क्रान्ति का परिज्ञान होना अनिवार्य है। आध्यात्मिक क्रान्ति के परिज्ञान के लिए आध्यात्मिक क्रान्ति के अग्रदृत का परिज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि क्रान्ति की जीवन्त प्रायोगिक प्रयोगशाला क्रान्तिकारी महापुरुष होते हैं। इसलिए क्रान्ति के बोलबाला युग में हमने इस पुस्तक क्रान्ति के अग्रदृतों के व्यक्तित्व किस प्रकार के होते हैं वर्णन किया तथा इसे लिपि-बद्ध करने का प्रयास आ, ब्रह्मद्वीने किया है।

आध्यात्मिक क्रान्ति के अनपूरक स्वरूप राजनैतिक, सामाजिक आदि क्रान्ति के अग्रदृतों का भी संक्षिप्त वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक का अध्ययन करके आधुनिक मानव को ज्ञात कर लेना चाहिए कि, यथार्थ क्रान्ति को लाने के लिए क्रान्तिकारी युगपुरुषों, नेताओं एवं क्रान्ति के इच्छुकों को किन-किन व्यक्तित्व एवं गतिविधियों को अपनाना चाहिए; उसका एक दिशा बोध इससे प्राप्त करना चाहिए। इस पुस्तक में मेरी धार्मिक शिष्या मधु, शिखा, रचना, उपासना, सरला (आयड) का योगदान रहा। अखिल जीव जगत् क्रान्ति के अग्रदृत (तीर्थकर) द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय तीर्थ का अनुकरण करते हुए अनन्त सुख को प्राप्त करें इसी शुभ कामना के साथ।

आचार्य कनकनन्दी

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृ.सं.
1.	शान्ति क्रान्ति के लिए विश्व-नेता का योगदान	1
2.	विषय प्रवेश	8
3.	दर्शन विशुद्धि - दृढ़-आस्था विश्वास रूपी सीढ़ी मोक्ष महल तक पहुँचाती है	15
4.	विनय सम्पन्नता - श्रेष्ठ जीवन जीने की कला	25
5.	शीलब्रतेष्वनतिचार-शील सदाचार से होता है-आत्मा का उत्थान	39
6.	अभीक्षणज्ञानोपयोग - सतत ज्ञान का अभ्यास दुःखों से दिलाये मुक्ति	48
7.	संवेग- संवेग के सरोवर में मुक्ति के कमल खिलते हैं	63
8.	शक्तिस्त्याग- स्व एवं पर का अनुग्रह होता है:त्याग-दान से	72
9.	शक्तितस्तपः -तप की आधारशिला-इच्छाओं का निरोध से	89
10.	साधु समाधि -मरण को मंगल बनाने के लिये जीवन में धर्म एवं ज्ञान की आवश्यकता	103
11.	वैव्यावृत्तकरण - आत्म उत्थान का प्रशस्त मार्ग - सेवाधर्म	122
12.	अहंत् भक्ति - अद्वा सहित भक्ति ही परमात्मा के अमृतद्वार को खोलती है	138
13.	आचार्य भक्ति - स्वयं के आचरण से दूसरों को आचारित करते हैं- आचार्य परमेष्ठी	151
14.	बहुश्रुत भक्ति-प्रजापुंज के अनुठे साधक-उपाध्याय परमेष्ठी	157
15.	प्रवचन भक्ति - प्रामाणिक प्रकृष्ट वचन ही प्रवचन है	167
16.	आवश्यकापरिहाण - अपने आवश्यक कर्तव्य पालन करने से ही नैतिक अधिकार प्राप्त होते हैं	175
17.	मार्ग प्रभावना - रत्नत्रय रूपी ज्योति से स्व-पर को भावित करने का कार्य करो	188
18.	प्रवचनवत्सलत्व - वात्सल्य संगठन हैं प्रभावना के सूत्र	198
19.	सोलह कारण - पूजा	209

१ शान्ति-क्रान्ति के लिए विश्व-नेता का योगदान

धर्म, सभ्यता एवम् संस्कृति का उद्गम, प्रचार-प्रसार, उन्नयन, क्रान्ति एवम् दृढ़ीकरण महापुरुषों से होता है। मनुष्य समाज एवम् पशु समाज दोनों समकालीन प्राचीन समाज होते हुए भी मनुष्य समाज उत्तरोत्तर सभ्यता एवम् संस्कृति की उन्नति करते हुए अविराम गति से आगे बढ़ता जाता है परन्तु पशु समाज प्रारम्भिक प्राचीन काल में जिस स्थिति में था आज भी सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से उसी स्थिति में है अथवा और पीछे भी हटा है। क्योंकि मनुष्य एक चिंतनशील, प्रज्ञावान, विवेकवान, प्रगतिशील समाज है। इस मानव समाज में कुछ ऐसे अलौकिक शक्ति प्रतिभा के धारी क्रांतिकारी महारुष हुए हैं जिनसे मानव समाज को आगे बढ़ने के लिए दिशा, उत्साह, प्रेरणा मिली है। यदि मानव समाज में प्रगतिशील क्रान्तिकारी महान् पुरुष नहीं होते तो शायद आज भी मानव समाज पशु समाज के समकक्ष ही होता पशु समाज में ऐसे कोई उन्नतिशील जीव नहीं होते, जिससे पशु समाज की उन्नति हो।

जिस प्रकार “न धर्मो धार्मिकैर्विना” अर्थात् धर्मात्मा को छोड़कर धर्म का अस्तित्व ही नहीं है, उसी प्रकार सभ्य सांस्कृतिक मानव को छोड़कर सभ्यता एवम् संस्कृति का अस्तित्व ही नहीं है। उन्नतशील जीवन्त सभ्यता एवम् संस्कृति के विग्रह स्वरूप महामानव जो आहार-विहार, आचार-विचार करते हैं वही सभ्यता एवम् संस्कृति है। मानव समाज विशेषतः अनुकरण प्रिय होने से वे महापुरुषों का अनुकरण करके, उनके पदचिन्हों पर यथाशक्ति कदम-कदम रखकर, आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करते हैं। प्राचीन भारतीय विचारक नीतिकारों ने कहा है....

यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेत्तरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

जो जो आचरण, श्रेष्ठ महापुरुष करते हैं वे वे आचरण अन्य जन अनुकरण करते हैं। महापुरुष जिनको प्रमाणित करते हैं, समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत करते हैं, समाज उसको प्रमाणित मानता है। व्यास देव ने विश्व के महाकाव्य महाभारत में भी कहा है-

‘महाजनो येन गता सः पंथा।’

महामानव जिस मार्ग में अपना दृढ़ उन्नतिशील पद को धारण करके आगे बढ़ते हैं, वही मार्ग दूसरों के लिये आदरणीय, अनुकरणीय, आदर्श पथ (मार्ग) बन जाता है। अर्थात् महापुरुष रत्नदीप स्तम्भ के समान स्वयं को प्रकाशित करने के साथ-साथ दूसरों को भी प्रकाश प्रदान करते हैं।

प्रत्येक देश-विदेश के इतिहास-पुराणों के पन्ने महापुरुषों की जीवन-गाथा से ही संजीवता प्राप्त किये हुए हैं। महापुरुषों की जीवन-गाथा यदि इतिहास-पुराणों से निकाल दी जाये तो इतिहासों के पन्ने निर्जीव कोरे कागज के समान रह जायेंगे। महापुरुषों के जीवन, चलते-फिरते जीवन्त इतिहास के सदृश्य हैं। ‘महापुरुषों से इतिहास बनता है किन्तु इतिहास से महापुरुष नहीं बनते हैं।’ महापुरुषों का जीवन निम्न प्रकार होता है—

चलते चलते राह है, बढ़ते बढ़ते ज्ञान।

तपते तपते सूर्य हैं, महापुरुष महान्॥

महापुरुषों के महा व्यक्तित्व से ही सभ्यता-संस्कृति एवं इतिहास को संजीवनी शक्ति मिलती है। प्रत्येक देश के महान् पुरुषों के पवित्र चरित्र आगामी पीढ़ी को मार्गदर्शन रूप में प्रस्तुत करने के लिये बड़े-बड़े ज्ञानी, इतिहास वेत्ता—महापुरुषों ने लिपिबद्ध करके रखे, जिसको इतिहास, पुराण, चरित्र, जीवनगाथा आदि नामों से पुकारा जाता है। जैन-धर्म में एक महान् ज्ञानी ऋषि, पुराण, इतिहास के वेत्ता आचार्य जिनसेन स्वामी ने एक महान् ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना की है, जिसका नाम आदि पुराण या महापुराण है। आदि पुराण भारतीय इतिहास ही नहीं बल्कि विश्व इतिहास का महान् कोष है। महाप्राज्ञ आचार्य श्री ने वृषभादि धर्म तीर्थ के नायक 24 तीर्थकर, राष्ट्र के अधिनायक भरतादि 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र आदि ऐतिहासिक महापुरुषों का जीवन चरित्र-चित्रण के माध्यम से इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, राजनीति, समाजनीति आदि-आदि का सुन्दर स्पष्ट विशद वर्णन किया है। स्वयं आचार्य श्री ने पुराण इतिहास एवम् आदि पुराण के बारे में वर्णन करते हुए निम्न प्रकार कहा है—

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्मन्महदाश्रयात्।

महद्विरुपदिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात्॥21॥

आदि पुराण प्रथम पर्व

वह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिये पुराण कहलाता है। इसमें महापुरुषों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़ने से महान कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिये इसे महापुराण भी कहते हैं।

कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुराणता।

महत्वं स्वमहिन्मैव तस्येत्यन्यैर्निरूप्यते॥22॥

प्राचीन कवियों के आश्रय से इसका प्रसार हुआ है। इसलिये पौराणिकता—प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्य से ही प्रसिद्ध है इसलिये इसे महापुराण कहते हैं। ऐसा भी कितने ही विद्वान् महापुराण की निरुक्ति अर्थ करते हैं।

महापुरुष संबन्ध महाभ्युदय शासनम्।

महापुराण मान्मात तत एतन्महर्षिभिः॥23॥

यह पुराण महापुरुषों से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय-स्वर्ग मोक्षादि कल्याणों का कारण है इसलिये महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं।

ऋषिं प्रणीतमार्षं स्यात् सूक्तं सूनतशासनात्।

धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्॥24॥

इतिहास इतीष्टं तद् इतिहासीदिति श्रुतेः।

इतिवृत्तमथैतिह्यमान्मायं चामनन्ति तत्॥25॥

यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। ‘इति इह आसीत्’ यहाँ ऐसा हुआ—ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषिगण इसे ‘इतिहास’, ‘इतिवृत्त’ और ‘एतिह्य’ भी मानते हैं।

पुराणमिति हा साख्यं यत्रोवाच गणाधिपः।

तत्किलाहमधीर्वक्ष्ये केवलं भक्तिचोदितः॥26॥

जिस इतिहास नामक महापुराण का कथन स्वयं गणधरदेव ने किया है उसे मैं मात्र भक्ति से प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्प ज्ञानी हूँ।

महापुराण संबन्ध महानायक गोचरम्।

त्रिवर्गफलं सन्दर्भ महाकाव्यं तदिष्वते॥29॥

प्रथम पर्व, आदि पुराण

स्वतर्णी।

उपर्युक्त दोनों पुरुष प्राग् ऐतिहासिक एवम् प्राग् वैदिक काल में हुए थे। क्योंकि ऋषभदेव का वर्णन वेदों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है और भरत चक्रवर्ती आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण प्रायः उनके समकालीन हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ऋषभदेव द्वारा इस युग के आदि में प्रतिपादित प्रथारित जैन धर्म वेदों से भी प्राचीन हैं अथवा कम से कम वैदिकालीन तो है ही। इससे और एक सिद्धान्त स्वतः सिद्ध होता है कि इस भूखण्ड का नाम शकुन्तला एवम् दुष्घन्त के पुत्र भरत के नाम पर नहीं हुआ है क्योंकि अनेक हिन्दु पुराण एवम् जैन पुराण में ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारत हुआ। वह प्रतिपादन स्पष्ट है इसे आगे स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। ऋषभदेव के पुत्र भरत इस युग के प्रथम चरण में होने के कारण एवम् शकुन्तला के पुत्र भरत पश्चात् काल में होने के कारण शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत नहीं हो सकता है।

युगादि पुरुष, धर्मतीर्थ प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव, उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के अनन्तर अनेक महापुरुष हुए हैं। जिनके कार्य कलाप प्रायः उपर्युक्त दोनों महापुरुषों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। इसलिये विस्तार के भय से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। विशेष जिज्ञासु इतिहास संबंधी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ महापुराण (आदि पुराण) हरिवंश पुराण, पद्म पुराण, पाण्डव पुराण आदि का अवलोकन करें। दोनों महापुरुष के अनन्तर अनेक करोड़ अरब वर्ष के बाद एक प्रसिद्ध धर्म क्रान्तिकारी महापुरुष हुए जिनका पवित्र नाम अरिष्टनेमि (नेमिनाथ तीर्थकर) है। वे प्रसिद्ध महापुरुष श्रीकृष्ण नारायण के चर्चेरे भाई थे। श्री कृष्ण, कौरव पाण्डवों के समकालीन थे। कौरव पाण्डवों के बीच जो महाभारत रूप महायुद्ध हुआ था वह एक ऐतिहासिक घटना है जिसे वर्तमान ऐतिहासिक विद्वान् भी मान्यता देते हैं। महाभारत तथा श्री कृष्ण ऐतिहासिक प्रसिद्ध होने से उनके समकालीन चर्चेरे भाई अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक पुरुष स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। अरिष्टनेमि का वर्णन केवल जैन साहित्य में ही नहीं परन्तु हिन्दुओं के प्रसिद्ध वेदादि में भी पाया जाता है। ऋषभदेव के बाद 20 तीर्थकर हुये थे। उनके 83650 वर्ष अनन्तर 23 वें तीर्थकर पाश्वर्नाथ हुए हैं जो कि अत्यन्त कठिन यातना रूपी परीक्षा से उत्तीर्ण होकर केवल्य ज्ञान को प्राप्त कर विहार के प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र

जो प्राचीनकाल के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।

केवल कुछ स्वार्थपर, सत्ता लोलुपी, निसृंश व्यक्तियों के द्वारा मानवीय सम्भवा, संस्कृति, धर्म, धन-जन, जीवन को विध्वंस करने वाले युद्ध-विग्रह-कलह-आक्रमण, अत्याचार, अनाचार का वर्णन यथार्थ में इतिहास नहीं है, यह तो इतिहास के लिए कलंक स्वरूप है। परन्तु महामानव की पवित्र, उदात्त, प्रेरणाप्रद पवित्र गाथा ही इतिहास है, जिसके माध्यम से मानव की पवित्र शिक्षा एवम् दिशा बोध होता है।

जिस प्रकार ग्रीक की प्राचीन सम्भवा एवम् संस्कृति के अध्ययन के लिये वहाँ के महान् दार्शनिक नीतिवान् आदर्श 'सुकरात्' 'प्लेटो', 'अरस्तू' आदि का जीवन चरित्र अध्ययन करना चाहिये उसी प्रकार प्राचीन भारतीय सम्भवा-संस्कृति, नीति, नियम को जानने के लिये प्रातः स्मरणीय पुण्यश्लोका ऋषभदेवादि तीर्थकर, भरतादि चक्रवर्तीयों का जीवन-चरित्र अध्ययन करना आवश्यक है। जैसे, भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के समय में 'महात्मा गांधी' कहने से 'भारत' तथा भारत कहने से 'महात्मा गांधी' का ग्रहण देश-विदेश के लोग करते थे उसी प्रकार प्रत्येक युग की सम्भवा-संस्कृति परिस्थिति का अध्ययन उस कालीन महापुरुषों के जीवन-चरित्र के अध्ययन से प्राप्त होता है।

भारत में सर्वप्रथम तीर्थकर ऋषभदेव हुए जिनसे केवल भारतीय ही नहीं परन्तु पृथ्वी की समस्त आदि सम्भवा-संस्कृति, धर्म, कला, कौशल, ज्ञान, विज्ञान, विद्या वाणिज्य, जीविकोपार्जनोपाय, राजनीति, समाजनीति आदि का उद्गम, प्रचार-प्रसार एवम् स्थापना हुई थी। इस युग के उपर्युक्त सम्पूर्ण सम्भवा आदि के सूत्रधार होने के कारण उनका नाम भी आदिनाथ, आदिब्रह्म, आदिपुरुष, युगादिपुरुष आदि तीर्थकर, कुलकर, आदि धर्म प्रवर्तक आदि से अभिहित हुआ। वे थे भगवान् धर्म क्रान्तिकारी युग पुरुष ऋषभदेव।

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ, श्रेष्ठ पुत्र भरत थे, जिनके पुण्य प्रताप पुरुषार्थ, शौर्य, वीर्य, राजनीति, प्रजापालन आदि गुणों के कारण इस देश का ही नाम 'अजनाभि' देश से भारतवर्ष रूप में विद्युत हुआ है। वे हैं स्वनाम धन्य ऋषभदेव के पुत्र, पुण्यभूमि भारतवर्ष के प्रथम प्रधान एक छत्राधिपति सम्राट् भरत

सम्प्रेद शिखर से मोक्ष पधारे थे। उनके नाम से तीर्थराज पर्वत का नाम पाश्वनाथ पर्वत प्रसिद्ध हुआ है। श्रीपाश्वनाथ तीर्थकर के बाद 250 वर्ष के अनन्तर सुप्रसिद्ध अन्तिम तीर्थकर वर्धमान महावीर हुए हैं। वर्धमान महावीर प्रसिद्ध महापुरुष करुणा के अवतार महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। दोनों महापुरुषों ने तात्कालीन, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक विषमता अन्याय, अत्याचार को दूर करने के लिये भागीरथ प्रयास के किये थे। भरी यौवन अवस्था में अतुल वैभव को तृणवत् त्याग कर कठोर आत्म साधन के माध्यम से स्वयं आध्यात्मिक ज्योति को प्राप्त करके तात्कालीन समस्त अन्धकार दूर किये थे। दोनों धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को पाप, अनैतिक, अधर्म, अनाचरणीय बताकर हिंसा के विरुद्ध अहिंसात्मक शांति पूर्ण महान क्रान्ति उत्पन्न किये थे जिससे यज्ञ में होने वाली पशु-हिंसा यहाँ तक कि नरबलि भी निषिद्ध हो गयी। हिन्दू धर्म में याज्ञिक क्रिया कलाप में होने वाली महान हिंसा इन दोनों महापुरुषों के कारण ही अधिकांश रूप से समाप्त हुई।

हिन्दू धर्म में यज्ञ में होने वाले हिंसात्मक थोथे क्रिया कलापों से ऊबकर एवं असारता को हृदयंगम करके तथा अहिंसा के समर्थ प्रचार-प्रसार क्षत्रिय तीर्थकरों के तथा महापुरुषों के प्रभाव में आकर हिन्दू धर्म में भी कुछ आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए। आध्यात्मिक साधना, ध्यान, मनन, चिंतन, मनइन्द्रिय-संयमन, आकिञ्चन आदि उपायों से ही स्व-पर इहलोक-परलोक एवं आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। इस सिद्धांत को पूर्ण रूप से समर्थन करके, आचरण करके, प्रसार करके भोले भ्रष्ट मानव समाज को सुपथ में लाने का अकथनीय भागीरथ प्रयास किये। यह सब उपर्युक्त विषयों का विवरण उपनिषद्, भागवत पुराण आदि से स्पष्ट प्रतिभासित होता है। उन क्रान्तिकारी महापुरुष में से महर्षि याज्ञवल्क्य, मैत्रेय, श्वेतकेतु, राजऋषि जनक, शुकदेव आदि का नाम अविस्मरणीय है।

उपनिषद् के लेखक प्रचार-प्रसारक एवं अनुकरण करने वाले महापुरुषों ने भी बाह्य आडम्बर क्रिया का अवलम्बन न लेकर दुनिया को आध्यात्मिक ज्योति प्रदान की। उन में अवधूत, हंस परमहंस, अलेख आदि अनेक भेद हैं। उच्च साधक बाह्य समस्त परिग्रह के साथ-साथ वस्त्र लंगोट मात्र का भी परित्याग कर बालकवत् पूर्ण दिग्म्बर रहते थे। सुप्रसिद्ध व्यासदेव के पुत्र आध्यात्मिक प्रेमी महर्षि शुकदेव आजन्म नग्न थे।

विश्व संस्कृति में भारतीय संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में

पूर्ण आध्यात्मिकता ही भारतीय संस्कृति का प्राण है। यदि भारतीय संस्कृति में से आध्यात्मिकता को निकाल दिया जाये तो वह निर्जीव हो जायेगी और आध्यात्मिक के मूर्तिमान स्वरूप भारतीय तत्व वेता ज्ञान-विज्ञान संम्पन्न ऋषि मुनि साधु सन्त होते हैं। अतः साधु सन्त ही भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। भारतीय संस्कृति मानें साधु संस्कृति है। जब तक हम साधुओं को आदर सम्मान की दृष्टि से नहीं देखेंगे; उनकी रक्षा, सेवा उनकी समृद्धि नहीं करेंगे तब तक हम भारतीय संस्कृति की सुरक्षा समृद्धि नहीं कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक साधु संत की संस्कृति होने के कारण भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिये, परिज्ञान के लिये साधुओं की पवित्र जीवन गाथा का अध्ययन अनिवार्य ही है। इस दृष्टिकोण को रखकर भारतीय सभ्यता, संस्कृति को जानने के लिए इस प्रकरण में भारतीय संस्कृति के उन्नायक, समर्थ प्रचारक एवं प्रसारक कुछ महापुरुषों के पवित्र-जीवन-चरित्र प्राचीन प्रामाणिक आचार्यकृत ग्रन्थों से कर रहे हैं। इन महापुरुषों के जीवन से उनके चरित्र, पवित्र आचरण के साथ-साथ सभ्यता-संस्कृति-धर्म नीति-नियम, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा, कला-कौशल आदि का परिज्ञान होता है। उनके पवित्र आदर्श चरित्र अध्ययन से अंतरंग में उनके जैसे बनने की अन्तः प्रेरणा स्वतः जागृत होती है। उसे प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रगतिशील मानव उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए उनके जैसे बन जाता है। यह ही पवित्र पुरुषों की पवित्र गाथा के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है। एक मराठी कवि ने कहा है-

महापुरुष होऊन गेले त्यांचे चारित्र पहा-जरा।

आपण त्यांचे समान व्हावे हा च सापडे बोध खरा॥

अनेक महामानव इस धरती पर हो गए हैं, उनके चरित्र के अवलोकन-अध्ययन से हम भी उनके जैसे बनें इसमें ही यथार्थ सारभूत ज्ञान है अर्थात् उनका चरित्र अध्ययन करके उनके सदृश होना ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

केवल मनोरंजन के लिये महापुरुषों के चरित्र के अध्ययन से विशेष लाभ नहीं होता है। महापुरुष के अध्ययन से यदि हम कुछ नैतिक, आध्यात्मिक उन्नति नहीं करते हैं तो हमारा अध्ययन एक मनोरंजन-कारी व्यसन रूप ही है। प्राचीनकाल में पवित्र पुरुषों के जीवन चरित्र का, विद्यापीठ, गुरुकुल, घर-घर में अध्ययन होता था। भारत के किशोर नवयुवक-नवयुवतियों, प्रौढ़, अबाल वनिता काल्पनिक अतिरंजित विषय वासना अन्याय अत्याचार का पोषण करने वाले नोवेल, तिलसी 7

आदि को पढ़कर कुपथगामी हो रहे हैं। वर्थार्थ से साहित्य उसे कहते हैं जिससे नैतिक सदाचार, विनय, अहिंसा सत्य-निष्ठा को पौष्टिक तत्व मिलें। परन्तु जिस साहित्य के माध्यम से कुशीलता, भ्रष्टाचार, उत्थृंखलता आदि की प्रेरणा मिलती है, वे सब कुशास्त्र एवं मानव समाज के दिए अहितकर, कलंक स्वरूप, विष मिश्रित भोजन के सदृश हैं। यदि घ्यास लगी है तो घ्यास शान्त करने वाले एवं पौष्टिक तत्व को देने वाले पानी का सेवन करना चाहिए। उसी प्रकार अध्ययन की घ्यास है तो सुसाहित्य का आस्वादन लेना चाहिए परन्तु जैसे विष या मद्य से घ्यास शान्त नहीं होती वरन् जीवन, स्वास्थ्य, नीति, धर्म नाश हो जायेगा उसी प्रकार अध्ययन की घ्यास को बुझाने के लिये कुसाहित्य का सेवन नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टिकोण को रखकर इस प्रकरण में महापुरुषों के प्रेरणाप्रद जीवन की विशिष्ट घटनाओं को प्रस्तुत कर रहे हैं।

2

विषय-प्रवेश

भोग-भूमि एवं कर्मभूमि के संगम समय में अर्थात् आध्यात्मिक युग के ब्रह्म मुद्दूर्त में विलासपूर्ण मनुष्य कुल के संस्थापक हिताकांक्षी मार्गःप्रदर्शक चौदह मनु महापुरुष हुए। उनके उपरान्त चौदहवें मनु नाभिराज के पुत्र धर्म के भावी नायक (कर्णधार) तीर्थकर (1) आदिनाथ हुए। उनके बाद (2) अजितनाथ (3) सभवनाथ (4) अभिनन्दननाथ (5) सुमतिनाथ (6) पद्मप्रभु (7) सुपाश्वनाथ (8) चन्द्रप्रभ (9) पुष्पदन्त (10) शीतलनाथ (11) श्रेयांसनाथ (12) वासुपूज्य (13) विमलनाथ (14) अनन्तनाथ (15) धर्मनाथ (16) शांतिनाथ (17) कुन्थुनाथ (18) अरहनाथ (19) मल्लिनाथ (20) मुनिसुव्रतनाथ (21) नमिनाथ (22) नेमिनाथ (23) पाश्वनाथ (24) वर्द्धमान ऐसे कुल 24 तीर्थकर हुए।

इस प्रकार इस युग के चतुर्थ काल में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक चौबीस तीर्थकर हुए। विश्व अनादि अनन्त है। इसलिये काल भी अनादि-अनन्त-गुणित है। सूक्ष्मरूप से ऋजुसूत्र नयापेक्षा, वर्तमान काल एक समय होते हुए भी स्थूल रूप से नैगमनयापेक्षा एक समय को आगे लेकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण एक कल्पकाल होता

है। उस कल्पकाल के दो भेद हैं (1) उत्सर्पिणी (2) अवसर्पिणी। इन दोनों काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में आध्यात्मिक युग में चौबीस-चौबीस तीर्थकर होते हैं। वर्तमान भरत क्षेत्र सम्बन्धी अवसर्पिणी काल में उपयुक्त चौबीस तीर्थकर हुए हैं। इसीप्रकार प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में भरत क्षेत्र सम्बन्धी चौबीस-चौबीस तीर्थकर होते हैं। अनादि काल से अभी तक अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी व्यतीत हो गये हैं। आगे भी अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों का परिवर्तन होगा। इसलिये अनन्त काल में इस भरत क्षेत्र में अनन्त चौबीस तीर्थकर हो गये और आगे भी अनन्त चौबीस तीर्थकर होंगे। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी अनन्त चौबीस तीर्थकर हो गये और आगे भी अनन्त चौबीस तीर्थकर होंगे। असंख्यत द्वीप-समुद्र सम्बन्धी मध्यलोक में (1) जम्बूद्वीप (2) धातकी खण्डद्वीप (3) अर्द्धपुष्कर द्वीप में मनुष्य निवास करते हैं। इन अङ्गाई द्वीप में पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत क्षेत्र होते हैं। उपर्युक्त प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी में चौबीस-चौबीस तीर्थकर होते हैं। विदेह क्षेत्र में शाश्वतिक आध्यात्मिक युग-कर्मयुग प्रवर्तन होने के कारण वहाँ पर प्रत्येक समय में अनेक तीर्थकर सतत धर्म प्रवर्तन करते रहते हैं। अङ्गाई द्वीप में पाँच महाविदेह होते हैं। एक-एक विदेह में बत्तीस-बत्तीस भरत ऐरावत के समान विस्तृत कर्मभूमि होती है। इस प्रकार अङ्गाई द्वीप में पाँच महाविदेह सम्बन्धी $160+5$ भरत + 5 ऐरावत = 170 कर्मभूमि हैं। यदि एक-एक क्षेत्र में एक-एक तीर्थकर विद्यमान रहकर धर्म प्रवर्तन करते हैं तो एक साथ एक काल में 170 तीर्थकर अधिक से अधिक अङ्गाई द्वीप में धर्म-प्रवर्तन करते हैं। विदेह में कम से कम 20 तीर्थकर विद्यमान रहते हैं। किन्तु भरत, ऐरावत क्षेत्र में धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक तीर्थकर के अभाव में अल्प या दीर्घकाल तक धर्म तीर्थ का विच्छेद हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के अभाव में अन्धकार फैल जाता है।

तीर्थकर के स्वरूप-

तीर्थकर एक धर्म-क्रान्तिकारी, साम्यवादी, अहिंसा-दया के अवतार समाज-सुधारक, रुद्धिवादी-मिथ्यापरम्परा, अन्धविश्वास आदि के उन्मूलक, प्रज्ञा के धनी, सत्योपासक, युगदृष्टा, युगपुरपुष, पुण्यश्लोका, महापुरुष होते हैं। कलिकाल सर्वज्ञ बहुभाषाविद, महाप्राज्ञ, वीरसेनाचार्य विश्व के अद्वितीय शास्त्र (ग्रन्थराज) ध्वलाग्रन्थ में तीर्थकर के लक्षण बताते हुए निम्नोक्त प्रकार कहे हैं-

सकल भुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिविरिष्टेः।

विधु धवत चामराणां तस्य स्थादै चतुःषष्टि॥144॥

जिनके ऊपर चन्द्रमा के समान धवल चौंसठ—चंवर ढुरते हैं, ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामी को श्रेष्ठ मुनि तीर्थकर कहते हैं।

तित्थयरो चदुणाणि सुरमहिदो सिञ्जिदव्व यधुवम्मि।

अणिगृहिद बल विरिओ तवोविद्याणम्मि उज्जमदि॥304॥

‘तित्थयरो’ तीर्थकरः तरंति संसारं येन भव्यास्तनीर्थ। केचन तरंति श्रुतेन गणधरै वलिंवन भूतैरति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते। तदुभय करणा तीर्थकरः अथवा ‘तिसु तिद्विदितितिथ’ इति व्युतपत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रलत्रयात्मकः उच्यते तत्करणातीर्थ करो भवेति। ‘चउणाणी’ मतिश्रुतावधिमनः पर्यय ज्ञानवान् ‘सुरमहिदो’ सुरैश्चतुःप्रकारैः पूजितः स्वर्गावतरण जन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणेषु। सिञ्जिदव्वगधुवम्मि नियोग भाविन्यां सिद्धावपि। तथापि ‘अणिगृहिय बल विरिओ’ अनुपम बल वीर्यः। ‘तवोविद्याणम्मि’ तपः समाधानो। ‘उज्जमदि’ उद्योग करोति।

जिसके द्वारा भव्य जीव संसार से तिरते हैं, वह तीर्थ है। कुछ भव्य श्रुत अथवा आलम्बनभूत गणधरों के द्वारा संसार से तिरते हैं। अतः श्रुत और गणधरों को भी तीर्थ कहते हैं। इन दोनों तीर्थों को जो करते हैं, वे तीर्थकर ‘अथवा’ तिसु तिद्विदिति तित्थं इस व्युत्पत्ति के अनुसार तीर्थ शब्द से रलत्रयरूप मार्ग को कहा जाता है। उसके करने से तीर्थकर होता है। वे मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यज्ञान के धारी होते हैं। स्वर्ग से गर्भ में आने पर जन्माभिषेक और पंचकल्याणक में चार प्रकार के देव उनकी पूजा करते हैं। उनको मोक्ष की प्राप्ति नियम से होती है फिर भी वे अपने बल और वीर्य को न छिपाकर तप के अनुष्ठान में उद्यम करते हैं।

तीर्थकरों के अवतारित होने के कारण —

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। इस न्यायानुसार मार्ग—भ्रष्ट, संत्रस्त, उन्मार्गामी, मनुष्यों के मार्ग प्रदर्शन करने के लिये जनकल्याण, जनउद्घार; साम्यवाद की स्थापना करने के लिए क्रान्तिकारी युगदृष्टा महामानव तीर्थकर जन्म लेते हैं। जैन रामायण, ‘पदमपुराण’ में महर्षि रविषेणाचार्य बताते हैं कि —

आचारेण विद्यातेन कुदृष्टिनां च संपदा।

धर्म ग्लानिं परिप्राप्तामुच्छयन्ते जिनोत्तमाः॥206॥

जब आचार—विचार, नैतिक आचार—शिष्टाचार आदि का अवमूल्यन (पतन) होता है, धात होता है, मिथ्या—पाखण्डी ढोंगी, दम्पी, आततायियों की श्री सम्पन्नि विभूति, शक्ति वृद्धि होती है तब सत्य, अहिंसा, प्रेम, मैत्री, करुणा, धर्म के संस्थापक युगदृष्टा, महामानव तीर्थकर उत्पन्न होते हैं और शाश्वत सत्य, अहिंसा, धर्म का उद्धार करते हैं।

गीता में भी युग पुरुषों के अवतार के विषय में निम्न प्रकार कारिका दी गई है —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥6॥

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥8॥

हे भारत ! धनुर्धर अर्जुन ! जब—जब धर्म मन्द पड़ जाता है, अधम का जोर बढ़ता है तब—तब मैं जन्म धारण करता हूँ। साधु, सज्जन, धर्मात्माओं की रक्षा, दुष्टों के निवारण—नाश तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिये युगों—युगों में जन्म लेता हूँ।

‘सच्चिदानंद स्वरूप नित्य’ निरंजन, अविकारी, सिद्ध, शुद्ध, परमात्मा जन्म जरा मरण से रहित होने के कारण जन्म—ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु भविष्य में मोक्ष जाने वाले अर्थात् भावी शुद्ध परमात्मा स्वर्ग से अवतरित होकर धर्म प्रचार करते हैं, अधर्म का विनाश करते हैं। वे इसी अपेक्षा, भगवान का अवतार होते हैं मानना चाहिये, इसी को जैन धर्म मैं गर्भ—जन्म कल्याणक कहते हैं।

तीर्थकर बनने का उपाय —

तीन लोक में अद्वितीय महान् धर्म—क्रान्तिकारी तीर्थकर पद किसी की कृपा, आशीर्वाद, वर, प्रसाद से प्राप्त नहीं होता। इस पद के लिये महान् पुरुषार्थ, विश्व मैत्री, विश्व—प्रेम, सर्वजीव हिताय सर्वजीव सुखाय की महान उदार भावना की परम आवश्यकता होती है। महान पवित्र उदात्त 16 प्रकार की भावनाओं एवं उच्चल जीवन के द्वारा कोई विरल पुण्य श्लोक महामानव इस तीर्थकर पद प्राप्त करने के लिये समर्थ होता है। भव्यात्मा सम्यादृष्टि साधक आत्म साधन के माध्यम से भगवत् पद को प्राप्त कर सकता है। परन्तु तीर्थकर पद को प्राप्त करने के लिये विश्व के अद्वितीय पुण्य कर्म तीर्थकर नाम कर्म प्रकृति को संचित करना

पड़ेगा। बिना तीर्थकर पुण्य प्रकृति के कोई भी तीर्थकर नहीं बन सकता है और धर्म तीर्थ का समर्थ प्रवर्तक, प्रचारक, पोषक, संरक्षक नहीं बन सकता है। यह पुण्य कर्म इतना, अपूर्व एवं संचय करने में कष्ट साध्य है कि 10 कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण काल में भरतक्षेत्र में केवल 24 ही तीर्थकर जन्म लेकर इस धरती को पवित्र बनाते हैं। तीर्थकर बनने के लिये विशेषकर पूर्वभव का संस्कार, पुण्य, विश्व मैत्री, सद्भावना, सम्यग्दर्शन आदि की प्रबल प्रेरणा चाहिये। तीर्थकर बनने के लिये पवित्र 16 कारण भावनाओं की आवश्यकता होती है।

घोडश कारण भावना –

आह, किमेतावानेव शुभनाम्न आस्त्रविधिरुत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—
यदिदं तीर्थकर नामकर्मनन्तानुपम प्रभावमचिन्त्य विभूति विशेष कारणं त्रैलोक्यं विजयकं
तस्यास्त्र विधि विशेषोऽस्तीति।

जो यह अनंत और अनुपम प्रभाव वाला तीर्थकर नाम कर्म है।

दर्शन विशुद्धिर्विनय सम्पन्नता शीलब्रतेष्वनतीचारोऽभीक्षणज्ञानोपयोग संवेगौ।
शक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिवैच्यावृत्त्यकरणमहं दाचार्यबहु श्रुत प्रवचन
भक्तिराश्यकापरिहाणिर्मार्ग प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6

दर्शन विशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों का अतिचार-रहित पालन करना, ज्ञान में सतत् उपयोग, सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप, साधु-समाधि, वैच्यावृत्त्यकरण, अरिहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओं को नछोड़ना, मोक्ष मार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये तीर्थकर नामकर्म के आस्त्रव के कारण हैं।

(1) दर्शन विशुद्धि—

जिनेन भगवताऽर्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचि दर्शनविशुद्धिः
तस्या अष्टावंगानि निशांकितत्वं निःकांक्षिताविचिकित्सा विरहिता अमृढदृष्टितौ
उपवृण्हण रितीकरणं वात्सल्य प्रभावना चेति।

जिन भगवान अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ रूपरूप, मोक्ष मार्ग पर रुचि रखना दर्शन विशुद्धि है। उसके 8 अंग हैं। (1) निःशक्तितत्व (2) निःकांक्षित्वा (3) निर्विचिकित्सत्व (4) अमृढदृष्टिता (5) उपवृण्हण (6) रितीकरण (7) वात्सल्य (8) प्रभावना।

(2) विनय सम्पन्नता –

सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोऽयवृत्त्या सत्कार आदरो
विनवरतेन सम्पन्नता विनयसम्पन्नता।

सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण
द्वारा आदर-सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनय सम्पन्नता है।

(3) शील व्रतों का अतिचार रहित पालन करना –

अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधावर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः
शीलव्रतेष्वनतीचारः।

अहिंसादिक व्रत है और इनके पालन करने के लिये क्रोधादिक का त्याग करना शील है। इन दोनों के पालन करने में निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रतानतीचार है।

(4) ज्ञान में सतत उपयोग –

जीवादि पदार्थ स्वतत्व विषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्षणज्ञानोपयोग।

जीवादि पदार्थ रूप स्वतत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर लगे रहना अभीक्षणज्ञानोपयोग है।

(5) सतत संवेग –

संसार दुःखान्तियभीरुता संवेगः।

संसार के दुःखों से निरन्तर डरते रहना संवेग है।

(6) शक्ति के अनुसार त्याग –

त्यागो दानम् तत्त्विधिम् आहारदानमभयदानं ज्ञानदान चेति। तच्छक्तितो
यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते।

त्याग दान है। वह तीन प्रकार का है— आहार दान, अभय दान और ज्ञान दान, उस शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक देना यथा शक्ति त्याग है।

(7) शक्ति के अनुसार तप –

अनिगृहित वीर्यस्य मार्गाविरोध कायक्लेशस्तपः।

शक्ति को नछिपाकर मोक्ष मार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप है।

(8) साधु समाधि –

यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीसते बहूपकारत्वात्थाऽनेक
द्रवतशील समृद्धस्य मुनेरतपसः कुतश्चित्प्रसृहे समुपस्थिते तत्सन्धारणं समाधिः।

जैसे भाण्डार में आग लग जाने पर भाण्डार बहुत उपकारी होने से आग को शान्त किया जाता है इसी प्रकार अनेक प्रकार के व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुये किसी कारण से विघ्न के उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना शान्त करना साधु समाधि है।

(9) वैयावृत्य करना -

गुणवद् दुःखोपनिपाते निरवधेन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्
गुणी पुरुष के दुख आ पड़ने पर निर्वाष विधि से उसका दुःख दूर करना वैयावृत्य है।
अरिहंत आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति-

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भाव विशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।

(10) अरिहंत भक्ति -

अरिहंत भगवान में भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, समर्पण भाव रखना अरिहंत भक्ति है।

(11) आचार्य भक्ति -

धर्माचार के प्रति अनुराग की भावना रखना आचार्य भक्ति है।

(12) बहुश्रुत भक्ति -

जो ज्ञान, विज्ञान के धनी हैं इसी प्रकार निर्गन्ध तपोधन उपाध्यायत्री (अध्यापक) के प्रति भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना बहुश्रुत भक्ति है।

(13) प्रवचन भक्ति -

सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी भगवान के प्रकृष्ट वचनों के प्रति भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना प्रवचन भक्ति है।

(14) आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना -

पण्णामवश्यक क्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।

इन आवश्यक क्रियाओं का यथा समय करना आवश्यक परिहाणि है।

(15) मोक्ष मार्ग की प्रभावना -

ज्ञानतपोदानं जिनपूजा विधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना।

ज्ञान, तप, दान और जिनपूजा इनके द्वारा धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है।

(16) प्रवचनवात्सल्य-

बत्से धेनुवत्स धर्मणि स्नेहः प्रवचनवात्सल्यम्। तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यक् भाव्यमानानि व्यस्तानिसमस्तानि च तीर्थकर नामकर्मास्त्रव कारणानि प्रत्येतव्यानि।

जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधार्मियों पर स्नेह रखना प्रवचनवात्सल्य है। ये सब सोलह कारण हैं। यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्म के आस्त्रव के कारण होते हैं और समुदायरूप से सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्म के आस्त्रव के कारण हैं।

मंगलमय पञ्च कल्याणक -

ऊपर वर्णित महती 16 भावनाओं से जो महापुरुष भावित हो (जो हैं) वे आगे जाकर उन भावनाओं के फलस्वरूप तीनों लोक के उपकारी धर्म तीर्थ के प्रवर्तक 5 कल्याणक से मंडित तीर्थकर होते हैं।

(1) गर्भ कल्याणक (स्वर्गावतरण) (2) जन्म कल्याणक (3) दीक्षा कल्याणक (परिनिष्कमण) (4) केवलज्ञान कल्याणक (बोधि लाभ) (5) मोक्ष कल्याणक।

इस प्रकार कल्याणक 5 होते हैं। जो कल्याणमय, अभ्युदय सूचक मंगलमय विशेष असाधारण महत्त्वपूर्ण घटना होती है उसको कल्याणक कहते हैं।

3

दर्शन विशुद्धि

दृढ़ आस्था-विश्वासस्त्वपी सीढ़ी मोक्ष महल तक पहुँचाती है

(उदयपुर) षोडश कारण पर्व के अवसर पर धर्मसभा को संबोधित करते हुए वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनंदी जी गुरुदेव ने कहा कि देश-विदेश में अनेकों प्रकार के पर्व होते हैं। भारत देश धर्मप्रधान देश होने के कारण यहाँ धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक अनेकों प्रकार के पर्व मनाये जाते हैं। षोडशकारण, अष्टाहिका, पर्यूषण आदि धार्मिक पर्व हैं, 26 जनवरी 15 अगस्त आदि राष्ट्रीय पर्व हैं। होली, दीपावली रक्षाबंधन आदि सामाजिक पर्व हैं। तीर्थकर भगवान् के पंचकल्याणक व्यक्तिगत धार्मिक पर्व हैं। षोडशकारण पर्यूषण ये पर्व शाश्वतिक अनादि निधन पर्व हैं। इस पर्व के बराबर व्यापक, सार्वभौम, आध्यात्मिक पर्व अन्य कोई दूसरा नहीं है। क्योंकि अन्य पर्व सीमाओं से बँधे हुए हैं। ये पर्व अनादि अनंत हैं, सादि सांत नहीं हैं। क्योंकि संसार, मोक्ष, मोक्ष की प्रक्रिया अनादि अनंत है। जिस प्रकार अशुद्ध सोने को 16 ताव देकर शुद्ध कुंदन बनाया जाता है उसी प्रकार षोडश कारण भावनाओं से जीव तीर्थकर सिद्ध बनता है। अन्य

व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है लेकिन तीर्थकर नहीं बनता है। एक युग में तीर्थकर 24 ही होते हैं। ऐसे क्यों? मोक्ष जाना कथंचित् तीर्थकर बनने से सरल है। धार्मिक प्रचार-प्रसार करने वाले नेता कम होते हैं उनके अनुयायी अधिक होते हैं। इसीप्रकार तीर्थकर धर्मतीर्थ के नेता होते हैं। धर्म, समाज की जितनी भी गंदी, निकृष्ट, अमानवीय रुढ़िगत परम्परायें हैं उन सभी परम्पराओं को तीर्थकर पहले तोड़ते हैं। मार्ग भ्रष्ट, उन्मार्गगामी मनुष्यों के मार्ग प्रदर्शन करने के लिए, साम्यवाद की स्थापना करने के लिए क्रांतिकारी युगदृष्टा महामानव के रूप में तीर्थकर जन्म लेते हैं। जैन रामायण 'पद्मपुराण' में रविषेणाचार्य ने बताया है कि

आचारेण विधातेन कुदृष्टिनां च संपदा।

धर्म गतान्ति परिप्राप्तामुच्छयन्ते जिनोत्तमाः॥

जब नैतिक आचार विचार, शिष्टाचार आदि का पतन होता है। मिथ्या, पाखण्डी, ढोंगी, आताताईयों की सम्पत्ति, विभूति शक्ति में वृद्धि होती है तब सत्य, अहिंसा, प्रेम, मैत्री, करुणा, धर्म के प्रचारक महामानव तीर्थकर उत्पन्न होते हैं, और शाश्वत सत्य, अहिंसा, धर्म का उद्धार करते हैं। गीता में भी युगपुरुषों के अवतार के विषय में यही बात ही है।

यदा-यदा हि धर्मस्य गतानिर्भवति भारतः।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे - युगे॥

हे अर्जुन! जब-जब धर्म मंद पड़ जाता है, अधर्म का जोर बढ़ता है तब-तब मैं जन्म धारण करता हूँ, साधु, सज्जन, धर्मत्माओं की रक्षा, दुष्टों के निवारणार्थ तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए युगों-युगों में जन्म लेता हूँ। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में भी कहा है कि जब-जब इस धरती पर अन्याय, अत्याचार, पापाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकता का साम्राज्य फैलता है तब अवतरित पुरुष जन्म लेते हैं। इसी प्रकार जैन सिद्धान्तानुसार धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु क्रांतिदृष्टा महामानव के रूप में तीर्थकर अवतरित होते हैं। हालाँकि अन्य सामान्य केवली भी अनेक होते हैं लेकिन वे तीर्थकर भगवान् के समान् कार्य नहीं कर सकते जबकि सामान्य केवलियों के और तीर्थकर भगवान् के अनंत दर्शन अनंतसुख, अनंतज्ञान,

अनंतवीर्य में कोई अन्तर भेद नहीं है। फिर भी तीर्थकर के समवशारण में अन्य सभी केवली चुप रहते हैं। केवल तीर्थकर भगवान् की ही वाणी खिरती है। भले ही उनके पास अनंतज्ञान, गंधकुटी आदि सब कुछ हैं। जिस प्रकार आकाश में सूर्य होने पर तारे दिखाई नहीं देते उसी प्रकार तीर्थकर भगवान् और सामान्य केवली में अंतर होता है।

षोडश कारण भावनाओं का रहस्य समझना होगा क्योंकि षोडश कारण भावनाओं का विशेष ही महत्व है। षोडश कारण भावनाओं से तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। वे तीर्थकर भगवान् तीन लोक के जीवों को प्रभावित करते हैं। यहाँ तक कि जब तीर्थकर भगवान् का जन्म होता है तब एक पल को असह्य वेदना वाले नारकी जीवों को भी शांति का अहसास हो जाता है। अनंत, अनुपम प्रभाव वाला तीर्थकर नामकर्म है। जिनके सौधर्म इन्द्र जैसे 100 इन्द्र भूत्य, भक्त होते हैं जो हमेशा सेवा में तत्पर रहते हैं। समवशरण में रलों की धूलि होती है। तीर्थकरों का अपार पुण्य होता है जो कि षोडश कारण भावनाओं का फल है। तीर्थकर धर्म क्रांतिकारी, साम्यवादी, अहिंसा, दया, क्षमा, करुणा के अवतार, समाज सुधारक, रुद्धिवादी-मिथ्या परम्परा, अंध विश्वास आदि के नाश करने वाले, ऋतम्भरा प्रज्ञा के धनी, सत्य उपासक, युगदृष्टा, युगपुरुष महापुरुष होते हैं। ये कितनी साधना-तप-त्याग-तपस्या, संयम, नियम करते होंगे जो कि तीन लोक के जीव इनसे प्रभावित होते हैं, इन्हीं सत्ता, संपत्ति, विभूति मिलती है। जबकि आज एक छोटे से राज्य का कोई नेता बुलटप्रूफ में रहकर, अनेकों सुरक्षाकर्मियों के बीच रहकर राज्य संचालन करता है तो हम उसे कितना भाग्यशाली, पुण्यशाली मानते हैं। साधना, संयम में बहुत बड़ी शक्ति होती है। महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में एक बार एक लेख लेकर मंच पर भाषण करने गये तो उन्हें पसीना-पसीना आ गया, घबरा गये। वह इतने डरपोक, कायर, दब्बू थे कि शादी होने के बाद तक छत पर रातको अकेले पेशाब करने नहीं जाते थे। वही महात्मा गाँधी आगे चलकर सत्य-न्याय की साधना के बल पर उनकी एक आवाज एटमबम, बंदूक की तरह होती थी। उन्होंने कभी लाठी या कटु शब्दों का भी प्रयोग नहीं किया, उन्हें जूते, चप्पलों से पीटा गया, जेल में बंद किया गया लेकिन सत्य-अहिंसा, न्याय की साधना के बल पर उनके अंदर अपार दृढ़ शक्ति आती गयी। उस शक्ति के कारण अंग्रेज लोग भी डरते थे। जो साहसी होता है वह निर्भीक होता है। उसकी

साहसिकता, निर्भीकता का प्रभाव हर किसी पर पड़ता है। आज के नेता बुलटप्रफ में बंद रहते हैं, अनेकों सुरक्षाकर्मियों के बीच रहते हैं लिखित भाषण भी डरते डरते करते हैं इसीलिए जनता के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रभाव पड़ेगा भी कैसे? उल्टा तो हो रहा है— जो जनता के सुरक्षाकर्मी बने हैं, उल्टी जनता ही उनकी सुरक्षा कर रही है।

तीर्थकर बनने के लिए महान् पुरुषार्थ, विश्वमैत्री, विश्वप्रेम सर्वजीव हिताय-सर्वजीव सुखाय की महान् उदार भावना की आवश्यकता होती है, तब कहीं जाकर तीर्थकर बन पाते हैं। केवल अष्ट द्रव्यों से सोलहकारण की पूजन करने या माला गिनने से तीर्थकर नहीं बन जाते। सबसे पहले उन भावनाओं को अपने आचरण में क्रियान्वित करना होगा। सबसे पहली दर्शन विशुद्धि भावना हैं। यह दर्शन विशुद्धि भावना अन्य 15 भावनाओं को अपने में समावेश किये हुए हैं। धबला ग्रंथ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने बताया है कि जो एक पहली दर्शन विशुद्धि भावना से युक्त है वह 16 भावनाओं से भी युक्त है। यह कैसे? तो जिसप्रकार चावल (भात) पकाते हैं। उस भात को पकाने के लिए अग्नि, बर्तन, पानी व्यक्ति सभी साधनों की आवश्यकता होती है। एक साधन के अभाव में चावल नहीं पक सकता उसी प्रकार सभी 16 भावनायें जबतक परस्पर में संयुक्त रूप में नहीं होगी तीर्थकर नहीं बन सकते। आज मैं पहली दर्शन विशुद्धि भावना के बारे में संक्षिप्त से प्रकाश डालूँगा। दर्शन+ विशुद्धि। दर्शन यानि श्रद्धा, रुचि प्रतीति, आस्था, विश्वास। जिसका विश्वास दृढ़ नहीं वह न्याय, कर्तव्यपालन आदि बातों को भी नहीं जान सकता। केवल अंधों की तरह मिथ्या, रुद्धिगत मान्यताओं का अनुकरण करता रहेगा। इस संसार में अधिकाँश व्यक्ति आंख वाले अंधे हैं। विवेक रुपी नेत्रों वाले तो विरले ही हैं। यह विवेक ही सम्यक् दर्शन है। जबतक हमारा श्रद्धान् परिपक्व नहीं होगा तब तक लुढ़कने वाले लोटे की भाँति हम संसार में चारों गतियों में इधर-उधर लुढ़कते रहेंगे। आस्था हीन व्यक्ति की दशा गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास जैसी होती है। उसका मन एकाग्र नहीं हो पाता है। पेण्डुलम की तरह गति करता रहता है। दृढ़ विश्वास, सम्यक् आरथा होने पर ही दर्शन विशुद्धि भावना उत्पन्न होती है। उस सम्यक् आरथा का वर्णन रलकरण्ड श्रावकाचार के अंतर्गत आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने किया है कि—

श्रद्धाना परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोठमष्टाऽग्नं, सम्यग्दर्शनमस्यम्॥

अर्थात् — जो देव, शास्त्र, गुरु को मोक्ष का कारणभूत मानकर उनका आठ ग्रन्थ सहित, तीन मृढ़ता रहित, आठ मद रहित दृढ़ विश्वास करता है वह सम्यक् वृद्धि होता है।

सत्यनिष्ठा, दृढ़ आरथा ही परमार्थ तत्व का मार्ग दर्शन कराती है। इसीलिए राजा हरिशचंद्र ने भी कहा था—

चंद्र टलै सूरज टलै, टलै जगत् व्यवहार।
पर दृढ़ ब्रत हरिशचंद्र का, टलै न सत्य विचार॥

चन्द्रमा टल जाये, सूर्य टल जाये, जगत् का व्यवहार बदल जाये अर्थात् अग्नि शीतल हो जाये, सूर्य शीतल हो जाये, चन्द्रमा ऊष्ठा हो जाये, लेकिन मेरा सत्य पृथग् मेरे कभी भी पग विचलित न होवें। सत्य सभी रुद्धि, मिथ्या, स्वार्थ, संकीर्ण भावनाओं का नाश करके न्याय, निष्पक्ष, परमार्थ, उदार, विशाल भावनाओं को प्रवृत्ति दिलाता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति ना तो प्रशंसा से खुश होता है ना ही निंदा ही डरता है। वह सत्य की डगर पर निर्भीकता, साहसिकता के साथ चलता है। जो सत्यनिष्ठ होगा वह आठ प्रकार के मद एवं तीन मृढ़ताओं से रहित होगा। वह घण्ट— मान् — अभिमान नहीं करेगा। लेकिन दुष्ट, आतातायी, पापाचारी, स्वार्थी मनुष्यों के आगे अपने स्वाभिमान को कभी नहीं झुकायेगा। क्योंकि सच्चे सत्यनिष्ठ विवेकी की यही पहिचान है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क मनुष्य के पास ही है। इतना विशाल, श्रेष्ठ मस्तिष्क सौर्धम् इन्द्र के पास भी नहीं है तो क्या यह मरतक हर किसी के आगे झुक जायेगा? विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी का राजा चंद्रप्रभ अपने पुत्र चंद्रशेखर को राज्य देकर परोपकार भगवान् की वंदना भक्ति के लिए गुप्ताचार्य गुरु के समीप क्षुल्लक बन गये। एक समय वह क्षुल्लक वंदना भक्ति हेतु उत्तर मथुरा गये। जाते समय उन्होंने गुरु गुप्ताचार्य को पूछा कि क्या किसी से कुछ कहना है। गुरुदेव ने कहा— सुव्रत मुनि को वंदना और रेवती रानी को आशीर्वाद कहना। क्षुल्लकजी ने 4-5 बार पूछा कि क्या किसी और को कुछ कहना है? लेकिन गुरुदेव ने वही कहा। फिर क्षुल्लकजी ने गुरुदेव को याद दिलाया कि वहाँ 11 अंग के धारक भव्य सेनाचार्य एवं अन्य धर्मात्मा श्रावकवृन्द भी तो हैं क्या उनको कुछ नहीं कहना? लेकिन गुरुदेव ने कुछ नहीं कहा तब क्षुल्लक

जी को दाल में कुछ काला-नजर आने लगा। उन्होंने सोचा गुरुदेव की बात की मुझे परीक्षा करके देखनी चाहिए। उन्होंने मथुरा पहुँचकर सुब्रत मुनि की बनना की। सुब्रत मुनिने परम वात्सल्य भाव दिखाया। उसके बाद क्षुल्लकजी भव्यसेनाचार्य के पास पहुँचे। उन्होंने कुछ बात भी नहीं की और शौच के लिये चल दिये तो क्षुल्लकजी ने अपने विद्याबल से उनके कमण्डलु का पानी सुखा दिया एवं हरी हरी धास से सब मार्ग आच्छादित कर दिया। भव्यसेनाचार्य ने देखा यहाँ मुझे कोई देख तो नहीं रहा है इसीलिये वे हरी धास पर ही चलते रहे एवं जब शुद्धि का समय आया तो देखा कमण्डलु में पानी भी नहीं है तो उन्होंने पास के तालाब से कच्चा, अनछना ही पानी लेकर शुद्धि कर ली। इन सब क्रियाओं को देखकर उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लकजीने उनका नाम अभव्यसेनाचार्य रख दिया।

सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि की यही पहचान है। जो सम्यक्दृष्टि होगा वह बात्य दिखावे को नहीं देखता वह अन्तरंग में झाँकता है, विवेक से काम लेता है। मिथ्यादृष्टि बात्य जगत् को देखता है। बात्य को दिखाने में वह विवेक-अविवेक भूल जता है। उसके बाद क्षुल्लक जी ने रेवती रानी की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने पूर्व दिशा में पद्मासन पर स्थित, चार मुखों से सहित, यज्ञोपवीत आदि से सहित, देवदानवों से वंदित ब्रह्मा का रूप दिखाया। राजा-प्रजा सभी लोग वहाँ गये। लेकिन रेवती रानी सभी के कहने पर भी नहीं गयी। वह कहने लगी यह ब्रह्मा नामक देव कौन है? फिर दक्षिण दिशा में गरुड़ के ऊपर आरुड़ चार भुजाओं से सहित, गदा शंख आदि के धारक नारायण का रूप दिखाया। रानी बोली अंतिम नारायण श्रीकृष्ण तो हो गये अब ये नारायण कहाँ से आ गया? जिनवाणी में 9 नारायण से अधिक होते ही नहीं इसीलिए यह कोई मायावी नारायण है। क्षुल्लकजी ने जब देखा रानी नहीं आयी तो उन्होंने पश्चिम दिशा में बैल पर आरुड़, जटाजूट, पार्वती से सहित शंकर का रूप बनाया। रेवती रानी फिर भी नहीं गयी क्योंकि अन्तिम शंकर हो चुके थे। फिर क्षुल्लक जी ने उत्तर दिशा में समवशरण के मध्य में आठ प्रतिहार्यों से सहित-सुर-नर-विद्याधर, मुनियों से वन्दित तीर्थकर देव का रूप बनाया। अब तो राजा-प्रजा रानी से समवशरण जाने के लिए कहने लगे हैं देवी! अब तो तुम्हारे श्री भगवान् आ गये अब तो चलो। रानी ने कहा 24 तीर्थकर तो हो गये। अब 25वाँ तीर्थकर का समवशरण कहाँ से आ गया। जिनागम में कहा है 9 नारायण ही होते हैं, रुद्र 11 ही होते हैं, तीर्थकर 24 ही होते हैं। जिनागम की बात कभी

ही नहीं होती चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जाये पूर्व में छिप जाये, सुमेरु पर्वत तिल जाये लेकिन जिनेन्द्र देव द्वारा कही गयी वाणी त्रिकाल में असत्य, मिथ्या नहीं हो सकती। यह कोई मायावी है। जब क्षुल्लक ने देखा नगर की सम्पूर्ण राजा-प्रजा आ गयी लेकिन रानी नहीं आयी तो उसने अगले दिन एक वृद्ध, रोगी क्षुल्लक का रूप बनाया और आहार चर्या हेतु रानी के द्वार पर आ गया। रानी ने विनय भक्ति पूर्वक क्षुल्लकजी का पङ्गाहन किया भक्तिपूर्वक आहार कराया। जब क्षुल्लकजी ने आहार कर लिया आहार करके तुरंत ही वहाँ पर बदबुदार उल्टी (बग्न) कर दिया। रानी ने बमन की सफाई की और अपने भाग्य को दोष देती ही अपनी आलोचना करने लगी कि हाय! मैंने प्रकृति के विरुद्ध अपथ्य आहार लिया। रानी के ऐसे वचन सुनकर क्षुल्लक जीने अपनी माया समेट कर वास्तविक रूप धारण कर लिया और गुप्ताचार्य गुरुदेव का आशीर्वाद कहा। और सभी लोगों के बीच उसकी अमूढ़दृष्टि भी खूब प्रशंसा की। यह सच्चा सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन के अंतर्गत 8 अंग गर्भित हैं। सत्यनिष्ठ व्यक्ति किसी से कहीं भी नहीं। सुकरात, मीराबाई, भगतसिंह आदि को जहर पिलाया, फँसी पर चाला लेकिन वे सत्य से नहीं डिगे और हँसते-हँसते तलवार-काँटों को भी फँलाला की तरह स्वीकार किया। सम्यक्दर्शन का मुख्य और पहला अंग निशंकित अंग है। यथावरिथत वस्तु का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है। इस मोक्षमार्ग में लोहे की बनी तलवार की चमक के समान अचल-अडोल श्रद्धान करने को निशंकित अंग कहते हैं। जो शंका करता है वह विनाश को प्राप्त होता है। मनोविज्ञान के अनुसार जो अधिक शंका करता है उसकी ग्रंथियों से विषाक्त प्राप्ति निकलता है। जिससे सारा शरीर विषाक्त, दूषित हो जाता है। जीवित शरीर की पृतक के समान हो जाता है। आज के लोग शंका करते हैं कि मुनि नहीं होते जबकि पंचमकाल के अंतिम समय तक मुनि रहेंगे। अभी भी इस भरतक्षेत्र से पारकर 123 जीव विदेह क्षेत्र से मोक्ष जायेंगे। पुण्य हेय होता है। जबकि पुण्य के बिना मोक्ष भी नहीं मिल सकता है। शुभ-अशुभ-शुद्ध में तीन चीजें हैं। जबकि शुभोपयोग तो आज के समय में है नहीं केवल शुभोपयोग - अशुभोपयोग है जब पुण्य को हेय मानते हैं तो शुभोपयोग तो करेंगे नहीं फिर बचा क्या? अशुभोपयोग ही तो करेंगे। स्वयं दूबते हैं दूसरों को डुबोते हैं।

सम्यक्दर्शन का दूसरा अंग निकांक्षित अंग है। विषय भोगों की इच्छा को आकांक्षा

सोलह काशण भावना

कहते हैं। सम्यक्‌दृष्टि किसी प्रकार की लौकिक व परलौकिक आकांक्षा नहीं रखता। उसके मन में इन्द्रिय भोगों के प्रति इच्छा नहीं होती। वह बाहरी सुविधाओं को क्षणिक संयोग मात्र मानता है। उसकी दृढ़ मान्यता होती है कि संसार के सारे संयोग कर्मों के आधीन हैं, नाशवान् हैं। पाप उदय होते ही एक ही क्षण में धनवान से निर्धन, रूपवान से कुरुप, विद्वान से पागल, राजा से रंक हो जाता है। संसार में किसी का भी सुख शाश्वत नहीं है। यह सब समझकर वह सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहता है। ऐसी भावना ही निकांक्षित भावना है।

सम्यक्‌र्क्षण की तीसरी भावना निर्विचिकित्सा भावना है। इसका अर्थ है घृणा या ग्लानि नहीं करना। सम्यक्‌दृष्टि जीव बुरी आकृतियों को देखकर घृणा नहीं करता अपितु हमेशा गुणों का आदर करता है। वह जानता है कि यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र अशुचि है, गुणों के द्वारा इसमें पवित्रता आती है। वह दीन-हीन, दुःखी-दरिद्र, अनाथ, रोगियों के शरीर को देखकर घृणा नहीं करता बल्कि प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करता है। वह पदार्थ के बाहरी रूप पर दृष्टि न देकर उसके आंतरिक गुणों पर दृष्टि देता है। इस अन्तरमुखी दृष्टि के कारण ही वह शरीर के ग्लानि जनक रूप से विमुख हो उसके गुणों से प्रीति करता है। जैसा कि रेवती रानी ने क्षुल्लक जी की उल्टी से घृणा नहीं की बल्कि उनके रत्नत्रय के प्रति श्रद्धा भक्ति की और स्वयं की आलोचना की।

अमूढ़दृष्टि — मूढ़ता मूर्खता को कहते हैं। सम्यक्‌दृष्टि विवेकी होता है। वह अपने विवेक व बुद्धि से सत्य-असत्य, हेय-उपादेय, हित-अहित का निर्णय करके अपनाता है। वह अंथ, श्रद्धालु, नहीं होता। वह सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को ही बहुमान देता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुमार्ग गामियों के वैभव, सत्ता को देखकर प्रभावित नहीं होता न ही उनकी निंदा, प्रशंसा करता है, माध्यरथ भाव रखता है।

अपगूहन अंग — सम्यक्‌दृष्टि गुणग्राही होता है। वह अपनी साधना के प्रति जागरूक होता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थिति, अज्ञान, प्रमाद के कारण किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो जाये तो वह उसे सबके बीच प्रकट नहीं करता, अपितु एकांत में समझाकर उसे दूर करने का प्रयास करता है। जैसे बाजार में अनेक वस्तुयें होती हैं लेकिन हमारी दृष्टि उसी वस्तु पर जाती है जिसकी हमें जरुरत है। वैसे ही सम्यक्‌दृष्टि को गुण ही गुण दिखाई देते हैं। अपने अंदर अनेकों गुण रहते हुए भी अपनी कभी प्रशंसा नहीं करता बल्कि अपने दोष ही बताता है। दूसरे

सोलह काशण भावना

के दोषओं की उपेक्षा कर उनके गुणों को प्रकट करता है। दूसरे के दोषों को तथा अपने गुणों को छिपाने के कारण ही इस गुण का नाम उपगूहन है। अपने गुणों में निरन्तर वृद्धि होते रहने के कारण इस अंग का दूसरा नाम उपबृहण भी है।

स्थितिकरण — सम्यक्‌दृष्टि कभी भी किसी को नीचे नहीं गिराता। वह सभी को ऊँचा उठाने की कोशिश करता है। अपने आपको भी वह मोक्षमार्ग में लगाये रखता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थितिवश वह अस्थिर होता है तो स्थिर करता है। उसकी धार्मिक आस्था को दृढ़ करता है।

वात्सल्य — वात्सल्य शब्द वत्स से निकला है। वत्सका अर्थ बछड़ा। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति निःस्वार्थ निष्कपट, सच्चा प्रेम रखती है, उसमें कोई बनावटीपन नहीं होता बल्कि आत्मीय वात्सल्य होता है। उसी प्रकार धार्मिक जीवों के प्रति धर्मों का अन्तरंग वात्सल्य होता है। दूसरों के प्रति सहयोग, सहानुभूति, संवेदनशीलता की भावना होना ही वात्सल्य गुण है।

प्रभावना — सम्यक्‌दृष्टि की यह भावना रहती है कि जिस प्रकार हमें सही दिशा, दृष्टि मिली है, सत्य धर्म का मार्ग मिला है उसी प्रकार सभी लोगों का अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो उन्हें भी सही दिशा मिलें, वे भी सत्य धर्म का पालन करें। इस प्रकार की जगत् हितकारी भावना से अनुप्राणित होकर सम्यक्‌दृष्टि जीव अपने भावों को विशुद्ध बनाये रखता है। उसका आचरण ऐसा बन जाता है कि उसे देखकर लोगों को धार्मिक आस्था उत्पन्न होने लगती है। व्यक्ति उसका अनुकरण कर उसी मार्ग पर चलता है वह परोपकार, ज्ञान, संयम, दया, क्षमा, करुणा, संवेदना आदि सत्तगुणों के द्वारा विश्व में अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार करता है। इससे लोगों को अहिंसा धर्म की महिमा का ज्ञान होता है। यही प्रभावना गुण का महत्व है। तीर्थकर तीन लोक के नेता होकर धर्म की प्रभावना करते हैं एवं समस्त जीवों का उद्धार करते हैं। इस प्रकार जो दर्शनविशुद्धि भावना से सहित होगा उसमें किसी प्रकार का घमण्ड, अहंकार, मूर्खता, मिथ्या, गलत मान्यतायें उत्पन्न नहीं होंगी।

आचार्यश्री ने अन्तिम शब्दों के साथ सभी के कल्पण हेतु अपनी अन्तरंग उदार, परोपकारी, संवेदनशील भावना व्यक्त करते हुए यही कहा कि हमें स्वार्थ त्यागकर, क्षमा आदि गुणों से सहित होकर अपने अन्तरंग परिणामों को हमेशा निर्मल, पवित्र, शुभ, शुद्ध बनाने चाहिए ताकि हम भी तीर्थकर बनकर एक दिन इस संसार-

सागर से पार हो जायें।

**भाषा-शुद्धि विवेक वाक्य कुशल शंकादिदोषोज्जितो
गंभीर प्रशमन्त्रिया परिगतो वश्येन्द्रियो धैर्यनान्।
प्रावीष्यं यदि निश्चय व्यवहृतौ भक्तिश्च देवे गुरा
वौचित्यादिगुणौरलंकृततनुः सम्यक्त्वयोग्यो भवेत्॥२३॥**

अर्थ— जो भाषा शुद्धि, विवेक और वाक्यों के उच्चारण में कुशल है, शङ्खा आदि दोषों से रहित हैं, गम्भीर है, शान्तभावरूपी लक्ष्मी से युक्त है, जितेन्द्रिय है, धैर्यवान् है, निश्चय और व्यवहार में चतुरता रखता है, देव और गुरु में जिसकी भक्ति है, और औचित्य आदि गुणों से जिसका शरीर अलंकृत है, ऐसा जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होता है।

(सम्यक्त्व कौमुदी - पृ.सं. 10)

**धर्मकल्प तरोमूलं द्वारं मोक्ष पुरस्य च।
संसाराव्यौ महापोतो गुणानां स्यान मुत्तमम्॥२४॥**

अर्थ— यह सम्यग्दर्शन धर्मरूपी कल्पवृक्ष की जड़ है, मोक्षरूपी नगर का द्वार है, संसार रूपी महासागर में बड़ा भारी जहाज है और गुणों का उत्तम स्थान है।

**भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीव पञ्चेन्द्रियान्वितः।
काल तत्त्वादिनयुक्तः सम्यक्त्वं प्रतिवद्यते॥२५॥**

अर्थ— काललब्धि आदि से युक्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

**सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम्।
तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि॥२६॥**

अर्थ— तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है उसके (1) औपशमिक (2) क्षायिक और मिश्र ये तीन भेद कहे गये हैं।

**सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च।
प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्रैविधं सुमेधसः॥२७॥**

अर्थ— मिथ्यात्वादि तीन तथा अनन्तानुबन्धी की चार इस प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से वह सम्यक्त्व होता है। इसलिए ज्ञानी जन उसके तीन भेद कहते हैं।

शोल्ह काशुण भावना

**एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम्।
आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरं च समन्ततः॥२८॥**

अर्थ— इन भेदों के सिवाय सम्यक्त्व के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ये दो भेद और भी होते हैं। इनमें से प्रशम संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यादि भावरूप लक्षणों से युक्त सराग सम्यक्त्व है और आत्मा की शुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है।

निधानं सर्वलक्ष्मीणां हे तु स्तीर्थकृत्कर्मणः।

पालयन्ति जना धन्या: सम्यक्त्वमिति निश्चलम्॥२९॥

अर्थ— सम्यग्दर्शन सब लक्ष्मीयों का भण्डार है, तीर्थकर नामकर्म के बन्ध का हेतु है। वे मनुष्य धन्य भाग हैं जो निश्चलरूप से सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं।

4

विनय सम्पन्नता

श्रेष्ठ जीवन जीने की कला

(उदयपुर) षोडश कारण पर्व के दूसरे दिन ‘विनय संपन्नता भावना’ के विषय में प्रकाश डालते हुए आचार्य श्रीकनकनंदीजी गुरुदेव ने बताया कि यीन के महान् दार्शनिक लाओत्से हुए जो लगभग महावीर बुद्ध के ही समकालीन थे। जब उनका अंतिम समय निकट था तब उनके शिष्य शिक्षायें देने हेतु लाओत्से से आग्रह करने लगे। लाओत्से मुँह से शब्द तो कुछ नहीं कह रहे थे लेकिन मुँह फाड़-फाड़कर इशारा कर रहे थे। शिष्य कहने लगे आप यह क्या कर रहे हैं? आपके ये इशारे हमारी समझ में नहीं आते आप हमें बोलकर कुछ शिक्षायें दीजिए। गुरुने कहा—मैं आपको यह प्रायोगिक शिक्षा दे रहा हूँ। बताओ मेरे मुँह में क्या-क्या है। जीभ है, दाँत क्यों नहीं। देखो दाँत बाद में आये लेकिन जीभ से पहले चले गये। जन्म भी दो बार दाँतों का हुआ लेकिन फिर भी जीभ से पहले चले गये। संख्या भी दाँतों की अधिक है। जबकि जीभ एक ही है। जीभ दाँतों के बीच में बंदी बनकर रहती है फिर भी दाँत पहले गये। जीभ का जन्म पहले हुआ जबकि दाँतों का बाद में फिर भी दाँत पहले गये। दाँत वज्र से भी कठोर है जबकि जीभ फूल सम मुलायम फिर भी दाँत पहले नष्ट हुए। इसलिए इस खुले मुख से मैं आपको यही

प्रायोगिक शिक्षा इन दाँत और जीभ से देना चाहता है कि जो कठोर, निर्मम, घमण्डी, अकड़ालू होते हैं वे सब शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जो कोमल, मृदु, ऋजु, सरल-सहज, विनम्र, भद्र होता है वही जीवित रहता है। एवं सुखी समृद्ध सम्पन्न भी होते हैं। यह हमें प्रकृति शिक्षा देती है कि अगर जीवन में विकास, उन्नति प्रगति, सुख, शांति, समृद्धि पानी है तो विनयशील, मधुर, मृदु, सरल-सहज, विनम्र-शिष्टाचारी बनना चाहिए।

जब वृक्ष में फूल आता है तब वृक्ष पहले से नम्र होता है और फल आने पर पहले से और भी नम्र हो जाता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति निर्गुण से गुणी, अज्ञानी से ज्ञानी, अधर्मात्मा से धर्मात्मा बनता जाता है तब वह उत्तरोत्तर विनयशील होता जाता है।

वृक्ष फलों के लद जाने पर झुक जाते हैं, मेघ जल से भरे रहने पर लटक आते हैं, सत्पुरुष ऐश्वर्य प्राप्त होने पर नम्र हो जाते हैं। यह झुकना अथवा नम्र होना लोकोपकारियों का स्वभाव ही है।

नम्र होकर ऊपर उठने वाले, दूसरों के गुणों के कथन द्वारा ही अपनी गुणवत्ता प्रकट करने वाले, दूसरों के कार्य के लिए स्वयं सतत बहुत बड़ा परिश्रम करते हुए ही अपना कार्य सिद्ध करने वाले, निन्दा से रुखे अक्षरों से भरे मुख वाले दुर्जनों को अपनी क्षमा द्वारा ही दृष्टि ठहराने वाले, अनेकों द्वारा सम्मानित और आश्चर्य कारक चरित्र वाले सत्पुरुष होते हैं।

कुद्र व्यक्ति भौतिक धन सम्पत्ति, कला, विद्या, आदि को प्राप्त करके घमण्डी हो जाता है परन्तु महान् व्यक्ति विनम्र हो जाता है। दुर्जन व्यक्ति विद्या प्राप्त करके स्वयं के अहं की पुष्टि के लिये वृथा वाद-विवाद कलह करता है, धन प्राप्त करके मदोन्मत्त हो जाता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को विभिन्न प्रकार की यातनाएँ देता है किन्तु सज्जन व्यक्ति की विद्या ज्ञान प्राप्ति के लिए धन, दान के लिए एवं शक्ति दूसरे के संरक्षण के लिये होती है। पानी भरा हुआ कलश शब्द नहीं करता है, अर्द्ध भरा हुआ कलश छल-छल शब्द करता है। जो सज्जन-ज्ञानी-महान् होते हैं, वे गर्व नहीं करते हैं, परन्तु जो गुणविहीन होते हैं वे बहुत बकवास करते हैं।

विश्व का इतिहास साक्षी है कि इस विश्व में जिसने भी गर्व किया है वह अनिवार्य रूप से खण्डित हुआ है। कौरव, दुर्योधन, कंस, रावण, नेपोलियन, हिटलर आदि

जितने अहंकारी पुरुष हुये हैं उनका अहंकार चिरस्थायी नहीं रहा इतना ही नहीं तदभव मोक्षगामी आदि तीर्थकर के न्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र भारत के प्रथम चक्रवर्ती भरत का भी घमण्ड धूलीशात हो गया था। प्रसिद्ध कथानक के अनुसार जब भरत चक्रवर्ती दिग्विजय करते हुये वृषभाचल पर पहुँचे तथा वहाँ-पहुँचकर वे सोचने लगे कि मैं इस भू-भाग का प्रथम चक्रवर्ती हूँ इसलिए इस पर्वत पर मैं अपनी प्रशस्ति लिखवाऊँगा। ऐसा विचार कर जब-पर्वत के समीप पहुँचे तब विशाल पर्वत प्रशस्तियों से भरा पड़ा था, तब उन्होंने काकणी रत्न से एक प्रशस्ति मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिखवाई थी। उसी प्रकार प्रत्येक चक्रवर्ती अपनी-अपनी प्रशस्ति लिखवाने के लिये दूसरों की प्रशस्ति मिटवाते हैं। जब भरत चक्रवर्ती को यह सब ज्ञात हुआ तब उसका यह जो मान था कि 'मैं इस भारत का खण्ड का प्रथम चक्रवर्ती हूँ' वह मान गलित हो गया।

विनय संपन्नता को दोनों पक्षों से देखना चाहिए, विचार करना चाहिए जब तक दोनों पक्षों से विचार नहीं करेंगे हम एक पक्षीय होकर मिथ्यादृष्टि हो जायेंगे। यह बात केवल सैद्धान्तिक संबंधी ही नहीं बल्कि व्यवहारिक जीवन में भी घटित होती है। हर किसी के सामने झुक जाना, हाथ जोड़कर दीनता प्रगट करना, तेजस्विता छोड़ देना यह क्या विनम्रता होती है? इसके विपरीत कठोर वचन बोलना, ढांग हाँकना, मान-घमण्ड करना यह क्या स्वाभिमान है? अभिमान और स्वाभिमान के ठीक-ठीक अर्थ को समझना होगा। दीनता को नम्रता मानना ठीक ऐसे हैं जैसे मृगमरीचिका को पानी मानना, काँच को हीरा, जहर को अमृत, क्रोध को क्षमा मानना। अक्सर जो मूर्ख होते हैं वह ऐसा अधिक करते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार दो खतरनाक रोग हैं। (1) दीनत (2) अहंवृत्ति। दोनों ही बराबर पाप हैं। अपने को दीन-हीन कमजोर मानना पाप है तो बढ़-चढ़कर ढांग हाँकना, अपने समान किसी दूसरे को समझना ही नहीं सर्वश्रेष्ठ स्वयं को समझना यह भी पाप ही है। एक बार किसी ने महात्मा गांधी से पूछा—आपके सामने दीनता/कायरता, हिंसा ये चीजें हैं आप क्या चुनोगे? तो गांधीजी ने जवाब दिया—हिंसा। यह सुनकर सभी आश्चर्यचकित होते हैं कि जिनका मन-वचन-काय सभी अहिंसामय है उन्होंने हिंसा को कैसे चुना? मैंने हिंसा को इसीलिए चुना कि हिंसा में पुरुषार्थ तो है, हम कुछ कर तो सकते हैं स्वयं के साहस, पुरुषार्थ के माध्यम से कोई उपाय, रास्ता निकाल सकते हैं लेकिन दीनता में न अहिंसा है, न स्वाभिमान है, न

आत्मसम्मान—आत्मगौरव है बस दूसरों के समक्ष अपने को कमज़ोर, परतन्त्र महसूस करते रहो। हमारा देश दीनता के कारण हजारों वर्षों से गुलाम रहा। इस विरोधाभास को समझना होगा। एक दो पैसा हो जाये, सत्ता पदवी एक इंच, एक सूत ही बढ़ जाये, थोड़े से ज्ञानी हो जाये, बस हम फिर पृथ्वी पर नहीं चलते आकाश में ही चलते हैं। या फिर जो अपने से थोड़ा कोई जरा सा बड़ा हो तो हम उससे डरेंगे दीन—हीन असहाय बनकर अपना स्वाभिमान त्याग देंगे। स्वाभिमान—अभिमान—आत्मविश्लेषण आत्मनिष्ठ ये तीन चीजें हैं। आत्म स्वावलम्बन या निर्विकल्प ध्यान को ही मोक्ष या आत्मविश्लेषण कहते हैं। इसकी उपलब्धि जम्बू स्वमी के बाद किसी को नहीं हुई। जो चीजें बाहर से आती हैं और हम मान लेते हैं कि ये हमारी हैं तो हमारे अंदर अकड़ पैदा होती है। यही अकड़ का भाव, अहं का भाव ही तो अभिमान है। यह चीज बाहर से नहीं बल्कि हमारे अंदर में प्रकट होकर बाहर आती है। तब व्यक्ति अभिमान के कारण अकड़कर सीधा ही चलेगा लेकिन यह क्रिया स्वाभिमान में नहीं होती। क्योंकि स्वाभिमान स्वभाव से पैदा होता है। स्वाभिमान में व्यक्ति संतुलित होता है वह न तो अकड़कर चलता है और न ही झुककर। ऐसा स्वाभिमान ऋषि संत, महात्मा पुरुष रखते हैं। क्योंकि जहाँ स्वाभिमान नहीं होता वहाँ आत्महीनता की भवना पैदा होती है। और जहाँ आत्म हीनता की भवना पैदा होती है वहाँ व्यक्ति विकास नहीं कर पाता। वह पहले से ही मान लेता है कि मैं छोटा हूँ, मंदबुद्धि का हूँ, हीन शक्ति वाला हूँ, अतः वह अपनी शक्ति क्षमता को प्रकट ही नहीं कर पाता। इसीलिए साधु स्वाभिमान रखते हुए नवधा भक्ति होने पर श्रावक से आहार ग्रहण करते हैं। साधु देखते हैं कि दीन—हीन, अनाथ समझकर तो कोई उन्हें आहार नहीं दे रहा, भूखे समझकर तो नहीं खिला रहा कि ये भूखे हैं चलों आहार दे दो। अगर ऐसे भावों से साधु को कोई आहार दे भी देता है तो साधु के भावों में ग्लानि, दीनता के परिणाम बनेंगे। हीनता, लघुता की भावनायें पैदा होंगी जब ऐसी भावनायें होंगी तब साधु आत्मविकास की सीढ़ियों पर चढ़ नहीं सकता। स्वाभिमान तो वह है जो किसी से मांगकर न खाये, स्वाभिमान तो वह है जो किसी की कोपी करके नकल न करे। स्वाभिमान तो उसका नाम है जो अपनी बुद्धि से, प्रज्ञा से, अपनी समझ से, अपने पुरुषार्थ से हम ज्ञान उपार्जन करें, कुछ अलौकिक उपलब्धि हासिल करें। आत्मबल स्वयं के विकास करने से ही बढ़ता है न कि दूसरों की नकल करके।

इसीलिए यह स्वाभिमान सम्बद्धियों को ही होता है। वह सत्य-तथ्य-यथार्थ को ही स्वीकार करता है।

आरा(पटना) के महिला आश्रम की मुख्य अध्यक्षा चंदाबाई बहुत ही पढ़ी लिखी, विनप्र, विदुषी, अमीर घराने की महिला थीं। वे उस समय की भारतवर्ष की सबसे पहली महिला थीं जिन्होंने अपने ज्ञान-चारित्र के बल पर विधवा—अनाथ—दीन गरीब महिलाओं के उत्थान हेतु महिला आश्रम खोला था। एक बार उस आश्रम में किसी बड़े प्रोग्राम में कोई बड़ा नेता आया। डा. राजेन्द्रप्रसाद चंदाबाई स्टेज पर उनका सबसे पहले स्वागत करने नहीं गयी बल्कि स्वागत की रथम समाप्त हो जाने के बाद में स्टेज पर पहुँची। सभी ने पूछा—आप आश्रम की मुख्य हैं तो आप बाद में क्यों आईं, आपको सम्मान—स्वागत हेतु पहले आना चाहिए था। तो चंदाबाई ने कहा मैं व्रत नियमों से सहित हूँ किसी अवृत्ति का स्वागत कैसे कर सकती हूँ? ये मेरा अभिमान नहीं है बल्कि व्रत, नियम, धर्म, गुरु के स्वाभिमान की रक्षा है। धार्मिक सच्चे सम्बद्धि अपने आत्म गौरव, आत्म सम्मान को नहीं छोते। जिस मनुष्य के अंदर स्वाभिमान नहीं उसका कोई मूल्य नहीं और जिसमें अभिमान है उसका भी कोई मूल्य नहीं। सम्बद्धि आठ मदों से रहित विनप्र होता है। सच्चे देवशास्त्र—गुरु के सिवाय अन्य किसी के सामने नहीं झुकता भले ही सिर कट जाए। वह समझता है घमण्ड किसका करना। धरती पर अनेकों महाराजा, चक्रवर्ती हुए लेकिन उनका ही नाम अमर हुआ जिन्होंने स्वयं का अभिमान नष्ट करके स्वाभिमान जगाया। अहंकारी को कभी भी परमात्मा के द्वारा की उपलब्धि नहीं हो सकती। बीज अगर अहंकार करे कि मेरे कारण ही वृक्ष का अस्तित्व है तो बीज का यह सोचना उसके स्वयं का पतन का कारण बन जायेगा। अभिमान करे भी तो किसका करे क्योंकि सभी वस्तुएँ तो क्षणभंगुर, विनाशशील हैं, जाने वाला तो केवल अपना स्वभाव ही है। धन का मद करना निरर्थक है। आपने बड़ी पुरुषार्थ के बल पर खून—पसीना एक करके खूब धन भी कमा लिया लेकिन आपके परिवार में कोई एक ऐसा सदर्य निकल जायें कि वह आपकी इतनी मेहनत से कमायी गयी सम्पत्ति को व्यसनों में गवाँ दे। या फिर आपका ही शरीर अस्वरथ हो गया, रुग्ण हो गया तो क्या मतलब उस अपार सम्पत्ति का। मरघट में अमीर भी जलते हैं गरीब भी जलते हैं वहाँ किसी का भेद भाव नहीं फिर इस धन का क्या घमण्ड करना। जब तक आँखें खुली हैं तब तक ही धन ऐश्वर्य है आँख बंद

होते ही सब विलीन। रावण की सोने की लंका थी लेकिन क्या उसके मरने के बाद वह सोने की लंका उसके साथ गयी। लंका तो बहुत दूर की बात रही स्वयं का शरीर ही जब साथ नहीं जाता तो और क्या जायेगा। बहुत से लोग अपने सुंदर शरीर का घमण्ड करते हैं। यह भी विनाशिक-अक्षुण्ण है क्योंकि बुद्धापे में सब सौन्दर्य समाप्त हो जाता है इसलिए आर्चा कुंदकुंद देवने कहा कि आत्मा पर अभिमान करने की भावना यदि जागृत हो तो आत्मा के सौन्दर्य पर ही करना। बल के ऊपर अभिमान करने की इच्छा हो तो आत्मा में निहित अनन्तवीर्य पर होता है। आत्मा अनंत ज्ञान से युक्त है। हमने कुछ शब्द रट लिए, कुछ शास्त्र पढ़ लिए, हमारे मस्तिष्क में कुछ शब्दों की तरंगे रिकार्ड हो गयी तो उसमें हमें ज्ञान की भ्रान्ति हो जाती है। मुझे सब कुछ आता है। क्या आता है? अमुक शास्त्र में अमुक बात लिखी है। क्या आपको इतना भी मालूम नहीं? हम इस प्रकार थोड़ा सा दो-चार शब्द, या शास्त्र पढ़ लेने पर दूसरों के साथ अहं प्रवृत्ति के साथ व्यवहार करते हैं। ऐसे ज्ञान को आज के इस वैज्ञानिक युग के अंदर सिर्फ एक छोटी सी टेप में टेप किया जा सकता है तब इस ज्ञान का क्या घमण्ड करना? ज्ञान बाहर की वस्तु नहीं है ज्ञान तो अंदर से होता है। जिसको हम क्षयोपशम कहते हैं या क्षायिक कहते हैं। जब-जब हम बाहरी वस्तुओं को मानने लगते हैं तब-तब अकड़ की भावना, घमण्ड, अहंकार की भावनायें जन्म लेती हैं। वहाँ हित-अहित, हेय-उपादेय, स्वार्थ-परमार्थ का ज्ञान-भान नहीं रहता। जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ सिद्ध होता है वहाँ बदमाश, नीच व्यक्ति के सामने भी झुक जाता है। सही विनय क्या है? इस बात का ज्ञान हमें नहीं है। जिससे हमारे धर्म, गुरु, शास्त्र का अपमान होता है, आत्म गौरव दबता है वहाँ न हम स्वाभिमान से उठ सकते, न बोल सकते, न खा सकते न रह सकते कुछ भी कार्य अपनी इच्छापूर्वक स्वतन्त्रता के साथ नहीं कर सकते। इसलिए अपने स्वाभिमान की, आत्मगौरव की सतत् रक्षा करनी चाहिए। जिस मनुष्य के अंदर स्वाभिमान नहीं उसका भी कोई मूल्य नहीं और जिसमें अभिमान है उसका भी कोई मूल्य नहीं। धर्म, परिवार, समाज, राष्ट्र, विज्ञान, शिक्षा, अर्थनीति, राजनीति, वैश्विक नीति सभी जगह सभी के लिए स्वाभिमान की अति आवश्यकता है।

स्वाभिमान के होने में विनय होना अति आवश्यक है। दर्शन का विनय हो, ज्ञान का विनय हो, चारित्र का विनय हो और जो अपने से बड़े हैं उनकी विनय हो। विनय गुण सम्पन्न व्यक्ति को ही विद्या, बुद्धि, धन, वैभव, यश, कीर्ति, ख्याति ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय के बिना कोई भी विद्या की प्राप्ति नहीं होती। जो स्वयं के पास होता है उसे भी गवाँ देता है। एक राजा रानी थे। उनके बहाँ संदर फलों का बगीचा था। उस बगीचे की रखवाली हेतु एक माली था। एक बार माल्यानी गर्भवती हुई। उसे दोहला हुआ कि मीठे-मीठे आम खाऊँ। लेकिन उस समय आम का सीजन नहीं था। आम नहीं मिलने के कारण वह दिन-प्रतिदिन दुबली होती गयी। माली ने कारण पूछा तो उसने आम खाने की इच्छा व्यक्त की। वैसे अभी आम का सीजन तो है नहीं। माली ने कहा— हाँ बगीचे में एक-दो वृक्ष आम के ऐसे हैं जिनपर 12 महीनों आम आते हैं। बिना सीजन में अधिक नहीं कम आते हैं। वह माली माल्यानी को आम दे देता है। कुछ दिन बाद राजा उस वृक्ष पर आम नहीं देखता तो माली को पूछता है आम कहाँ है? तुम बगीचे की रक्षा ठीक प्रकार नहीं करते, रक्षक ही भक्षक बने हुए हैं। इसलिए मैं तुम्हें प्राणदण्ड दूंगा। मंत्रियों ने प्राणदण्ड देने से पूर्व राजा को समझाया कि इसके पास महान् विद्या है उसे पहले ले लो। सिंहासन पर बैठकर राजा कहने लगा मुझे वह मंत्र विद्या दो जिससे वृक्ष की डाला जाने आप नीचे आ जाती है और फल तोड़ने के बाद वापिस उसी स्थान पर वैसे ही चल जाती है। माली ने राजा को वह मंत्र विद्या दे दी। राजा ने मंत्र विद्या का प्रयोग करके देखा लेकिन सफलता नहीं मिली। राजा को अब और अधिक गुस्सा आया कि इसने मुझे विद्या भी नहीं सिखाई मेरे साथ छल-कपट-मायाचारी की। मंत्रियों ने राजा को समझाया कि इसमें माली का कोई दोष नहीं, दोष आपका है। वह आपका गुरु है गुरु का स्थान कहाँ होना चाहिए? आपका और उसका स्थान कहाँ था? राजा ने वापिस उसे सिंहासन पर बैठाया और स्वयं उसके चरणों में नीचे जमीन पर बैठा। माली ने विद्या / मंत्र दिया। राजा ने प्रयोग करके देखा इस बार वह सफल हो गया। इस प्रकार विद्या विनय से ही आती है। चाहे तुम कितने बड़े-बड़े ग्रंथ पढ़ लो लेकिन आपके अंदर गुरु के प्रति या अन्य किसी के प्रति विनय नहीं तो वह ज्ञान कार्यकारी नहीं है। वह विनय भी हर किसी के प्रति नहीं दिखाना चाहिए। गुणीजनों के प्रति अवश्य विनय होना चाहिए। हर किसी का विनय करोगे तो मर मिट जाओगे। तेज रहित अग्नि

को हर कोई रौंद डालता है। बाहुबली क्षायिक सम्यकदृष्टि थे, कामदेव, तदभव मोक्षगामी थे तीर्थकर भगवान् के पुत्र थे। भाई का भाई के रूप में तो विनय किया लेकिन तुम चक्रवर्ती हो मैं आपका दास, गुलाम नहीं हूँ। इस भावना को लेकर बाहुबली ने तीन युद्ध करके भरत चक्रवर्ती को परास्त करके दुनियाँ के आगे स्वाभिमान का ज्यलंत उदाहरण प्रस्तुत किया। आज भी सम्पूर्ण भारत देश में सबसे अधिक व सबसे बड़ी प्रसिद्ध मूर्ति बाहुबली की है। सोचने की बात है कि बाहुबली ने ऐसा क्या विशेष महान् प्रसिद्ध कार्य किया था जो कि इतनी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए? स्वाभिमान की रक्षा हेतु भाई से लड़े और बड़े भाई होने के नाते उनका विनय भक्ति भी की लेकिन आत्म-गौरव के आगे बड़े भाई को सिर नहीं झुकाया। इसी कारण बाहुबली को आज सभी अधिक श्रद्धा, आस्था की दृष्टि से देखते हैं भरत चक्रवर्ती की अपेक्षा। जो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को नमन नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है। जो अहंकार, विषय वाप्ना की पूर्ति हेतु, किसी के दबाव से मिथ्या देव, शास्त्र, गुरु के सामने झुकता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। इसीलिए दोनों तथ्यों को ठीक तरह से समझना यही अनेकांत है, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान है।

दर्शन विशुद्धि के बाद विनयसम्पन्नता को इसीलिए रखा है कि जो सम्यक्त्यादि आठ गुणों से सहित होगा, आठ मदों से रहित होगा, तीन मृढ़ता, छः ह अनायतनों से रहित, स्व-पर विवेक का जानकार, लित-अहित का विचारक होगा वही विनय गुण से संपन्न होगा। जिसके अंदर ये 25 गुण नहीं होंगे वह विनय का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकता। जो विनय के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ है, हर किसी के सामने मरतक झुका देता है वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। इसीलिए तत्वार्थसूत्र के अंदर महान् आचार्य उमास्वामी जी ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र के पहले सम्यक् शब्द जोड़ा है। यह सम्यक् इसी बात का बोध कराता है कि श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र यथार्थ, वास्तविक, सच्चे होने चाहिए स्थिति डांवाडोल नहीं होनी चाहिए। श्रद्धा के पीछे ज्ञान रखा क्योंकि जब सम्यक् यथार्थ, भेदाभेद का ज्ञान कराने वाला ज्ञान हो तभी श्रद्धा, आस्था, विश्वास सम्यक्, हो पाता है नहीं तो हर किसी के प्रति श्रद्धा हो जायेगी तो हमारा माथा हर किसी के सामने झुक जायेगा फिर वह ज्ञान, दर्शन चारित्र मिथ्या हो जायेगा। इसीलिए सम्यक् एवं ज्ञान की बहुत उपयोगिता है। इन दोनों को हमें ठीक से समझना चाहिए। जब तक ठीक से नहीं समझेंगे, संतुलन नहीं हो सकता और जब तक जीवन में संतुलन नहीं तब तक ठीक तरह जी भी

सोलह काशण भावना

नहीं सकते। गाढ़ी जब तक संतुलित रहती है दुर्घटना नहीं होती, संतुलन हटा की दुर्घटना घटी। इसीप्रकार जब तक जीवन में हम हर बात को यथार्थ सत्य-तथ्य के साथ नहीं जानेंगे तब तक जीवन में आपत्ति-विपत्ति रूपी दुर्घटनायें घटित होती रहेंगी। इसीलिए आचार्यों ने कहा ज्ञान कम हो लेकिन विवेक सहित हो तो जीवन का कल्याण हो जायेगा जैसे शिवभूति का। लेकिन बहुत सा ज्ञान कर लिया विवेक नहीं तो क्या कार्यकारी जैसे भव्यसेन मुनि। संकट के समय, आपत्ति-विपत्ति के समय ही भगवान् की विनय-भक्ति करना यह यथार्थ विनय नहीं है। यह तो कायरता, नपुंसकता, स्वार्थपरता की हीन भावनायें हैं। क्षमा वीरों का भूषण होता है और कायरों का दूषण। उत्तम क्षमा ऋषि, संत, यातियों के लिए है न कि सामान्य गृहस्थ के लिए। बहिन बेटी के ऊपर अन्याय, अत्याचार, पापाचार करने वाले शत्रु को हम क्या क्षमा का दान देते रहेंगे? क्या यह क्षमा है? हमें उनके सामने ही क्षमा दिखानी चाहिए जो गुणी सज्जन हो। शरीर में काँटा लग गया, और उसे अपने शरीर का अंग मानकर निकालो मत तो पीड़ा किसे होगी। काँटे को निकालने काँटा ही चाहिए अर्थात् जो जैसा व्यवहार करे उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।

धर्म, समाज, परिवार, राष्ट्र, गुरु आदि के स्वाभिमान की रक्षा हेतु विरोधी हिंसा होती ही है। यह दूषण नहीं भूषण है। राम ने, कृष्ण ने, सुभाषचंद्र बोसने, चाणक्य ने आदि-आदि महान् वीर पुरुषों ने समाज, राष्ट्र, धर्म, गुरु, आदि की रक्षा हेतु बड़े-बड़े युद्ध भी लड़े। उन्हें कितना पाप लगा? एक व्यक्ति अपने घर पर पाठ करता था कि पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, एकेन्द्री, दोइन्द्री, तीन इन्द्री, चार इन्द्री, पाँचइन्द्री, आदि जीवों की विराधना हुई हो तो मेरे पाप मिथ्या होवें। लेकिन देश की सीमा पर जाकर शत्रुओं को मारने लगा। यह कैसा धर्म? इसमें पाप होते हुए भी इतना पाप नहीं है। क्योंकि जबतक देश की सुरक्षा नहीं होगी तब तक परिवार, समाज, धर्म, गुरु, शास्त्र, सम्यता-संस्कृति की रक्षा कैसे हो पायेगी? ऐसी भावनाको लिए हुए बैठे रहे तभी तो भारत देश गुलाम हुआ और धर्म, गुरु, मूर्ति सम्यता संस्कृति सभी का विनाश-विघ्नश हुआ। ऐसी अहिंसा नहीं बल्कि हिंसा है, सरलता के नाम पर दब्बू भोड़, कायर है।

मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सूक्ष्म जीव से लेकर बाहर किसी

भी जीव को कैसा भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए लेकिन धर्म, ग्रंथ, गुरु आदि के नष्ट होने पर दीनता भी नहीं दिखानी चाहिए। कमज़ोरों को दुनियाँ रौंदती है। अपनी कमज़ोरी हर किसी के सामने प्रगट नहीं करनी चाहिए। केवल सच्चे हितैषी गुरु के सामने ही प्रगट करनी चाहिए।

विणओ सासणे मूलं विणीओ संजयो भवे।
विणयाओ विष्मुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥

(स.शि.मनो. पृ. 507)

‘विनय ही शासन अर्थात् जिनभाषित द्वादशांगी में अथवा संघ में मूल है। विनय गुण से अलंकृत साधु ही संयमी होता है। विनय से रहित साधु के धर्म ही कहाँ और तप ही कहाँ? अर्थात् जैसे मूल के बिना शाखा रह नहीं सकती, वैसे ही विनय की बिना धर्म (संयम) और तप दोनों नहीं टिक सकते।’

विणओ आवहइ सिरि, लहइ विणीओ जसं च कित्तिं च।
न कयाइ दुव्विणीओ, सकज्जसिद्धिं समाणेइ॥

‘विनयी बाह्य— आध्यंतर लक्ष्मी को प्राप्त करता है। विनयवान् पुरुष जगत में यश और कीर्ति पाता है। परन्तु विनय रहित-दुर्विनित पुरुष अपने कार्य में कभी सिद्धि (सफलता) प्राप्त नहीं कर सकता। यह जान कर सर्वगुणों के वशीकरण विनयगुण की आराधना अवश्य करनी चाहिये।’

विनय के चार लाभ

एक समय भगवान् बुद्ध दीघलम्बक में विहार कर रहे थे। वहाँ विहरते समय एक दिन एक ब्राह्मण ने अपने नन्हे बच्चे और स्त्री के साथ भगवान् के पास आकर प्रणाम किया। भगवान् ने ब्राह्मण और उसकी स्त्री के प्रणाम करने पर ‘दीर्घायु हो’ कहा, किन्तु बच्चे के प्रणाम करने पर मौन धारण कर लिया। यह देखकर ब्राह्मण ने कारण पूछा। भगवान् ने कहा — ‘ब्राह्मण’ यह बच्चा केवल सप्ताह भर ही जीयेगा। तब ब्राह्मण ने बच्चे के दीर्घायु होने का उपाय पूछा। भगवान् ने अपने घर मण्डप बना कर सप्ताह भर रात दिन पर परित्राण पाठ कराया। आठवें दिन बच्चे के प्रणाम करने पर सात्ता में ‘दीर्घायु हो’ कहा। ब्राह्मण ने पूछा — भन्ते! यह कितने वर्ष तक जीयेगा? सक सौ वर्ष तक।

एक दिन धर्म सभा में भिक्षुओं में चर्चा होने लगी — देखो आवुस। जो आयुर्धन कुमार सप्ताह भर में ही मरने वाला था, वह अब सयाना होकर पाँच सौ उपासकों

से घिरा विचरता है। जान पड़ता है इन प्राणियों की आयु बृद्धि के कारण है। भगवान् ने भिक्षुओं की बातों को सुन — ‘भिक्षुओ! न केवल आयु से ही, यह प्राणी गुणवानों को प्रणाम करते हुए चारों बात में बढ़ते हैं, विज्ञ से फूट जाते हैं और आयु पर्यन्त जीवित रहते हैं। कहकर धर्मोपदेश देते हुए इस गाथा को कहा—

अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्वापयाचिनो।
चत्तो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बतं॥

(धर्मोपद)

जो अभिवादन शील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करने वाला है, उसको चार बातें बढ़ती हैं— (1) आयु, (2) वर्ण, (3) सुख, (4) बल।

भरनित्यरण-समत्था, तिवग्ग-सुतत्थ-गहिय पेयाता।
उभओ लोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धि॥

(नन्दीसूत्र)

विनय से पैदा हुई बुद्धि कार्यभार के निरस्तरण अर्थात् वहन करने में समर्थ होती है। त्रिवर्ग, धर्म, अर्थ काम का प्रतिपादन करनेवाले सूत्र तथा अर्थ का प्रमाण— सार ग्रहण करनेवाली है तथा यह विनय से उत्पन्न बुद्धि इस लोक और परलोक में फल देने वाली होती है।

(स.शि.मनो. पृ. 418)

निमित्ते-अत्यसत्ये अ, लेहे गणिय अ कूब अस्से ये।
गददभ-लक्ष्मण गंठी, अगए रहिए य गणिया य॥
सीआ साझी दीहंच तण, अवस्वयं च कुंचस्स।
निवोदए य गोणे, घोड़ग पड़णं च रवक्खाओ॥

(1) निमित्त, (2) अर्थशास्त्र (3) लेख (4) गणित (5) कूप (6) अश्व (7) गर्दभ (8) लक्षण (9) ग्रन्थि (10) अगड (11) रथिक (12) गणिका (13) शीताशाही (गीली धोती) (14) नीब्रोदक (15) बैलों की चोरी, अश्व का मरण, वृक्ष से गिरना। ये वैनियिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

विनय से विद्या प्राप्ति

(1) निमित्त — किसी नगर में एक प्रसिद्ध पुरुष रहता था। उसके दो शिष्य थे। गुरु का दोनों पर समान स्नेह था। वह समान भाव से दोनों को निमित्त शास्त्र का अध्ययन कराता था। दोनों शिष्यों में से एक बड़ा विनयवान् था। अतः गुरु

जो आज्ञा देते उसका यथावत् पालन करता तथा जो भी सिखाते उस पर निरन्तर चिन्तन मनन करता रहता था। चिन्तन करने पर जिस विषय में उसे किसी प्रकार की शंका होती उसे समझने के लिये अपने गुरु के समक्ष उपरिथित होता था तथा विनयपूर्वक उनकी घरण बंदना करके शंका का समाधान कर लिया करता था। किन्तु दूसरा शिष्य अविनीत था और बार बार गुरु से पूछने में अपना अपमान समझता था। प्रमाद के कारण पठित विषय पर विमर्श भी नहीं करता था। अतः उसका अध्ययन अपूर्ण एवं दोषपूर्ण रह गया जबकि पहला विनीत शिष्य सर्वगुण सम्पन्न एवं निमित्त ज्ञान में पारंगत हो गया।

एक बार गुरु की आज्ञा से दोनों शिष्य किसी गाँव को जा रहे थे। मार्ग में उन्हें बड़े-बड़े पैरों के पदचिन्ह दिखाई दिये। अविनीत शिष्य ने अपने गुरुभाई से कहा— 'लगता है कि ये पद चिन्ह किसी हाथी के हैं।' उत्तर देते हुए दूसरा शिष्य बोला नहीं मित्र ! ये पैरों के चिन्ह हाथी के नहीं हथिनी के हैं। वह हथिनी वाम नेत्र से कानी है। इतना ही नहीं हथिनी पर कोई रानी सवार है और सधवा तथा गर्भवती हैं। रानी आजकल में ही पुत्र का प्रसव करेगी।

केवल पद चिन्हों के आधार पर इतनी बातें सुनकर अविचारी शिष्य की आँखे कपाल पर चढ़ गई। उसने कहा— यह सब बातें तुम किस आधार पर कह रहे हो ? विनीत शिष्य ने उत्तर दिया — भाई ! कुछ आगे चलने पर तुम्हें सब कुछ स्पष्ट हो जायेगा। यह सुनकर प्रश्नकर्ता शिष्य चुप हो गया और दोनों चलते— चलते कुछ समय पश्चात् अपने गन्तव्य ग्राम तक पहुँच गये। उन्होंने देखा कि ग्राम के बाहर एक विशाल सरोवर के तीर पर किसी अतिसम्पन्न व्यक्ति का पड़ाव पड़ा हुआ है। तम्बुओं के एक ओर बाँये नेत्र से कानी एक हथिनी बंधी हुई है। ठीक उसी समय दोनों शिष्यों ने यह भी देखा कि एक दासी जैसी लगनेवाली स्त्री एक सुन्दर तम्बू से निकली और वहीं खड़े हुए एक प्रभावशाली व्यक्ति से बोली— मंत्रीवर ! महाराज को जाकर बधाई दीजिए — राजकुमार का जन्म हुआ है।

यह सब देख सुनकर जिस शिष्यने ये सारी पहले ही बता दी थी वह बोला— देखो वाम नेत्र से कानी हथिनी खड़ी है और दासी के बचन सुनकर हमें यह ज्ञात हो गया है कि उस पर गर्भवती रानी सवार थी जिसे अभी—अभी पुत्र लाभ हुआ है। अविनीत शिष्य ने बेदिली से उत्तर दिया— हाँ मैं समझ गया, तुम्हारा ज्ञान

॥४५॥ सोलह काशण भावना ॥४६॥
सही है अन्यथा नहीं। तत्पश्चात् दोनों सरोवर में हाथ पैर धोकर एक वट वृक्ष के नीचे विश्रम हेतु बैठ गये।

कुछ समय पश्चात् ही एक वृद्धा स्त्री अपने मस्तक पर पानी का घड़ा लिए उधर से निकली। वृद्धा की नजर उन दोनों पर पड़ी। उसने सोचा— ये दोनों विद्वान मालूम होते हैं। क्यों न इनसे पूछूँ कि मेरा विदेश गया पुत्र कब लौटकर आएगा ? यह विचार कर वह शिष्यों के समीप गई और प्रश्न करने लगी। किन्तु उसी समय उसका घड़ा सिर से गिरा और फूट गया। सारा पानी मिट्टी में समा गया। यह देखकर अविनीत शिष्य झट से बोल पड़ा— 'बुढ़िया ! तेरा पुत्र घड़े के समान ही मृत्यु को प्राप्त हो गया है।'

वृद्धा सन्त रह गई किन्तु उसी समय दूसरे ज्ञानी शिष्यने कहा— 'मित्र, ऐसा मत कहो। इसका पुत्र तो घर आ चुका है।' उसके बाद उसने वृद्धा को संबोधित करते हुए कहा— 'माता ! तुम शीघ्र घर जाओ, तुम्हारा पुत्र तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।'

वृद्धा की जान में जान आई। उसने अपने घर की ओर कदम बढ़ा दिये। घर पहुँचते ही देखा कि लड़का धूलि धूसरित पैरों सहित ही उसकी प्रतीक्षा में बैठा है। हर्ष-विह्वल होकर उसने पुत्र को अपने कलेजे से लगा लिया और उसी समय समय नैमित्तिक शिष्य के विषय में बताकर पुत्र सहित उसी वट वृक्ष के नीचे आई। शिष्य को उसने यथायोग्य दक्षिणा के साथ अनेक आशीर्वाद दिये।

इधर अविनित शिष्य ने जब देखा कि मेरी बातें मिथ्या सिन्धु होती हैं और मेरे साथी की सत्य, तो दुःख और क्रोध से भरकर सोचने लगा— यह सब गुरुजी के पक्षपात के कारण ही हो रहा है। उन्होंने मुझे ठीक तरह से नहीं पढ़ाया। ऐसे ही विचारों के साथ वह गुरु का कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् वापिस लौटा। लौटने पर विनीत शिष्य आनन्दाश्रु बहाता हुआ गदगद भाव से गुरु के चरणों पर झुक गया किन्तु अविनीत ढूठ की तरह खड़ा रहा। यह देखकर गुरु ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। तुरन्त ही वह बोला— 'आपने मुझे सम्यक् रूप में नहीं पढ़ाया है। इसीलिये मेरा ज्ञान असत्य है और इसे मन लगाकर पढ़ाया है, अतः इसका ज्ञान सत्य। आपने पक्षपात किया है।'

गुरुजी यह सुनकर चकित हुए पर कुछ समझ न पाने के कारण उन्होंने अपने विनीत शिष्य से पूछा— 'वत्स क्या बात है ? किन घटनाओं के आधार पर तुम्हारे

गुरुभाई के मन में ऐसे विचार आए? विनीत शिष्य ने मार्ग में घटी हुई घटनाएं ज्यों की त्यों कह सुनाई।

गुरुने उससे पूछा—‘तुम यह बताओ कि उक्त दोनों बातों की जानकारी तुमने किस प्रकार की?’ विनयवान शिष्य ने पुनः गुरु के चरण छूकर उत्तर दिया—गुरुदेव, आपके चरणों के प्रताप से ही मैंने विचार किया कि पैर हाथी के होने पर भी उसके मूत्र के ढंग के कारण वह हथिनी होनी चाहिए। मार्ग के दाहिनी ओर से घास व पत्रादि ही खाए हुए थे, बाईं ओर के नहीं, अतः अनुमान किया कि वह बाँये नेत्र से कानी होगी। भारी जन समूह के साथ हाथी पर आसूढ़ होकर जाने वाला व्यक्ति राजकीय ही हो सकता है। यह जानने के बाद हाथी से उत्तर कर की जाने वाली लघुशंका से जाना कि वह रानी थी। समीप की ज्ञाड़ी में उलझे हुए रेशमी और लाल रंगों के वस्त्र तंतुओं को देखकर विचार किया कि रानी सधवा है। वह दाँया हाथ भूमि पर रखकर खड़ी हुई इससे गर्भवती होने का तथा दाँया पैर अधिक भारी पड़ने से मैंने उसके निकट प्रसव का अनुमान किया और सारे ही निमित्तों से यह जान लिया कि उसके पुत्र उत्पन्न होगा।

• दूसरी बात वृद्धा स्त्री की थी। उसके प्रश्न पूछते ही घड़े के गिर कर फुट जाने से मैंने विचार किया कि जिस मिट्टी से घड़ा बना था उसी में मिल गया है, अतः माता की कोख से जन्मा पुत्र भी उससे मिलने वाला है।

शिष्य की बात सुनकर गुरु ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए उसकी प्रशंसा की। अविनीत से कहा देख तू न मेरी आज्ञा का पालन करता है और न ही अध्ययन किये हुए विषय पर चिन्तन मनन करता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्ज्ञान का अधिकारी कैसे बन सकता है? मैं तो तुम दोनों को सदा ही साथ बैठाकर एक सरीखा विद्याभ्यास कराता हूँ किन्तु ‘विनयाद्याति पात्रताम्’ यानी विनय से पात्रता, सुयोग्यता प्राप्त होती है। तुझमें विनय का अभाव है, इसीलिए तेरा ज्ञान भी सम्यक् नहीं है। गुरु के वचन सुनकर अविनीत शिष्य लम्जित होकर मौन रह गया। यह उदाहरण शिष्य की वैनियिकी बुद्धि का है।

अर्थशास्त्र, लेख, गणित अर्थात् आदि का ज्ञान भी विनय के द्वारा होता है।

शीलव्रतेष्वनतिचार

5

शील-सदाचार से होता है - आत्मा का उत्थान

(उद्यपुर) धर्म सभा को संबोधित करते हुए आचार्य रत्नकननंदी जी गुरुदेव ने कहा कि जो षोडशकारण भावनाओं को भाता है, उन्हें अपने आचरण में क्रियान्वित करता है वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ महान् क्रांतिकारी युगदृष्टा तीर्थकर बनता है। वह अपनी त्याग तपस्या संयम-साधना से विश्व के सभी जीवों को प्रभावित करता है। जगत्गुरु, सब जीवों के उपकारी, क्रांति के अग्रदूत, सर्वजीव पुखकारी, सर्वजीव हितकारी, उभय लोक मंगलमय, सभी सुखों के कारण तीर्थकर भगवान् होते हैं। तीर्थकर बनने से पूर्व वे अपने लक्ष्य को सही रूप में क्रियान्वित करते हैं। जब तक हमारा लक्ष्य सही रूप में क्रियान्वित नहीं होगा सही दिशा की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक कार्य हमारी भावनाओं, इच्छाओं, कल्पनाओं, मनस्थिति के आधार पर पूर्ण होता है। इसीलिए हमारी ऋद्धा, आस्था, विश्वास, दृढ़ आस्था, विश्वास के साथ विवेकी, विनयी, नम्र, विनम्र होना अति आवश्यक है लेकिन आततायी, दुष्ट, पापी, अन्यायी के सामने विनयी, आमाशील भी नहीं होना चाहिए।

जहाँ परस्पर में अनुपूरक, सहकारी है, विरोधात्मक नहीं है वहीं सहजता, सरलता, विनय गुण का भाव प्रगट होता है। क्योंकि विश्व का यह नियम है— प्रत्येक कार्य, गुण, नियम, सिद्धान्त सभी तथ्यों के मिलने पर प्रभावित होता है। हर जगह, हर वस्तु में चतुःआयाम सिद्धान्त काम आता है। एकांगी जहाँ भी होता है वहीं मिथ्या घटित होता है। जिस प्रकार वस्त्र का निर्माण तानों-बानों के द्वारा होता है, रसी एक-एक तिनका मिलकर बनती है उसी प्रकार षोडशकारण भावनायें जबतक अनुपूरक नहीं होगी तीर्थकर बन नहीं सकते। 16 भावनाओं के अंतर्गत आज मैं तीसरी भावना शीलव्रतों में अतिचार—अनाचार नहीं लगाना इस विषय में प्रकाश डालूँगा।

शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना/प्रमाद से रहित सजग-सतत होकर व्रतों का पालन करना। यहाँ शील का अर्थ केवल ब्रह्मचर्य से नहीं है बल्कि व्यापार, गुण, प्रकृति, सम्पूर्ण क्रिया कलाओं को लेना ही शीलव्रतेष्वनतिचार है।

केवल ब्रह्मचर्य को लेना तो एकांगी हुआ, एक अंग, एक भाग हुआ इसीलिए सम्पूर्ण व्रतों के परिपालन हेतु मन-बचन-काय की निर्दोष प्रवृत्ति करना शील व्रतेष्वनतिचार है। इस प्रकार सम्पूर्ण व्रतों का अतीचार-अनाचार रहित जब पालन किया जाता है तो आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक, वैचारिक, नैतिक, वैश्विक सभी प्रकार की शक्तियों में अभिवृद्धि - समृद्धि होती है। इन शक्तियों के माध्यम से ही सभी में परिवर्तन होता है। दुनियाँ झुकती है झुकाने वाला चाहिए। पहले स्वयं को आचरणों से युक्त करना होगा तभी हमारा प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। लोहा बहुत मजबूत - शक्ति शाली होता है लेकिन जंग लगने पर टूट जाता है। इसीप्रकार ये व्रत बहुत ही शक्तिशाली, प्रभावशाली हैं लेकिन अतीचार-अनाचार रूपी जंग लगने से मानव का समस्त विकास विनाश को प्राप्त हो जाता है।

किसी का शरीर तो ऊपर से खुब हष्ट-पुष्ट है लेकिन अंदर में रोग के वायरस लग गये तो शरीर नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार व्रतों के द्वारा मानव पतित अवस्था, दुःखी अवस्था से निकलकर सुख को प्राप्त कर सकता है लेकिन व्रतों में अतीचार-अनाचार रूपी वायरस लग जाने से वही अच्छे-सुख पहुँचाने वाले व्रत ही मनुष्य को विनाश के गर्त में डुबो देते हैं। इसीलिए इन अतीचार-अनाचार को छोटा दोष मानकर नहीं चलना चाहिए। बड़ों की अपेक्षा छोटे अधिक खतरनाक होते हैं। बड़े-बड़े शेर - चीतों के द्वारा बहुत कम व्यक्ति मरते देखे जाते हैं लेकिन छोटे-छोटे खटमल, मछरों से बहुत से लोग मरते देखे जाते हैं। बाहरी शत्रु से जितनी क्षति नहीं होती जितनी कि अन्तरंग शत्रु-क्रोध-मान-माया-लोभ-कषाय आदि के द्वारा होती है। यही छोटी-छोटी कमियाँ, दुर्बलतायें परिवार, समाज, राष्ट्र को नष्ट करती हैं। हम विष को विष मानते हैं लेकिन बीड़ी, सिगरेट को विष नहीं मानते। लोहा को कुधातु मानते हैं। जबकि वह इतना मजबूत होता है। ऐसा क्यों? जब मैंने इसका विश्लेषण किया तो पाया कि लोहे में जंग लग जाता है। इसीलिए वह मजबूत होने के बाद भी जंगल लगने पर टूट जाता है। जबकि अन्य धातुएँ, पीतल, सोना, चाँदी, ईंट, पथर आदिमें जंग नहीं लगता और वे लोहे की भाँति नहीं टूटते हैं। इसीलिए लोहे से श्रेष्ठ ईंट पथर को मानते हैं।

इसीप्रकार आत्मा में, व्रतों में, शीलों में अतीचार, अनाचार रूपी जंग लगती है। मानसिक शुद्धि की हानि अतिक्रम है। व्रतों में नियमों में, गुणों में मानसिक कमजोरी आ जाये तो महाशत्रु का प्रवेश हो गया। मन की गति प्रकाश की गति

मी तीव्र होती है। मनुष्य का मस्तिष्क 10 खरब सेलों से निर्मित है। जहाँ इच्छा शक्ति, मन के संकलप दृढ़ है वहाँ बंद रास्ते भी खुल जाते हैं। 'जहाँ चाह वहाँ राह' इसीलिए पहले मानसिक संकल्प शक्ति की चेतना जागृत करनी चाहिए।

मानसिक शक्ति नष्ट होने पर स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार, अत्याचार, पापाचार, अन्याय, अनैतिकता, घमण्ड, ईर्ष्या आदि दृष्टण दुर्गुण प्रवेश कर जाते हैं। इसीलिए कहा कि जो अच्छा कार्य हाथ लिया उसे पूर्ण करके ही दम लो। बड़े-बड़े दार्शनिक वैज्ञानिक, संत, ऋषि, महात्मा पुरुष संकल्प शक्ति, मानसिक चेतना को जागृत करके ही महान् ज्येष्ठ श्रेष्ठ बनें।

सुकुमाल, सुकोशल, पाण्डव आदि महान् पुरुषों ने मानसिक शक्ति, इच्छाशक्ति में हीनता को प्रवेश नहीं दिया इसीलिए इतने भयंकर धोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके अपने लक्ष्य तक पहँचने में कामयाब हुए। लेकिन आज का यह प्राणी थोड़ी सी आपत्ति-विपत्ति आने पर अपनी मानसिक चेतना को हीन बनाकर व्रत नियम तोड़ देता है और ऊपर से तमाम जूठे बहाने खोजकर अपनी दीनता प्रकट करता है।

विषयाभिलाषा दूसरी प्रमुख कमजोरी है। भोगों में आसक्त होकर व्रत-नियम-शील सदाचार को समाप्त कर देता है। यह संसार भ्रमणशील, परिवर्तनशील है। तन, मन, धन सभी कुछ क्षणभंगुर है। चंचल-विनाशिक हैं। इसीलिए लक्ष्मी (सम्पत्ति) को स्त्रीलिंग में रखा है क्योंकि वह बहुत चंचल होती है। शुभ कार्यों को शीघ्रताशीघ्र कर लेना चाहिए। अशुभ कार्यों के दूरगामी परिणामों को सोचते हुए बहुत ही दूरदर्शी विवेकी बनकर करना चाहिए। रावण सोचता रहा मैं नरक का द्वार बंद करके स्वर्ग जाने के लिए सोने की सीढ़ियाँ बनाऊँगा। लेकिन यह कार्य तो कर नहीं पाया; सीता का हरण शीघ्र कर लिया। इसीलिए स्वयं के साथ सोने की लंका का भी विनाश कर दिया। हम लोग भी अच्छे कार्यों के बारे में वर्षों सोचन-सोचने में निकाल देते हैं। संयम-नियम-वृत्त-तप-त्याग उपवास दान आदि के लिए बुढ़ापा आ जाता है फिर भी सोचकर निर्णय नहीं कर पाते और बुरे काम, अशुभ कार्य शीघ्रता के साथ कर लेते हैं। कर्तव्यों के प्रति हमेशा आलसी बने रहते हैं। दो व्यक्ति थे। एक बार वे जंगल से होकर गुजर रहे थे तो चलते-चलते भूख लगी। एक जामुन के वृक्ष के नीचे दोनों लेट गये कि पके जामुन हमारे मुँह में गिरेंगे तो हमारी भूख शांत हो जायेगी। जब एक भी जामुन मुँह में नहीं

गिरा तब नजदीक से दूसरा व्यक्ति निकला तो पहले व्यक्तिने उससे शिकायत की ये मेरा दोस्त इन्हा आलसी है कि मेरे मुख में नहीं डालता है। मैं भूखा होने पर भी पास में पड़े जामुनों को तब उसका मित्र बोला तुम मेरे से भी अधिक आलसी हो; मेरे मुँह को कुत्ता चाँटता रहा लेकिन तुमने तो कुत्ते को भी नहीं भगाया। हम सब भी इसी प्रकार के आलसी हैं। कर्तव्य कुछ नहीं करेंगे लेकिन नाम चाहेंगे। संविधान के अंतर्गत अधिकार तो बहुत लिखे हैं लेकिन कर्तव्य पालन बिल्कुल कम है। लेकिन मेरा मानना है अधिकार से महान् कर्तव्यपालन।

ब्रतों में अतीचार

अनाचार कर्तव्य पालन न करने के कारण ही तो लगते हैं। हम अपने कर्तव्यों के प्रति सजग नहीं रहते। बौद्ध मतावलम्बी एक ब्रह्मचारी था। वह हमेशा कहा करता था— जीवों को नहीं मारना चाहिए, जीवों के मारने से पाप लगता है। लेकिन एक दिन लोगों ने देखा। ब्रह्मचारी ने एक बकरे के चारों पैर बाँधकर उसके मुँह में धास भर दी है, आँखों पर पट्टी बाँध दी है। लोगों ने कहा— आप सभीको अहिंसा पालन का उपदेश देते हो और स्वयं ब्रह्मचारी बनकर ऐसा कार्य कर रहे हो? ब्रह्मचारी बोला— बुद्ध ने लिखा है कि किसी जीव को मारकर उसका माँस खाने से हिंसा का पाप लगता है लेकिन वह स्वयं मर जाये तो उसका माँस खाने में दोष नहीं है। इसीलिए मैंने इसे मारा कहाँ है। यह मर जायेगा तो उसका माँस खाऊँगा।

आत्मा का स्वभाव स्वतन्त्र है। प्रत्येक जीव स्वतंत्रता का अहसास करता है उतना परतंत्रता में रहकर नहीं। छोटे बच्चों को भी स्वतंत्रता से आनंद होता है। स्कूल से छुट्टी होते ही बच्चे हल्ला करते हैं खुश होते हैं। महिलायें धर्मस्थान मंदिर आदि में अधिक क्यों दिखाई देती हैं? क्योंकि घर के बंधनों में बंधी रहती हैं इसलिए वे कुछ समय के लिए स्वतंत्रता चाहती है। पशु-पक्षी, पेड़ पौधे सभी को स्वतंत्रता में सुख महसूस होता है। एक तोते को या किसी भी पक्षी को सुंदर पिंजरे में रखों उसे सुंदर भोजन भी दो लेकिन वह पिंजरे में उतना खुश नहीं रहेगा जितना कि खुले बतावरण में। क्योंकि स्वतंत्रता आत्माका स्वभाविक गुण है। इसीलिए बन्ध, वध, छेद, अतिभाररोपण, अन्नपान का निरोध ये पाँच अतीचार अहिंसा व्रत के बताये हैं।

बन्ध—इच्छित स्थान में जाने का निरोध का कारण बंध है। इच्छित स्थान पर कोई व्यक्ति या पशु-पक्षी जाना चाहता है उसे जाने नहीं देना रसी आदि से बाँध देना वह बंध कहलाता है। कुत्ता पालन, पशुपक्षी पालन, घर में नौकर दास-दासी रखना ये भी पाप के कारण हैं। अभी वर्तमान में दास प्रथा कम है। पहले दास प्रथम बहुत ही ज्यादा थी उसमें दासों को बहुत यातनायें दी जाती थीं। आजकल नौकर का प्रचलन अधिक है भले ही स्वयं की आजीविका कम होगी लेकिन दिखावे के लिए नौकर अवश्य रखेंगे। नौकर रखकर उसे कष्ट पहुँचाना भी पाप है। अतीचार है। हिंसा है। प्राणी पीड़ा का नाम ही वध है। डंडा, कोड़ा, बेंत आदि से पीटना या खरे खोटे वचन बोलना वध है न कि प्राणि हत्या। अंगों के छेद करना जैसे नाक, कान को छेद करके रसी डाल देते हैं, हाथ पैरों में रसी डाल देते हैं। ये भी महा हिंसा है, भले ही उस प्राणी की मृत्यु, नहीं कर रहे हो लेकिन छेद करके उसे पीड़ा तो पहुँचा रहे हो। उचित भार से अधिक लादना। जैसे छोटे-छोटे बच्चे हैं उन पर बड़े-बड़े बस्तों का भार लादना उन्हें पढ़ने के लिए अधिक बाध्य करना भी हिंसा है। जैन धर्म बहुत ही सूक्ष्म, विशाल विश्व का धर्म है। इसमें विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणा, उदारता की रक्षा-सुरक्षा का भाव निहित है। किसी को भी शारीरिक-मानसिक—आत्मिक अशांति, कष्ट, दुःख संक्लेश नहीं पहुँचाना ही अहिंसा है।

किसी का भोजन बंद कर देना या भूख से कम देना ये भी हिंसा में गई है। भोजन तो दे रहे हैं लेकिन समय पर नहीं दे रहे हैं यह भी पाप है। संप्रति चंद्रगुप्त को मुनि बनने के बाद आहार ही नहीं मिला। क्यों नहीं मिला? तो उनके पिछले जीवन से पता चलता है कि जब वे राजा थे तब जो काम करने वाली महिलायें होती थीं उन महिलाओं को वह अपने बच्चों को दूध पिलाने का भी समय नहीं देता था। अगर कोई महिला काम छोड़कर अपने छोटे बच्चों को दूध पिला देती थी तो वह उनकी मजदूरी काट देता था। उनको दूध तक पिलाने के लिए मना करता था। भगवान् आदिनाथ ने बस इतना ही कहा था कि पशु फसल खाते हैं तो इनके मुँह पर पट्टी बाँध दो। इस पाप से छह महिने तक भोजन नहीं मिला था। इसीलिए किसी के खाने पर नियन्त्रण नहीं लगाना। अगर तुम किसी का खाना खा करोगे तो तुम्हें भी खाना नहीं मिलेगा। चौके के लिए मना कर देना यह भी अनाराय कर्म के बंध का कारण है। सभी को खाना खिलाने के बाद गृह मालिक

को खाना चाहिए। आज तो हम अपने बृद्ध माँ बाप को पानी तक के लिए नहीं पूछते तो क्या अहिंसा मूलगुण का पालन करेंगे। जिन माँ बाप ने हमारे लिए सब कुछ किया उनके प्रति हमारे, करुणा, दया, सेवा परोपकार के भाव नहीं तो दूसरों के प्रति हमारे ये भाव कैसे बनेंगे?

अहिंसा व्रत के ये पाँच अतीचार हैं, व्रत के दृष्टिगत हैं, अगर हमें अहिंसक बनना है तो इन पाँच बातों से तो बचें ही। इसके अलावा भी अनेकों छोटे अपराध हैं जो कि अहिंसा व्रत में दोष लगाते हैं लेकिन मोटे रूप से ये पाँच कारण हैं।

सत्य व्रत के अतीचार

मिथ्या उपदेश रहो भ्यासख्यान कूटलेख क्रिया न्यासापहार साकारमंत्र भेद।

1. यथार्थ क्रियाओं को छिपाना और निःश्रेयसार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति कराना, उनके प्रति उल्टी बातें कहना मिथ्या उपदेश है। जो बात नहीं है उससे विपरीत बात कहना।

2. गुप्त बात को प्रकट कर देना किसी ने आपके ऊपर विश्वास करके, आपको अपना सर्वस्व मानकर मन की गुप्त बातें कही आपने उस गुप्त बात को अन्य के सामने प्रगट कर दी। यह सत्य के प्रति अतीचार दोष लगा।

3. कूट लेख क्रिया किसी के नहीं कहने पर भी, किसी दूसरों की प्रेरणा से यह कहना कि 'उसने ऐसा कहा है या ऐसा किया है' ऐसा ठगने के लिए लेख लिखना, झूठे दस्तावेज आदि लिखना सत्य व्रत के अतीचार हैं।

4. न्यासापहार कम वस्तु देना या किसी ने कोई वस्तु दी वह भूल से कम मांगे तो उसकी मांग अनुसार उतनी ही देना कम देना उसे बताना नहीं कि तुमने इतनी नहीं दी थी। यह सत्य के प्रति धोखा है।

5. साकारमंत्र भेद किसी के गुप्त प्रयोजन या योजना को ईर्ष्यावश दूसरों अन्य किसी से जानकर उसे प्रकट कर देना ये सत्य व्रत का अतीचार है।

अचौर्यव्रत के अतीचार

स्तेनप्रयोग तदादृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिकमनोन्मान प्रतिरूपक व्यवहार।

स्तेनप्रयोग

चोर कर्म में स्वयं को प्रवृत्त करना, चोरी करने वाले को उपाय बताना, चोर व चोरी की प्रशंसा करना, उसे अच्छा मानना ये सब स्तेनप्रयोग हैं। चोरी से उपर्जित

घरवाले के यहाँ साधु लोग आहार करके आते हैं तो उनके परिणामों में मलीनता आ जाती है।

एक मुनिराज सेठ जी के घर आहार करने गये। उनके घर से हार चोरी करके ले आये। जब आहार करके वापिस जंगल में आये तो शौच क्रिया से निवृत्त होकर सामायिक में बैठे तो उन्हें अपने कृत्य पर बहुत ही पश्चाताप / ग्लानि हुई कि मैं एक साधु— यह मैंने क्या किया ? मैं तो एक बड़ा राजा था। मेरे घर में सब कुछ था। फिर मैंने साधु होने के लिए, अपनी आत्म शुद्धि हेतु तो राज्य वैभव का त्याग किया और तुच्छ हार चुराकर मैंने साधुता को ही समाप्त कर दिया। वे मुनिराज अपनी निंदा आलोचना करने लगे। इधर जब घर में सेठजी ने देखा कि मेरा हार तो है नहीं। घर में कोई आया भी नहीं तो हार कहाँ गया ? उसने सभी जगह हार खोजा लेकिन हार था ही नहीं तो मिले कहाँ से ? आखिर वह सेठ जंगल में मुनिश्री के पास आया और अपने हार खोने की बात मुनिराज से कही। तब मुनिराजने सेठ को पूछा – आप व्यापार क्या करते हो ? सेठ ने कहा— मगालिंग। मुनि ने कहा आप ऐसा व्यापार करते हो आपके धन का भोजन मैंने किया इसीलिए मेरे भाव भी चोरी के हो गये। मैं ही हार चुराकर लाया था। आहार करने के बाद मैं शौच गया। शौच आने के बाद ही मेरे परिणाम बदले। मैंने प्रायश्चित्त आदि किया। यह सब चोरी के धन का ही सायिक प्रभाव है। इसीलिए कहा है "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन"

महाभारत युद्ध के समय भीष्म पितामह जब शरशैव्या पर शयन करके मृत्यु के अन्तिम क्षणों की प्रतीक्षा कर रहे थे तो पाण्डव उपदेश सुनने के लिए उनके पास जाते हैं और उपदेश के लिए प्रार्थना करते हैं। इस अवसर पर द्रौपदी हँसने लगती है तब पाण्डव बोलते हैं कि हे द्रोपदी! इस अवसर पर हँसना मर्यादा का उल्लंघन करना है। तब भीष्म पितामह बोलते हैं कि हे पाण्डवों ! द्रौपदी जो हँस रही है वह ठीक हँस रही है। उसका कारण है। पाण्डव पूछते हैं हे पितामह ! इसका क्या कारण है ? पितामह बोलते हैं कि हे पाण्डवों ! जब आप लोगों ने मुझसे उपदेश के लिए प्रार्थना की तब द्रौपदी सोचती है कि ऐसे अन्यायी पितामह क्या उपदेश दे सकते हैं ? पाण्डव पूछते हैं हे पितामह ! आप अन्यायी कैसे हैं ? पितामह कहते हैं पाण्डवों ! मुझे मालूम था आधे राज्य के उत्तराधिकारी आप ही हो परन्तु आप लोगों ने आप लोगों को सुई की नौक से बराबर भी राज्य नहीं दिया तो भी

मैंने आपको राज्य नहीं दिलवाया। भरी राजसभा में कुलवधू द्रोपदी का चीर हरण हुआ तथापि मैंने उसका विरोध नहीं किया। इतना ही नहीं कौरव और पाण्डवों में युद्ध हुआ तब मैंने जानते हुए भी अन्यायी कौरवों का ही पक्ष लिया। केवल पक्ष ही नहीं लिया अपितु उसका प्रधान सेनापति बनकर आप लोगों के विरुद्ध युद्ध भी किया। मेरा अन्यायी बनने का कारण, अन्यायी कौरवों का पक्ष लेना एवं भोजन करना है। अर्थात् उनका अन्यायमय भोजन करके मेरी भी बुद्धि अन्यायमय हो गयी। हे द्रोपदी! अब मैं उपदेश देने के योग्य हूँ क्योंकि अर्जुन के बाणों के कारण मेरा दूषित रक्त निकल गया है। इस कहानी का निष्कर्ष यही है कि अन्यायपूर्ण व्यक्ति का भोजन करने वाले भी अन्यायी हो जाते हैं। हिंसात्मक रूप से धन उपार्जन करने वाले भी हिंसक ही हैं। द्रव्यरूप से भोजन शुद्ध होते हुए भी दूषित भाव से भावित होने पर शुद्ध भोजन भी अशुद्ध हो जाता है।

तदाहृतादान- चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना। चोरी का माल खरीदने से पर पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष होते हैं।

विरुद्ध राज्यातिक्रम- उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महाकीमत पर देना। जैसे अध्यापक, जज, वकील आदि ये लोग सरकारी वेतन भी प्राप्त करते हैं एवं अन्य प्रकार से भी अन्यायपूर्ण आजीविका चलाते हैं ट्यूशन आदि करके।

हीनाधिक मानोन्मान- क्रय-विक्रय प्रयोग में तराजू आदि को हीनाधिक रखना। दूसरों को देते समय कम वजन वाले बाँटों से देना और लेते समय अधिक वजनवाले बाँटों का प्रयोग करना। कीमती वस्तुओं में सस्ते मूल्य वाली वस्तु मिलाना जैसे-चावल — दाल मूँगफली आदि में उसी रंग रूप के पत्थर आदि मिलाना। डालडा में चर्बी, देशी धी में डालडा, दूध में पानी ही नहीं आजकल तो जहर मिलाते हैं जिसे सिन्थेटिक दूध-धी कहते हैं। मुझे यह देखकर भारतके प्रति बहुत ही पीड़ा दुःख होता है। कैसा था यह भारत और कैसा होता जा रहा है। इससे तो पाश्चात्य देश बहुत हद तक ईमानदार, सत्यनिष्ठ, देशप्रेमी हैं। एक बार जापान में एक भारतीय गया। वह दूध खरीदने गया तो दूधवाले से पूछता है क्या दूध शुद्ध है? जापानी दूध वाला आश्चर्य करता है कि दूध भी शुद्ध-अशुद्ध होता है। जब उसे समझ में नहीं आता तो भारतीय को फिर प्रश्न करता है कि आप कैसा दूध चाहते हैं? भारतीय कहता है मैं बिना पानी का दूध चाहता हूँ। जापानी दूधवाला कहता

है— हमारे यहां दूध में पानी नहीं मिलाता क्योंकि ये दूध तो हमारे ही देशवासी भाईयों के लिए है। ऐसे अनुचित कार्य करने से हमारे ही भाई बंधु दुर्बल होंगे फिर राष्ट्र की सुरक्षा, रक्षा, बचाव कौन करेगा? ऐसे कार्य करना तो बहुत बड़ा राष्ट्रीय अपराध हैं। वास्तव में कितनी महान् है पाश्चात्य देशों की भावनायें! जिस भारतदेश में अतिथि देवो भवः की परम्परा सर्वश्रेष्ठ महत्वपूर्ण परम्परा थी आज उस देश में अतिथियों की सेवा सल्कार तो दूर विष खिला-पिला रहे हैं।

प्रतिरूपक व्यवहार- कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना और दूसरों को ठगना। यह प्रक्रिया भी भारत वासियों में अत्यधिक है। इस क्रिया के बिना उनका व्यापार धंधा चलता ही नहीं। छोटे व्यापारी से लेकर बड़े व्यापारी असली वस्तु में नकली वस्तु मिलाते ही हैं। ये सब चोरी के अतीचार हैं, दोष हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतीचार — परविवाहकरण ता इत्वरिका, परिग्रहीता गमनं अनंगक्रीडा, कामतीव्राभिनिवेश।

परविवाह करणं- साता वेदनी कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरें के विवाह को परविवाह कहते हैं। दूसरें के विवाह कराने को परविवाह करण कहते हैं। स्वयं के बच्चों की शादी तो कर दी लेकिन दूसरों की शादी कराने की चिंता करना ये भी पाप ही है।

अपरिगृहीताइत्वरिका- ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान नृत्यादि कला और चारित्र मोह नामक स्त्रीवेद के उदय से विशिष्ट अंगोपांग के लाभ से जो परपुरुषों को प्राप्त होती है, पर पुरुषों की सेवा करती है, उनको अपने अधीन करती है वह व्यभिचारिणी स्त्री कहलाती हैं। जो वेश्या रूप में परपुरुषों को सेवन करती है। वह इत्वरिका अपरिगृहीता कहलाती है।

परिगृहीता इत्वरिका — जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है, जिसका एक स्वामी विद्यमान है वह फिर भी परपुरुषरमणशील है वह परिगृहीता इत्वरिका है। इस प्रकार अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिकाओं से संबंध रखना, उनके यहाँ आना-जाना अपरिगृहीता इत्वरिकागमन अतीचार है।

अनङ्गक्रीडा- कामसेवन के अंगों के अलावा अन्य अंगों से काम चेष्टा करना।

कामतीव्राभिनिवेश- काम की तीव्र प्रवृत्ति, सतत् कामवासना से पीड़ित रहकर विषय सेवन में लगे रहना कामतीव्राभिनिवेश हैं।

परिग्रह परिमाणव्रत के अतीचार- क्षेत्र, वार्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्य,

दासी-दास, कुप्य, भाण्ड। तीव्र लोभ के वशीभूत होकर इनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, आदि परिग्रह की अतिलोभ की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाण का अतिक्रम है। ये परिग्रह के अतीचार हैं। ये व्रतों के रक्षा कवच हैं। जिस प्रकार खेत की रक्षा-सुरक्षा हेतु बाढ़ होती है उसी प्रकार व्रतों की रक्षा हेतु ये अतीचार अनाचार नहीं लगाना ही शील/सदाचार है। ये बुलटप्रफ की तरह है इनकी रक्षा से ही हमारी रक्षा है।

6

अभीक्षणज्ञानोपयोग

सतत् ज्ञान का अभ्यास दुःखों से दिलाये मुकित

(उदयुर) धर्मसभा को संबोधित करते हुए पूज्य आ. रत्न कनकनंदीजी गुरुदेवने अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना के विषय में प्रकाश डालते हुए कहा कि अभीक्षण ज्ञानोपयोग का अर्थ है— अभि माने चारों तरफ से, समग्रता के साथ, पूर्णता को लिए हुए, अंतरंग-बहिरंग से परिपूर्ण ज्ञान में उपयोग लगाना, ज्ञान की आराधना—उपासना करना, ज्ञान की साधना करना, अभ्यास करना, आत्मसात करना, जीवन में क्रियान्वित करना ही अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। इस भावना से हमें यह शिक्षा एवं प्रेणा मिलती है कि सनप्र सत्याग्राही, विनयवान बनने के बाद ही ज्ञान की आराधना—उपासना—साधना करनी चाहिए। बिना ज्ञान के सत्यनिष्ठा, व्रतों में निरतिचार आचरण में पूर्णता नहीं आती है। 'बिन जाने तेतो दोष गुनन को कैसे तजिए, गहिए' जब तक हमें विषयवस्तु के बारे में ज्ञान, अनुभव, जानकारी ही नहीं होगी तब तक हम उस वस्तु के क्या तो गुणों को ग्रहण करें या कौन से दोषों को छोड़ें? इसीलिए पहले ज्ञानार्जन करना चाहिए। दशवैकालिक में कहा है—

पठमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठई सब्वसंजंगम्।

अन्नाणी किं काही किं वा वाहिइ हेय पावगम्॥

पहले ज्ञानार्जन करो फिर जीवों की रक्षा करो। बिना ज्ञान के दया पालन करते हो तो कथंचित् वह दया, अहिंसा आत्मघाती स्वार्थ परता से युक्त भी हो सकती है। जिस प्रकार डॉक्टर गरीब रोगी की परिचर्या करता है, उसे दवा आदि

देता है लेकिन गरीब से भी पैसा नहीं छोड़ता, गरीब से उसकी शक्ति से अधिक पैसा लेता है तो वह दवा नहीं हुई। व्यापारी, मजदूर कुट्टल, चावल, मेवा आदि के बोरे उठाकर इधर से उधर रखते हैं तो क्या भगवान् की पूजा हो गयी? होटल में हजारों व्यक्तियों को खाना खिलाते हैं तो क्या अतिथि सेवा हुई? नहीं। यह मोक्षमार्ग अकेले से नहीं होता समन्वय से ही मोक्षमार्ग संभव है। ज्ञान को बीच में इसीलिए रखा कि बिना ज्ञान के क्रियायें अनर्थकारी विपरीत हो सकती हैं। सही ज्ञान का भान नहीं है तब तक क्रियायें उल्टी हो जाती हैं। जैसे— एक सासुने बहू से कहा— बहू घर का कचरा सड़क पर आदमी को देखकर फेंकना; ऐसे ही मत फेंक देना। घर का कचरा निकालकर बहू सड़क पर खड़ी-खड़ी आदमी की प्रतीक्षा करती रही कि कोई आदमी निकले मैं कचरा फैंक दूँ। जब बहुत समय हो गया तो सासु ने कहा— बहू अभी तक इतना समय हो गया क्या घर की सफाई नहीं की। अरे! माँ घर की सफाई तो बहुत जल्दी हो गई लेकिन आपने कहा था कि सड़क पर आदमी को देखकर कचरा फेंकना तो मैं कबसे खड़ी-खड़ी सड़क पर आदमी आने की प्रतीक्षा कर रही हूँ। आदमी आने की बात दूर रही कोई बच्चा तक नहीं आ रहा जिसे देखकर मैं कचरा फैंक दूँ। सासु ने बहू की बुद्धिमत्ता, ज्ञान को देखकर माथा पीटा और कहा अरी! पगलो! मैं ने कहा था कि सड़क पर जब कचरा फैंके तो वह देखना कि कचरा फैंकते समय कोई आदमी तो नहीं है, कचरा आदमी के ऊपर ना गिर जाये। अगर तूने बिना देखे कचरा फैंक दिया और नीचे कोई चल रहा हो तो उसके ऊपर कचरा गिरने से वह झगड़ा नहीं करेगा क्या? इसी प्रकार बिना विवेक के ज्ञान के द्वारा जो क्रियायें होती हैं वे धार्मिक नहीं बल्कि रुद्धिवादी होती हैं। वे आत्महित, मोक्ष को नहीं देतीं बल्कि संसार में ही परिप्रभण कराती हैं। इसीलिए विवेकपूर्वक ज्ञान के द्वारा जो क्रियायें होती हैं वही यथार्थ होती हैं एवं सही फलप्रदान करती हैं।

एक रोगीको डॉक्टरने दवा दी और कहा कि रोगी को दवा हिलाकर पिला देना। घर आकर रोगी की गरदन पकड़कर खूब जोरदार हिला दिया। वह तो पहले ही रोगी था जोरदार हिलाने से रामनाम सत्य हो गया। इसीलिए छहठाला में दौलतरामजीने चतुर्थ ठाल के अंतर्गत कहा है कि 'कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरे जे, ज्ञानो के छिन माँहि त्रिगुप्ति तै सहज टलै जै।' अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों में जिन कर्मों का क्षय करता है उस कर्म को विवेक सहित ज्ञानी

मनःवचन काय गुप्ति से एक श्वास मात्र में नाश कर देता है। उपनिषद में ज्ञान की महिमा – गरिमा बताते हुए लिखा है कि ज्ञान के समान पवित्र अन्य दूसरा कुछ भी नहीं है।

मूलाचार ग्रंथ में ज्ञान की परिभाषा बताते हुए आचार्य वट्टेकर स्वामी लिखते हैं कि –

जेण तच्चा विवुज्जेज्ज जेण चित्तंणिरुज्जदि॥

जेण अता विसुज्जेज्ज तं णाणं जिण सासणे॥

जिससे तत्त्व का बोध होता है, मन का निरोध होता है, आत्मा शुद्ध होता है, वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, मन का व्यापार रोका जाता है, जीव वीतराग हो जाता है ऐसा ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है। अर्थात् जो ज्ञान संशय, विपर्यय अनध्यवसाय से रहित हो वही ज्ञान यथार्थ, प्रमाणिक ज्ञान है।

ज्ञान के बराबर दुनियाँ में दूसरी अन्य कोई उपलब्धि नहीं। सबसे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, महान् ज्ञान ही होता है। धनवान् और विद्वान् में श्रेष्ठ कौन? विद्वान् क्योंकि धनवान् तो ज्यादा से ज्यादा अपने देश में ही आदर सल्कार को प्राप्त हो सकता है, उसके अधिकार परिवार से दुकान तक ही हो सकते हैं लेकिन विद्वान् की पूजा सर्वत्र ही होती है। इसीलिए जिसके पास ज्ञान नहीं उसे पशु की संज्ञा दी है।

येषां न विद्या तपो न दानं - ज्ञानं न शीलं गुणो न धर्मः।

ते मृत्युलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरुपेण मृगाश्चरन्ति॥

जो विद्याअभ्यास नहीं करते, ज्ञानार्जन नहीं करते, सल्कार्य के लिए पुरुषार्थ नहीं करते, परोपकार के लिए दान नहीं देते, शालीनता, नप्रता, सौजन्यता आदि सद्गुणों से युक्त नहीं होते वे इस पृथ्वी पर भार स्वरूप मनुष्य के रूप में पशु के समान हैं। इससे सिन्धु होता है कि जो केवल पेट, पेटी, प्रजनन आदि पशुत्व प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है उसने यथार्थ से मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं किया है। पशुत्व से निवृत्त होकर मनुष्यत्व को प्राप्त करके महामानव से भगवान्, ज्ञानवान् बनने की जो प्रक्रिया है उसे ही यथार्थ शिक्षा या ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का यथार्थ महत्व, तो यह है कि 'सा विद्या य विमुक्तये'। ज्ञान वह है जो मुक्ति प्रदान करे अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है, सभी मानसिक, शारीरिक बंधनों को तोड़कर सच्चिदानन्द, ज्ञानानन्द, परमात्मतत्त्व की उपलब्धि हो ऐसा ज्ञान ही यथार्थ, कार्यकारी, सम्यकज्ञान है। नहीं तो क्रियारहित, विवेकरहित

ज्ञान तो भार स्वरूप है।

'साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम्॥'

विपरीत आचरण करने वाले साक्षर व्यक्ति भी राक्षस है। बड़े-बड़े डॉक्टर, इंजीनियर, जज, वकील, मास्टर आदि पढ़े लिखे राक्षस हैं, नौकर हैं। क्योंकि कर्तव्य निष्ठा, दूसरों के प्रति सद्व्यवहार, अहिंसा, सत्य, धैर्य, क्षमा, करुणा, सरलता, नप्रता, परोपकार, संवेदनशीलता, सहिष्णुता आदि सद्गुणों के बिना व्यक्ति व राष्ट्र कितना भी साक्षर क्यों न हो वह सही रूप में शिक्षित नहीं है वह तो निरक्षर, ग्रामीण, आदिवासी म्लेच्छों से भी अधिक भ्रष्ट, पतित, दुराचारी, अन्यायी, अत्याचारी, मायाचारी, पापाचारी हैं। वर्तमान समय में अधिकांश लोग पढ़े लिखे राक्षस ही अधिक हैं।

ज्ञान कैसा होना चाहिए? हित का ज्ञान कराने वाला अहित का परिहार करने वाला होना चाहिए। रटन्त ज्ञान नहीं होना चाहिए। जैसे एक तोते को सिखाया कि 'बिल्ली से सावधान' तोता हर समय रटता रहता 'बिल्ली से सावधान'। एक बार बिल्ली नजदीकआ गयी फिर भी तोता बोलता रहा बिल्ली से सावधान। बिल्ली ने तोते को मुँह में रख लिया तोता फिर भी बोलता रहा बिल्ली से सावधान। केवल तोता की तरह खूब बड़े-बड़े ग्रंथों को पढ़कर रट लिया तो क्या पंडित, विद्वान बन गये? इस प्रकार का पढ़ना तो इस प्रकार है कि-

पंडिय -पंडिय-पंडिय कण छोडि तुसहिं खंडिया

सद्दो अत्थोसि मूढोसि परमत्थो ण जाणहि मूढोसि॥

ऐसे पंडित, विद्वान् तो चावल को छोड़कर भूसे को कूटते हैं। वे केवल शब्द, अर्थ में अटक करके सत्य से, धर्म से, कर्तव्य से भटक जाते हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में तो कम्प्यूटर में एक साथ कई बड़े-बड़े ग्रंथ इनपुट कर लिया जाते हैं तो क्या कम्प्यूटर विवेकवान-ज्ञानवान हो गया। सम्यक् श्रद्धा एवं सम्यक् चारित्र से रहित विपुल मतिज्ञानश्रुतज्ञान से भी मोक्ष नहीं हो सकता। इतना ही नहीं मोक्ष का साधक श्रमण ही क्यों न हो। कुंदकुंद स्वामी ने भाव प्राभृत में उदाहरण सहित बताया है कि-

अंगाइं दस य दुष्णि य चउदस पुव्वाइं सयल सुदण्णो।

पढ़िओ अभव्वसेणो ण भाव सवणत्तणं पत्तो॥

द्वादशांग एवं चतुर्दश पूर्वात्मक सकल श्रुतज्ञान को पढ़कर भी भव्यसेन मुनि भावश्रमण नहीं हुए। भव्यसेन मुनि सम्यक दर्शन से रहित होने के कारण वह श्रुतज्ञान को केवल शब्द-अर्थ से ही पढ़े थे किन्तु भावात्मक रूप से अनुभव नहीं किये थे। आध्यात्मिक शब्द ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने के लिए अकिञ्चत्कर है। जिस प्रकार वीणा का रूप लावण्य तथा तंत्री को बजाने का सुंदर छंग मनुष्यों के मनोरंजन का ही कारण होता है, उससे कुछ साम्राज्य की प्राप्ति नहीं होती, उसीप्रकार विद्वानों की वाणी कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र व्याख्यान की कुशलता और विद्वता भोग का ही कारण हो सकती है मोक्ष का कारण नहीं। ऐसे पंडितों का उपदेश स्वयं के लिए नहीं होता बल्कि दूसरों के लिए होता है। एक पंडित जो बहुत अच्छा प्रवचन करते थे। उन्होंने लोगों को बताया कि रात को खाना नहीं खाना चाहिए, जर्मीकंक्न बैगन आदि खाने से महापाप लगता है। घर आकर स्वयं बैगन की सब्जी के साथ रात को खाना खाने लगे। उनकी बेटी ने कहा— पिताजी आज ही आपने प्रवचन में सुबह सभी को बताया था कि रात्रि को भोजन करने से एवं जर्मीकंक्न बैगन आदि खाने से महापाप लगता है व्यक्ति नरक पाकर दुःख भोगता है। आप तो रात्रि को बैगन की सब्जी से ही खाना खा रहे हैं। पिताजी ने बेटी को समझाया— बेटी! उपदेश देना तो मेरा काम है वह तो दूसरों के लिए व्रत नियम है मेरे लिए नहीं। हाथीके दांत देखाने के अलग खाने के अलग। इस दुनिया में पर उपदेश कुशल बहुतेरे हैं। अधिकाँश व्यक्ति किताब पढ़ने वाले कम मिलेंगे किताब फाड़ने वाले अधिक मिलेंगे। जितने भी तीर्थकर, अरहन्त, सिप हुए भेदज्ञान, विवेक सहित ज्ञान के कारण ही हुए। जो हिताहित विवेक से रहित होकर बहु श्रुतज्ञ है फिर भी वह गूढ़ रहस्य को नहीं जान सकता। जैसे चमचा विभिन्न रस युक्त व्यञ्जनों से लिप्त होने पर भी रस को नहीं जान सकता है। जिसकी स्वयं की प्रज्ञा शक्ति नहीं है। उसके लिए शास्त्र क्या कर सकता है? जिसकी दृष्टि-शक्ति नहीं है उसके लिए दर्पण क्या करेगा? उसी प्रकार विषयान्ध व्यक्ति आत्मा का दर्शन, भेदाभेद का ज्ञान नहीं कर सकता। क्योंकि विषयवासनाओं ने उसके प्रज्ञा चक्षुओं पर परदा डाल दिया है। ऐसा व्यक्ति उस अंधे से भी अंधा है, क्योंकि अंधा प्राणी तो केवल चक्षु के द्वारा ही नहीं जान पाता, परन्तु वह विषयान्ध पुरुष इन्द्रिय, मन आदि में से किसी के द्वारा भी वस्तु स्वरूपको नहीं जान पाता।

ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुरूप आचरण नहीं करेंगे तो निश्चित ही बंध जाग। 'णाणं पवासणं' ज्ञान तो प्रकाश स्वरूप है। जैसे अंधकार में कुछ दिखाई नहीं देता किन्तु प्रकाश होने पर सर्प, काँटा, धन, विष आदि दिखाई देता है; किंतु कोई प्रकाश से विष को पहचानकर भी विषपान करेगा तो प्रकाश विषपान करने की रोकेगा नहीं तथा प्रकाश में विषपान करने से विष का परिणाम तो होगा ही। उसी प्रकार ज्ञान होते हुए भी पर वस्तु के प्रति आकर्षण-विकर्षण होने पर कर्मस्त्रव एवं बंध होगा ही जिससे संसार परिप्रमण करना पड़ेगा। इसीलिए ज्ञान को 'तीन भूवन में सार वीतराग विज्ञानता' कहा। अर्थात् तीनों लोक में सार वस्तु राग द्वेष एवं रहित विशिष्ठ ज्ञान (केवलज्ञान) ही है। यह ज्ञान संपूर्ण जगत् के चराचर पदार्थों को एक समय में देखने वाला है। शाश्वतिक है। एक बार उत्पन्न होने पर विनाश को प्राप्त नहीं होता। संसार की कोई ऐसी पर्याय नहीं जो उत्पन्न होने के बाद विनाश को प्राप्त न हो। इसीलिए इस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा है।

"असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योर्तिगमय, मृत्योर्माऽमृतगमय॥"

असत् से सत्य की ओर प्रयाण करना, अज्ञानरूपी अंधकार से ज्ञानरूपी आध्यात्मिक प्रकाश की ओर गमन करना, मृत्यु तथा विनासशीलता से रहित, अविनश्वर मोक्षरूपी अमृत को प्राप्त करना अर्थात् सच्चिदानन्द, परमात्मा बन जाना ही श्रेष्ठ यथार्थ केवलज्ञान का लक्षण है। इसके विपरीत ज्ञान नहीं कुज्ञान है। दो चार शब्दों का या शास्त्रों का ज्ञान करके घमण्ड करना कि हमें सब कुछ आता है यह बहुत धातक सिद्ध होता है। एक अशिक्षित व्यक्ति ने शिक्षित परिवार में नौकरी करते-करते अंग्रेजी की तीन-चार शब्द सीख लिए। वह हर कार्य में उन्हीं शब्दों का प्रयोग करता था। एक बार वह चोरी के अपराध में पकड़ा गया तो वकील ने पूछा — यू आर थीफ वह बोला — यस, तुम क्षमा चाहते हो — नो, मैं तुम्हे प्राणदण्ड देता हूँ— वेरीगुड थैंक यू। जब वकील ने सोचा यह स्वयं ही प्राणदण्ड को अच्छा समझ रहा है तो इसे प्राणदण्ड की सजा देनी चाहिए। वकीलने उसको प्राणदण्ड की सजा धोषित कर दी और उसे प्राण दण्ड मिला, अपने प्राणों को भी खोना पड़ा। इसी प्रकार मोह से युक्त, चारित्र से विमुक्त ज्ञान विनाश का कारण बनता है। इसीलिए जिससे तत्व का बोध होता हो, मन का निरोध होता हो, आत्मा शुद्ध होता हो, वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता हो, हित का ज्ञान होता हो एवं अहित का परिहार होता हो वही ज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

भारत अज्ञानता व साक्षरता का ज्वलन्त उदाहरण है। साक्षर व्यक्ति विनाश को प्राप्त होते हैं। वे भले ही एम.एल.ए., एम.पी. राष्ट्रपति, जज, डॉक्टर, इंजीनियर, नेता, सेठ साहूकार ही क्यों न हों। एक बड़ा जज, वकील जितना झूठ बोलने में चतुर होगा गाँव का सीधा सरल साधारण व्यक्ति इतना झूठ नहीं बोल पायेगा। इसीलिए जो ज्यादा बुद्धिमान होता है उसे एक सरल व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कर्मास्त्रव / बंध होता है।

आज जितना भौतिक ज्ञान बढ़ता जा रहा है उतना ही विवेक दूर होता जा रहा है। किताबी ज्ञान इतना बढ़ गया है कि मनुष्य को यह भ्रम पैदा हो गया है कि मैं ज्ञानी बन गया हूँ, मैं सबकुछ जानने लगा हूँ। ज्ञान के भ्रम ने ही मानव का आचरण छीन लिया है। जिसके कारण वह पतन के मार्ग की ओर अप्रसर हो रहा है। यह भ्रम ही उसके विकास, की बजाय विनाश कर रहा है। जब मनुष्य कोई परम्परा विशेष से जुड़ जाता है तो उसे ही सत्य मानकर चलने लगता है। तब सत्य के साथ उसका संबंध टूट जाता है पुरानी मिथ्या, रुढ़िगत परम्पराओं का भार उसे ऊपर उठने नहीं देता है। हिटलर कहता था कि यदि किसी असत्य को बार-बार दोहराया जाये तो वह भी सत्य प्रतीत होने लगता है। आज हमारा ज्ञान भी इसी प्रकार का है। अनादिकाल हो गया मिथ्या धारणाओं पर विश्वास करते-करते इसीलिए सत्य भी असत्य दिखता है तो असत्य भी सत्य दिखता है। अंधकार की गुफाओं से निकलने पर ही प्रकाश मंडित आंगन का आनंद मिलेगा। अज्ञानता का विनाश करके ही परमात्मा की उपलब्धि हो सकती है। यह सब सम्यक् पुरुषार्थ पर आश्रित है। मात्र बड़े-बड़े शास्त्रों को पढ़कर तो मोक्ष महल के सपने देखना है। यह सब तो शुतुरमुर्ग के समान रेत (बालू) में मुँह छिपाने के उपाय हैं। मात्र स्वाध्याय पर या शास्त्र प्रवचन श्रवण पर ही मत रुको आगे बढ़ो पुरुषार्थ करो तभी परमात्मा की प्राप्ति होगी। पुरुषार्थ हीन तो मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यक्ज्ञान, सत्यज्ञान को जानने के क्या-क्या कौन-कौन से उपाय हैं? उन उपायों का पहले परिज्ञान करो तभी सही ज्ञान की उपलब्धि हासिल कर सकोगे।

ज्ञान प्राप्त करने का प्रथम, सशक्त माध्यम गुरु है। उस गुरु का स्वरूप कैसा होना चाहिए। तो आचार्य समन्तभद्र ख्यामी रत्नकरण श्रावकाचार में बताते हैं कि-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञान ध्यान तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

जो पंचेन्द्रिय विषयों की लालसा के वश में नहीं है, आरम्भ और परिग्रह से रहित हैं, निरन्तर ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय और व्रत उपवासादि तप के पालन में तत्पर रहते हैं, जिनके द्वारा प्राणी सुसंस्कृत- सुसभ्य, सुसंस्कारित बनते हैं वही वास्तव में सच्चे गुरु होते हैं। व्यवहारिक रूप में अगर गुरु का लक्षण इस प्रकार भी है। गु = अंधकार; रु = प्रकाश। जो अज्ञान रूपी अंधकार से हटाकर प्रकाश में ला दे वही तो गुरु है, वही तारण-तरण है। जो स्वयं तिरते हैं दूसरों को तारते हैं यानि जो गुणों में भारी, जिसमें गुण भरे हों उसे गुरु कहते हैं। भारतीय परम्परा में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। धार्मिक एवं दार्शनिक संप्रदाय में गुरु का महत्व तो है ही लौकिक कार्य में भी गुरु का बहुत बड़ा महत्व है। गुरु ब्रह्मा - विष्णु महेश हैं, गुरु ही साक्षात् परम ब्रह्म होता है। गुरु शिष्य का निर्माण करता है इसीलिए ब्रह्मा, शिष्य का नैतिक एवं शैक्षणिक पोषण करता है इसीलिए विष्णु है। शिष्य में रिथ्त अज्ञान, प्रमाण अनुशासन विहीनता, जड़ता-शठता को दूर करता है इसीलिए महेश है। गुरु प्रत्यक्षरूप में परमब्रह्म का स्वरूप बताते हैं और स्वयं परमब्रह्म के बारे में अनुसंधान, शोध-बोध एवं उपलब्धि के लिए प्रयासरत रहते हैं इसीलिए साक्षात् परम ब्रह्म होते हैं। इसीलिए कबीर ने बहुत ठीक कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काकै लागूं पाय।

बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

गुरु हमें सत्य स्वरूप का वस्तु स्वरूप का परिज्ञान देते हैं, इसीलिए भगवान् से पहले गुरु को नमस्कार किया है। क्योंकि गुरु के उपदेश एवं मार्गदर्शन से ही भगवान् का ज्ञान होता है। जैन धर्म के अनुसार जीव को जो प्रथम बार सम्यक् दर्शन होता है वह सम्यक् दर्शन गुरु के बिना नहीं होता। जितने भी अरहन्त, सिद्ध, तीर्थकर, महान् पुरुष हुए वे पहले संसारी, मिथ्यादृष्टि ही थे। उन्होंने भी मिथ्यात्व से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति गुरु के द्वारा ही की। ‘‘सदगुरु देहि जगाय मोहनीद जब उपशमें, तब कछु बनै उपाय कर्मछोर आवत रुकै’’ जब सदगुरु मोहसुपी निद्रा से जगाते हैं तभी कर्मों का आसव रुकता है। इसीलिए तीर्थकर भी जब दीक्षा लेते हैं तब सिद्ध ‘‘नमःसिद्धेभ्य’’ बोल करके दीक्षा लेते हैं। इसीसे सिद्ध होता है कि गुरु का महत्व कितना है। प्रत्येक देश में, काल में, समाज में जो क्रांति हुई है, हो रही है, और होगी उसका मूल कारण गुरु ही है। गुरु एक क्रांतिकारी, सत्य-शोधक, नवीन तथ्य के उन्नायक महापुरुष होते हैं। सिकन्दर महान् बना गुरु अरस्तु

के कारण, चंद्रगुप्त दिग्बिजयी बना चाणक्य के कारण, शिवाजी छत्रपति बना गुरु समर्थ रामदास के कारण, महात्मा गांधी बने रायचंद्र के कारण। इस प्रकार ऐतिहासिक काल के पहले ही राजा, महाराजा, सम्राट् भी गुरुओं के चरण सानिध्य में जाकर ज्ञान-विज्ञान, आत्मविद्या राजनीति, अर्थशास्त्र, युद्धविद्या, कला कीशल, गुरुओं से ग्रहण करते आ रहे हैं। 'गुरु बिना सर्वे भवन्ति पशुभिः सन्निभः' गुरु के बिना मनुष्य पशु के समान है। पशुओं के कोई भी गुरु नहीं होते हैं। इसीलिए पशुओं की उन्नति नहीं होती। इसी प्रकार मनुष्य समाज में गुरु नहीं होते तो मनुष्य समाज भी पशुवत् हो जाता है। 'गुरु बिना कौन दिखावे वाट, अवगड़ डोंगर धाह' गुरु के बिना यथार्थ मार्ग प्रदर्शन कौन करेगा? यह संसार कंटकाकीर्ण, अत्यन्त दुरुह, भयंकर जंगल धारी के समान है। उसको पार करने के लिए गुरुरूपी मार्गदर्शक की नितान्त आवश्यकता है।

गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान को जबतक हम आत्मसात् नहीं करते हैं तब तक वह ज्ञान कागज पर बने आम के समान न हमारी भूख मिटा सकता है न हमें स्वाद प्राप्त हो सकता है। अथवा जैसे चित्र में बना हुआ कुर्झा, नदी से हमें जल प्राप्त नहीं होता है या नक्षे में बने मार्ग से हम गन्तव्य स्थान को प्राप्त नहीं कर सकते वैसे ही हम केवल पुस्तकीय ज्ञान से वस्तु स्वरूप को नहीं समझ सकते, न शांति को प्राप्त कर सकते। जैसे किसी ने पुस्तक में अग्नि के बारे में पढ़ा है कि अग्नि जलाती है और जलने पर वेदना होती है, किन्तु जब तक वह अग्नि को नहीं देखेगा, अग्नि को स्पर्श करके अनुभव नहीं करेगा तब तक अग्नि संबंधी ज्ञान अपूर्ण या विपरीत भी हो सकता है। अग्नि से जलने पर जलन होती है, पीड़ा होती है ऐसा अग्नि का शाब्दिक ज्ञान क्या जलन पीड़ा का अनुभव कर सकता है?

क्या पुस्तक में केवल पढ़ने से नीम का कड़ुआ रस, शक्कर का मीठा रस, मिर्ची का तीखा रस, नमक का लवण रस का अनुभव ज्ञान हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। इसीलिए कन्ड में कहा है 'अरिवेगुरु' अर्थात् अनुभव ही गुरु है। इसीलिए विज्ञान में सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ प्रायोगिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया है। इसीलिए तो विज्ञानने बहुत कम समय में आशातीत प्रगति कर ली। धर्म में भी अनुभव को, भावना को इसीलिए अधिक महत्व दिया है। यथार्थ ज्ञानी के लिए सम्पूर्ण विश्व एक खुली, जीवन्त बोलती हुई पुस्तक है। जब तक

हम विश्वरूपी ग्रंथ का अनुभव नहीं करेंगे तब तक न हम योग्य विद्यार्थी बन सकते हैं न योग्य अनुभवी ज्ञानी ही बन सकते हैं। हमारे इन्हें ग्रंथ-ग्रंथी (गाँठ)बन जायें। ग्रंथरूपी ग्रंथियों को खोलने के लिए अनुभव रूपी ज्ञान एवं प्राकृतिक अध्ययन की महत्वपूर्ण, महती आवश्यकता है। ज्ञान प्राप्त करने का भी सम्यक् क्रम होता है।

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेश

आप्तोक्त ग्रंथोंकी वाचना, सर्वज्ञ आम्नाय से चलेआ रहे ग्रंथों के प्रमेयों में संशयच्छेद या निर्णय के लिए विशिष्ट ज्ञानी को पूछना, जान लिये गये विषय को मन से चिंतन करना, द्वादशांग वाणी के साक्षात् या परम्परा से प्राप्त हुए जैन वाङ्गमय का शुद्ध धोष करना, धर्मोपदेश देना या सुनना, सुने हुए को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण रखना उसके योग्यायोग्य का विचार करना। जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करना, अयोग्य अर्थ को छोड़ना तथा योग्य तत्व के विषय में तुम रहना ये सुश्रूषा के लक्षण हैं। कुछ लोग सुनते तो बहुत हैं लेकिन क्या सुना उन्हें पछो तो कुछ बता नहीं पाते या बतायेंगे तो उल्टा सीधा बतायेंगे। एक सेठजी महाराजश्री के प्रवचन सुनने कभी नहीं जाते थे। सेठानी रोज जिद करती थी कि महाराजश्री का बहुत ही अमृततुल्य प्रवचन होता है। आप जाया करो। एकदिन सेठानी के अति आग्रह पर सेठजी चले गये और पीछे बैठकर नींद निकालने लगे। नींद लेने में उनका मुँह खुल गया उस खुले मुँह में कुत्ते ने पेशाब कर दीया। घर आकर सेठानी कहने लगी आजका प्रवचन तो अमृत से भी अधिक मिठास भरा हुआ था। तो सेठजी कहने लगे— मीठा तो नहीं था नमक जैसा खारा था। जिनको गुनने में रुचि ही नहीं उन्हें तो खारा ही लगेगा। पाँचों इन्द्रियों में कर्णेन्द्रिय को अन्तिम इन्द्रिय में क्यों रखा? इसका प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक कारण है। ज्ञानार्जन का सशक्त माध्यम कान ही है। दिव्य ध्वनि, गुरु का उपदेश कान से ही सुनते ही इसीलिए कान के छेद प्रकृति ने भी खोलकर रखे हैं। जीभ एक है लेकिन कान ती। क्योंकि बोलो कम सुनो अधिक। आज हम बोलते अधिक हैं सुनते कम हैं। गुनने के लिए हमारे पास समय नहीं है। गुरुओंका उपदेश सुनने नहीं आयेगे घर में टी.वी. देखेंगे, ताश, कैरम आदि खेल खेल करके यह कहते हैं कि हम तो समय पास कर रहे हैं, समय काट रहे हैं। जबकि समय अमूल्य निधि है। जो ज्ञान के प्रति रुचि नहीं रखते वे सुनने भी आ जाये तो कुछ भी आत्मसात् नहीं करते गुनकर वहीं के वहीं छोड़कर चले जाते हैं।

एक राजा के दरबार में एक मूर्ति कलाकार एक समान आकार-प्रकार की तीन मूर्तियाँ लेकर आया। लेकिन उनका मूल्य अलग अलग था। एक 10 रुपये की थी, एक 100 रु. की, एक एक लाख की राजाने उसका परीक्षण करके देखा कि आखिर एक समान आकार-प्रकार सब कुछ समान ही है फिर भी मूल्य ऐसे क्यों? उसने पहली मूर्ति में लोहे की छड़ डाली तो मुँह से पार हो गयी दूसरी के कान से निकल गयी, तीसरी के पेट में रही। इसका मतलब गयी है कि कुछ श्रोता मुँह से सुना लेकिन वही छोड़कर चले जाते हैं, कुछ घर तक तो ले जाते हैं, घर जाकर चर्चा भी करते हैं कि आज महाराजश्रीने यह सुनाया था, लेकिन उस बताये अनुसार आचरण नहीं करते। कुछ सुनते हैं और सुनने के अनुसार ही आचरण करते हैं। जो आचरण करता है उसका मूल्य एक लाख, जो आचरण नहीं करता चर्चा करता है उसका मूल्य 100 रुपये, जो सभा में सुना वही मुख से बोल देता है उसका मूल्य 10 रुपये है। अब आप यहाँ सुनने वाले सभी लोग अपना थर्मार्मीटर लगायें, अपना आंकलन करें कि हमारा मूल्य कितना है।

जब तक सुने हुए को आत्मसात् नहीं करेंगे तो वह उसी प्रकार हानिकारक सिद्ध होगा जिस प्रकार हमने सुंदर-सुंदर भोजन पर्याप्त मात्रा में कर लिया लेकिन पचाने की शक्ति नहीं तो क्या होगा? उसी प्रकार ज्ञान तो खूब कर लिया लेकिन उस रूप आचरण नहीं किया तो घमण्ड, अहंकारईर्ष्या आदि दुर्गुणों से वह ज्ञान हानिकारक ही सिद्ध होगा। एकदिन वह ज्ञान ही हमें नष्ट कर सकता है। आचार्यश्रीने सम्यक्ज्ञान की विशद व्याख्या करते हुए अन्तिम शब्दों में, निष्कर्षके रूप में शिक्षा देते हुए यही कहा कि हमें यथा शक्ति-भक्ति के अनुसार सतत् ज्ञानार्जन करते रहना चाहिए क्योंकि “ज्ञान समान न आन जगत् में सुख को कारण, यह परमामृत जन्म जरा, मृत रोग निवारण” इस सम्यक्ज्ञान से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। तीर्थकर प्रकृति के बंध में अभीक्षण ज्ञानोपयोग की भावना महत्वपूर्ण भावना है। इसीलिए ज्ञानार्जन हेतु खूब पढ़ना-पढ़ना धर्मश्रवण करना, किताबें छपाना, ज्ञानदान देना, ज्ञान के उपकरण आदि देकर ज्ञानावरणी कर्म का विनाश करके अनंत ज्ञान की उपलब्धि हासिल करना। सभी को अनंत ज्ञान प्राप्त हो ऐसी मेरी सभी जीवों के प्रति मंगल, शुभ भावना कामना।

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थ विसुद्धं च तदुमयविसुद्धं।
पयदेण य जप्तंतो णाणविसुद्धो हई एसो॥

(285) (स.श.म. पृ. 489)

व्यंजन से शुद्ध, अर्थ से विशुद्ध और इन उभय से विशुद्ध सूत्र को प्रयत्न पूर्वक पढ़ते हुए यह मुनि ज्ञान से विशुद्ध होता है।

व्यंजन शुद्ध — शब्द से अक्षरों से शुन्दि पद और वाक्यों से शुन्दि को भी लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र देशमर्जक होते हैं। अर्थात् सूत्र में एक अवयव का उल्लेख, अनेक अवयवों के उल्लेख के लिए उपलक्षण रूप रहता है। अतः व्यंजन शुद्ध शब्द से अक्षर, पद और वाक्यों की शुन्दि को भी समझना चाहिए। उन सूत्रों का अर्थ शुद्ध समझना अर्थशुद्ध है। इन दोनों को शुद्ध पढ़ना तदुय शुद्ध है। सूत्र का सम्बन्ध तीनों के साथ करना चाहिए। अर्थात् सूत्रों को अक्षर मात्रादिक से शुद्ध करना। उनका ठीक-ठीक अर्थ समझना और सूत्र व अर्थ दोनों को ही पढ़ना। प्रयत्नपूर्वक व्याकरण के अनुसार अथवा गुरु के उपदेश के अनुसार इन सूत्र, अर्थ और उभय को पढ़ते हुए अथवा अन्य को वैसा प्रतिपादन करते हुए मुनि ज्ञान में विशुद्ध को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह हुआ कि सिद्धान्त आदि ग्रन्थों को अक्षर से शुद्ध, अर्थ से शुद्ध और ग्रन्थ तथा अर्थ इन दोनों से शुद्ध पढ़ता हुआ, उनकी याचना करता हुआ और उनको प्रतिपादित करता हुआ मुनि ज्ञान विशुद्ध हो जाता है। वह अक्षर आदि का विपर्यय नहीं करता है। व्याकरण के अनुकूल और गुरु उपदेश के अनुकूल पढ़ता है। इस प्रकार से इन तीन शुन्दियों का अर्थात् छठी, सातवीं, आठवीं शुन्दियों का कथन किया गया है। यहाँ तक ज्ञानाचार के आठ भेद रूप आठ शुन्दियों का वर्णन हुआ।

विनय से अध्ययन का फल

विणएण सुदम धर्दिं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।

तमुवट्टादि परभवे केवल्जाणं च आवहदि।(286)

विनय से पढ़ा गया शास्त्र यद्यपि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवल ज्ञान को प्राप्त करा देता है।

विनय से जो शास्त्र पढ़ा गया है। प्रमाद से यदि उसका विस्मरण भी हो जावे तो अन्य जन्म में यह सूत्र ग्रन्थि उपस्थित हो जाता है, स्मरण में आ जाता है। और वह पढ़ा हुआ शास्त्र केवल ज्ञान को भी प्राप्त करा देता है। इसलिए काल आदि की शुन्दिपूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

सुस्सूसइ 2 पडिपुच्छइ 3 सुणेइ 4 गिणहइ 5 ईहए यावि
6 ततो अपोहए वा, 7 धारेइ 8 करेइ वा सम्म।

(95) (स.श.म.पृ. 191)

1. 'जो सुश्रुषा करता है' – गुरुदेव जो कहते हैं उसे विनयपूर्वक सुनने की इच्छा रखता है एकाग्र होकर सुनता है। 2. 'प्रतिपृच्छा करता है' – सुनते हुए श्रुत में जहाँ शंका हो जाये, वहाँ अति नम्र वचनों से गुरुदेव के हृदय को आह्लादित करता हुआ, 'पृछता' है। 3. 'सुनता है' – पूछने पर गुरुदेव जो कहते हैं, उन शब्दों को चित्त को डोलायमान न करते हुए सावधान चित्त से सुनता है। 4. 'ग्रहण करता है' – उन शब्दों को सुनकर उनके अर्थों को समझता है। 5. 'ईहा करता है' – गुरुदेव के पूर्व कथन और पश्चात् कथन में विरोध न आवे, इस प्रकार सम्यक् पर्यालोचना करता है। 6. 'अपोह करता है' – विचारणा के अन्त में गुरुदेव जैसा कहते हैं, तत्व वैसा ही है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार स्वमति में सम्यक् निर्णय करता है। 7. 'धारण करता है' – वह निर्णय कालान्तर तक स्मरण में रहे, इस प्रकार उसकी धारणा (अविच्युति) करता है। 8. 'करता है' – श्रुत ज्ञान में जिसे त्याग करना कहा है उसका त्याग करता है, जिसकी उपेक्षा करना कहा है, उसकी उपेक्षा करता है तथा जिसका धारण करना कहा है, उसे धारण करता है।

अब सूत्रकार सुनने की विधि बताते हैं।

**मूऽं हुंकारं वा, बाढ़क्कारं पडिपुच्छ वीमंसा।
तत्त्वो प्रसंगपारायणं च परिणिष्ठु सत्तमणे॥(36)**

सर्वप्रथम । 'मूक रहे' – गूंगे की भाँति चुपचाप होकर गुरुदेव के वचन सुने 2 'हुंकार करे' – सुनने के पश्चात् गुरुदेव को विनय युक्त तीन बार बन्दना करे। 3 'बाढ़क्कार करे' – बन्दना के पश्चात् 'गुरुदेव ! आपने यथार्थ प्रतिपादन किया' – यों कहे। 4 'प्रतिपृच्छा करे' – यह 'तत्व यों कैसे ? – यों सामान्य प्रश्न करे।' 5 'विमर्श करे' – प्रश्न का सामान्य उत्तर मिलने के पश्चात् विशेष ज्ञान के लिए प्रमाण आदि पूछे। 6. 'प्रसंग परायण करें' – प्रमाण आदि प्राप्त करके उस तत्त्व प्रसंग का आद्योपान्त सूक्ष्म बुद्धि से परायण करे। 7. 'सातवें में परिनिष्ठ होवे। ऐसा करने पर सातवीं दशा में श्रुतार्थी शिष्य, गुरुदेव के समान ही तत्त्व प्रतिपादन में समर्थ बन जाता है।

अब सूत्रकार, शिष्य को श्रुतज्ञान देने की विधि बताते हैं।

**सुतत्वो खलु पढ़मो, वीओणिज्जुत्तिभीसिओ मणिओ।
तइओ य णिखसेसो, एस विही होइ अणुओगे॥(77)**

प्रथम सूत्र पढ़ाने और सामान्य अर्थ बतावे, फिर निर्युक्ति मिश्रित सूत्रार्थ पढ़ावे

और अन्त में नय, निक्षेप प्रामाणादि सहित 'निरवशेष' सूत्रार्थ पढ़ावें। यह श्रुतदानकी विधि है।

आत्मानुशासनम् में गुणभद्र आचार्य ने उपर्युक्त विषय का वर्णन प्रकारान्तर से निम्न प्रकार से किया है—

**भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन दुःखाद् भृशं भतिवान्
सौख्येषी श्रणादिवुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्म शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यगमाभ्यां स्थितं
गृण्हन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शाक्यो निरस्तागृहः॥७॥**

(आ.शा.)

जो भव्य है; मेरे लिये हितकारक मार्ग कौनसा है, इसका विचार करने वाला है; दुख से अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुख का अभिलाषी है, श्रवण आदिरूप बुद्धिविभव से सम्पन्न है, तथा उपदेश को सुनकर और उसके विषय में स्पष्टता से विचार करके जो युक्ति व आगम से सिद्ध ऐसे सुख कारक दयामय धर्म को ग्रहण करने वाला है; ऐसा दुराग्रह से रहित शिष्य धर्मकथा के सुनने में अधिकारी माना गया है।

यहाँ धर्मोपदेश के सुनने का अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोता के गुणों का विचार करते हुए सबसे पहिले वह बतलाया है कि भव्य होना चाहिये। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को प्राप्त करके भविष्य में अनन्तचतुष्टयस्वरूप से परिणत होने वाला है वह भव्य कहलाता है। यदि श्रोता इस प्रकार का भव्य नहीं है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। कारण कि जिस प्रकार पानी के सींचने से मिट्टी गीलेपन को प्राप्त हो सकती है उस प्रकार पत्थर नहीं हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घट के ऊपर जलबिन्दुओं के डालने पर वह उन्हें आत्मसात् कर लेता है उस प्रकार धी आदि से चिक्कणता को प्राप्त हुआ घट उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता है— वे इधर-उधर बिखर कर नीचे गिर जाती है। ठीक यही रिति उस श्रोता की भी है जिस श्रोता का हृदय सरल है वह सदुपदेश को ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करने में प्रयत्नशील होता है, किन्तु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपदेश का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव सबसे पहिले उसका भव्य होना आवश्यक है। दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहित का विवेक होना चाहिये। कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस

प्रकार से हो सकता है, यह विचार यदि श्रोता के रहता है तब तो वह सदुपदेश को सुनकर तदनुसार कल्याणमार्ग में चलने के लिए उद्यत हो सकता है। परन्तु यदि उसे आत्म-हित की चिन्ता अथवा हित और अहित का विवेक ही नहीं है। तो वह मोक्षमार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। किन्तु जब और जिस प्रकार का अनुकूल या प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार का विचार और उसके परीक्षण की योग्यता अवश्य होनी चाहिये। इसी प्रकार उसे दुख का भय नहीं है और सुख की अभिलाषा भी होनी चाहिये, अन्यथा यदि उसे दुख से किसी प्रकार का भय और सुख की अभिलाषा नहीं है तो फिर भला वह दुख को दूर करने वाले सुखके मार्ग में प्रवृत्तही क्यों होगा? नहीं होगा। अतएव उस दुख से भयभीत और सुखाभिलाषी भी अवश्य होना चाहिये। इसके इतिरिक्त उसमें निम्न प्रकार बुद्धि का विभव या श्रोता के आठ गुण भी होने चाहिए—

**“सुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीति श्रोतुरस्यै गुणान् विदुः॥”**

सबसे पहिले उसे उपदेश सुनने की उत्कंठा (सुश्रूषा) होनी चाहिये, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किन्तु वह उसे रुचिपूर्वक, सुनेगा भी नहीं अथवा सुश्रूषा से अभिप्राय गुरु की सेवा का भी हो सकता है, क्योंकि वह भी ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुए अर्थ को ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थ को हृदय में धारण करना, उसका स्मरण रखना, उसके योग्यतायोग्य का युक्ति पूर्वक विचार करना, इस विचार से योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थ को छोड़ना, तथा योग्य तत्व के विषय में दृढ़ रहना; ये श्रोता के आठ गुण हैं जो उसमें होने चाहिए। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त श्रोता में हठाग्रह का अभाव भी होना चाहिये क्योंकि यदि वह हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तुत्वरूप का विचार नहीं कर सकेगा।

ज्ञान की विशेषता

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं प्ररस्त उवदिसदि।

णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो॥

ज्ञान-विद्या को प्राप्त कराता है। ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है। ज्ञान पर उपदेश का प्रतिपादन करता है। ज्ञान से न्याय-सम्प्रवृत्ति करता है वह ज्ञानविनीत होता है।

संवेग

संवेग के सरोवर में मुक्ति के कमल खिलते हैं

धर्मसभा को संबोधित करते हुए संवेग भावना पर प्रकाश डालते हुए पूज्य आचार्य रल कनकनंदीजी गुरुदेव ने कहा कि संवेग क्या होता है? उससे लाभ क्या होते हैं? उससे क्या-क्या क्रिया-प्रतिक्रियायें होती हैं? आदि बातों का परिज्ञान होना आवश्यक है। हर कार्य के लिए ऊर्जा, शक्ति की आवश्यकता होती है। संवेग भी एक बहुत बड़ी शक्तिशाली ऊर्जा है। क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धान्त के अनुसार मन-वचन-काय में परिवर्तन होता है। विज्ञान का सिद्धान्त है कि शक्ति कभी निष्क्रिय नहीं होती है। वह स्थिर या गतिशील अवस्था में सक्रिय ही रहती है। इसी प्रकार जिसमें संवेग की शक्ति - ऊर्जा है वह कभी निष्क्रिय, प्रमादी, आलसी नहीं होगा।

संवेग के शब्दों में ही अर्थ भरा है। सम + वेग। सम् यानि सम्यक्, समान, सही। वेग यानि ओवेश, गति, परिवर्तन, ऊर्जा, शक्ति। ये शब्द ही बता रहे हैं कि सक्रियता है, निष्क्रियता नहीं। ये सक्रियता किसी दूसरों को कष्ट, पीड़ा, दुःख, अशांति, क्लेश, अन्याय, अत्याचार, पापाचार, भ्रष्टाचारा फैलाने के लिए नहीं होनी चाहिए। इस सक्रियता का उपयोग ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए, दुनियाँ के हितकारी कार्यों के लिए, स्व-पर कल्याण हेतु संवेग भावना की ऊर्जा-शक्ति को सक्रिय बनाना चाहिए।

यह जीव अनादिकाल से विपरीत ही गति कर रहा है। पाप की गति विपरीत गति है। इस वेग को रोकने के लिए दो गति चाहिए। संसार-शरीर भोगों से विरक्ति, आत्मा के प्रति अनुरक्ति। ढलान के लिए ऊर्जा कम चाहिए। पानी को नीचे उतारने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता लेकिन ऊपर चढ़ाव के लिए अधिक ऊर्जा व्यय करनी पड़ती है। जैसे कि हम पहाड़ पर चढ़ते हैं तो बहुत थकान होती है ऊर्जा भी अधिक चाहिए ऊपर चढ़ने के लिए लेकिन उतरने में सरलता का अनुभव होता है। उसी प्रकार संसार को बढ़ाना, संसार को अधिक समृद्ध करना ये विपरीत वेग हैं संसार के प्रति उदासीनता के भाव तप त्याग करना यह वेग ऊर्ध्वगामी वेग है। संवेग में इतनी शक्ति है कि दो प्रतिरोधी शक्तियों को भी कष्ट

सोलह कारण भावना

देता है। जो संवेग भावना से युक्त नहीं होगा वह संसार को नहीं काट सकता। मोह की आसक्ति हमें सही गति, दिशा नहीं दिखा पा रही हैं। संसार, शरीर, भोगों से कोई विरक्त नहीं हो सकता। आत्मा का सुख जब तक इस जीव को नहीं आयेगा तब तक विषय भोगों में ही आनंद मानता रहेगा। दो चींटी थी दोनों की आपस में गहरी मित्रता थी। एकबार जिसके यहाँ शक्कर थी उस चींटी ने दूसरी चींटी को आमन्त्रित किया। जब वह अपनी सहेली के घर जाने लगी तो अपने मुँह में नमक की डली रखकर गयी। वह उसके घर रहकर कुछ ही दिनों में दुबली हो गयी। कारण पूछा तो बताया नहीं लेकिन एक दिन उसकी सहेली ने कहा— आप अपना मुँह खोलकर मुझे दिखाये। मुँह खोला। नमक की डली निकली। नमक की डली के कारण उसे शक्कर की मिठास का अहसास नहीं हुआ इसीकारण वह कुछ खाती नहीं थी और दुबली हो गयी। इसी प्रकार जब कोई मिथ्यादृष्टि मोही रहता है उसे आत्मा के अनंत सुख का अहसास नहीं होता।

भगवान् और भव्य में वैसे ज्यादा अंतर नहीं है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष बनता है उसी प्रकार भव्य से भावी भगवान् बना जाता है। भव्य को भावी भगवान् कहते हैं एवं भगवान् को भूत भगवान्। यही भव्य और भगवान् में अंतर है। जिसमें भगवान् बनने की शक्ति है वही भव्य है। भव्य की सुंदर परिभाषा आत्मानुशासन में आचार्य गुणभद्र स्वामी ने इस प्रकार दी है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान सम्यक्घारित्र को प्राप्त करके भविष्य में अनंत चतुष्टय स्वरूप में परिणत होने वाला है वह भव्य कहलाता है। ध्वला ग्रंथ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने भव्यों के कई भेद बताये हैं। **अभव्य**— जो कभी मोक्ष नहीं जायेगा इस संसार में ही संसरण करता रहता है। जिस प्रकार बंध्या स्त्री में पुरुष का संयोग मिलने पर संतान उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है उसी प्रकार अभव्य को संयोग मिलने पर भी उसमें सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने की एवं व्रत-नियम लेने की क्षमता योग्यता नहीं हो पाती। कुछ मूँग भी ऐसे होते हैं जिनको हजारों टन पानी से सिजायें फिर भी नहीं सीजते ऐसे कुछ ही लोग होते हैं जो अभव्य होते हैं। भव्यों की संख्या अधिक हैं। मूँग के ढेर में भी ऐसे मूँग कम ही होते हैं।

दूर भव्य— ऐसे जीव कभी भी कारण, संयोग, लब्धि आदि साधन मिलने पर मोक्ष जा सकते हैं। जैसे कि कोई कन्या है शादी होने के बाद पति का संयोग मिलने पर संतान उत्पन्न कर सकती है।

सोलह कारण भावना

निकट भव्य— जो दो-चार वा एक दो भव में ही कल्याण कर ले। उपदेश, साधन मिला कि तुरंत संवेग-वैराग्य भाव जागृत हो जाते हैं और तप-त्याग का मार्ग अपनाकर अपना आत्म कल्याण करके मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

जब तक अन्तरंग में श्रद्धा, ज्ञान नहीं होगा तब तक संसार शरीर भोगों से विरक्ति के भाव नहीं होगे। हालाँकि संसार में भव्य अधिक, अभव्य कम हैं। निगोद में भी भव्य हैं।

जो भव्य सम्यक्दृष्टि होता है वह विचार करता है।

**भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृत्यान्।
सौख्येषी श्रवणादि बुद्धिं विभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्॥**

मेरे लिए हितकारक मार्ग क्या है? मेरा कुशल, आत्मविकास किसमें हैं? यथार्थ सुख का अभिलाषी होता है। सतत् संसार शरीर भोगों की नश्वरता का चिंतन करता रहता है। जिसप्रकार श्वसन क्रिया हर समय होती है उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि का विचार चिंतन सतत् हर समय चलता रहता है कि हे भगवान! इस असार संसार के दुखों से मुझे कब छुटकारा मिलेगा? मेरा संहनन ऐसा मजबूत हो कि मैं खूब तप-त्याग करूँ मुझे अनादिकाल हो गया इस संसार में भ्रमण करते-करते मेरा भ्रमण मेरे तप-त्याग से रुक जाये। यह शरीर भोग तो अविनाशीक, नश्वर हैं। इस भोगों को मैंने अनादिकाल से भोगा लेकिन विषय वासनाओं की शांति नहीं हुई। यह शरीर अनेक रोगों का घर है। इसमें अनेक रोग भरे हुए हैं अज्ञानी जीव शरीर से प्रेम करता है, इसे अपना मानता है इसके विपरीत ज्ञानी शरीर के दुःखों को सदा मन में विचारता है कि आत्मा के लिए यह शरीर सदा दुःखरूप है इसीलिए शरीर से स्नेह करना महापाप बंध का कारण है। वह शरीर की अशुचिता के बारे में चिंतन करता है।

यह संसार निश्चित ही दुःख रूप है। यहाँ सभी दुःखी हैं। जन्म-मरण के अपार दुःख सहे। और भी अनेकों दुःख हर गति में सहन किये। चारों ही गतियों में किसी भी प्रकार का सुख नहीं है नरक तिर्यक के दुःखों का वर्णन केवली भगवान् ही जान सकते हैं। उनके दुःखों का वर्णन करने के लिए कोटि-कोटि जीभ भी कम हैं।

संसार की सभी वस्तुएँ विनाशशील हैं, यहाँ बड़े-बड़े महापुरुष भी काल के गाल में समाये। इस जग में कोई किसी का शरण नहीं केवल धर्म ही शरण है। वही सच्चा मित्र बंधु है। ये संसार के सभी संबंधी मित्र आदि तो स्वार्थी हैं। यह

जीवन बिजली के समान है। यह शरीर धास पर पड़ी ओस की बूँदें के समान हैं। आत्मा का हित केवल रत्नवय धर्मधारण करने में ही है। जो प्राणी इस प्रकार चारों गतियों के जन्म-मरण तथा संसार के स्वरूप का निरन्तर सतत् चिंतन मनन एवं शरीर विषय भोगों से मन में वैराग्य उत्पन्न करता रहे तो पापों से भय उत्पन्न होगा तथा धर्म में राग बढ़ेगा जिससे जीव का कल्याण होगा। इसीका नाम संवेग गुण है।

सम्यक्कृदृष्टि विचारता है कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरा स्वरूप सिद्धों के समान ही है। जिस प्रकार तिल में तेल है पुष्प में सुगन्धि है उसी प्रकार मेरी आत्मा में केवलज्ञान की योग्यता है मुझे उस योग्यता को प्रगट करने के लिए ही यह मानव जन्म सम्यक पुरुषार्थ करने के लिए मिला है। रागद्वेष परिणाम विभाव परिणाम हैं। मेरा स्वभाव तो इनसे विपरीत है। जिस प्रकार जल में रहते हुए भी जल से भिन्न कमल है। उसी प्रकार इस पुद्गल शरीर में रहते हुए भी आत्मा इस शरीर से भिन्न है। ऐसे भावनाओं, परिणामों वाला सम्यक्कृदृष्टि जीव किसी कारणवशात् या चारित्र मोहनीय के उदय से मुनि या चारित्र को धारण नहीं कर पाता है फिर भी अगर संवेगभावना रखता है तो यही विचार आगे धनीभूत होकर क्रियारूप में परिणमन करके मोक्ष ले जायेगे।

स्वयं का चिंतन मनन करना चाहिए। जिसने स्वयं को जान लिया उसने सम्पूर्ण विश्व को जान लिया और जिसने स्वयं को नहीं जाना उसका संपूर्ण विश्व का जानना बहुत बड़ी मूर्खता है। इकाई न होने पर अनंतों शून्यों का कोई मूल्य नहीं केवल एक इकाई होने पर ही उन शून्यों का मूल्य, महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसीलिए अंग्रेजी में भी I (आई) को फर्स्ट परसन में रखा है। आई (मैं) को हमेशा God की तरह केपीटल लेटर में लिखते हैं। इसीलिए जो स्वयं को नहीं जानता वह कितना भी बड़ा क्यों न हो जाये साक्षर मूर्ख ही कहलायेगा।

पोथी पढ़-पढ़ जग मुवा, हुआ न पंडित कोय।

झाई अक्षरप्रेम (आत्मा) का पढ़े सो पंडित होय॥

‘आदहिदं का दब्ब’ पहले अपने आत्महित की सोचो स्वयं का लेखा—जोखा नहीं करते दुनियाँ की तमाम चीजों के लेन-देन का लेखा—जोखा करते हैं। कैसे हम बनिया हैं जो कि हमारा व्यापार हमेशा घाटे में चल रहा है फिर भी हमको चिंता फिक्र नहीं। कम से कम साल में दो-चार बार ही देखिये इन बहीखातों को।

पानि कुल 24 घंटों में स्वयं के हित के लिए कम से कम 24 मिनिट तो दीजिए। उसमें सोचिए, हिसाब, करिए मैं कहाँ से आया—निगोद से कहाँ जाना है—मोक्ष। इस धरती पर क्यों आया? पाप बढ़ाने के लिए, पृथ्वी का भार बनने के लिए नहीं! आत्मकल्याण के लिए, मोक्ष जाने के लिए। विचार करो, भावना भाओ निवृत्ति कि हे भगवान्! मैं कब एकाकी रहकर वन की भूमि पर ध्यान साधना, कठोर तपस्या करूँगा। पाणिपात्र में मेरा भोजन हो। संसार के समस्त आकर्षण-विकर्षण से मेरा मन हटकर, निष्ठृत शांत वित्त, दयालु दिगम्बर मुद्रा से सहित तोकर संसार के समस्त राग द्वेष परिणामों को बनाने वाले कारणों से निवृत्त समता रस का आनंद लेने के लिए अपने आत्मतत्व को पहिचानूँ। इस प्रकार के विचारों से सद ही स्वयं को व्यस्त रखें। तो संसार के समस्त भौतिक चेतन, अचेतन पदार्थों के प्रति राग-द्वेष की परिणति कम होगी। वरना खाली दिमाग भूतों का डेरा। जो अनपढ़ या कमबुद्धि वाले होते हैं उनको अक्सर भूत लगते हैं। महिलायें भी भूतों का अधिकतर शिकार होती हैं। यह भूत क्या? यानि ये लोग अच्छे विचार नहीं करते, खोटे, गंदे विचारों का चिंतन चलता रहता है वही उनके सपने में आता है। धीरे-धीरे उसी रूप में क्रियारूप में परिणमन कर जाता है। जिस जगह को साफ मत करो वहाँ गंदगी अधिक होगी ही। वर्तनादि प्रारम्भिक अवस्था में एकदम चमकदार नये होते हैं। लेकिन बिना प्रयोग के बाद में काले हो जाते हैं। इसीलिए जो हर समय अच्छे-अच्छे विचारों का चिंतन करते हैं, नयी-नयी खोज करते हैं उनको कभी भूत लगा यह नहीं देखा होगा। इसीलिए जो हर समय अच्छे विचार करते हैं वे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक रूप से कुशल पाये जाते हैं।

दुनिया का प्रत्येक प्राणी दुःखों से डरता, कोई भी जीव दुःखी होना नहीं चाहता। एक बार धन, प्रसिद्धि, या अन्य वस्तुओं की इच्छा नहीं रखेंगे लेकिन सुख की इच्छा हरकोई रखता है कि मैं धनवान् नहीं बनूँ लेकिन सुखी अवश्य बनूँ। लेकिन वह सुख कैसा? शाश्वतिक, जिसका कभी विनाश ना हो, भौतिकी, सांसारिक सुख, क्षणिक सुख है। भौतिक संपदा कितनी भी क्यों न हो वह सुख नहीं। क्षणिक सुख का अहसास कहना भी कम है। क्योंकि भौतिक साधनों में सुख है ही नहीं। अगर इन साधनों में सुख होता तो तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि के पास कोई कमी नहीं थी वे क्यों त्याग करते। महान्-समझदार पुरुषों ने इस बात को ठीक तरह समझा इसीलिए इतनी भौतिक सुख संपदा होते हुए भी उन्होंने त्याग किया। महात्मा

बुद्ध के बहाँ हर प्रकार के साधन थे छहों कृतुओं के महल, सुंदर स्त्री, अपार धन—दौलत लेकिन शाश्वतिक सुख पाने के लिए सब छोड़ दिया। राहुल को राह माना यानि ग्रसने वाला, मोह पैदा कराने वाला। मोह के वशीभूत होकर यह प्राणी अनादिकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। वैसे सभी कर्म दुःखदायी खतरनाक हैं लेकिन मोहनीय कर्म अधिक बलवान्—शक्तिशाली है। जो मोह पर विजय प्राप्त कर लेता है वह संसार में नहीं रह पाता है। जिसने मोह पर नियन्त्रण कर लिया समझना उसे संसार से सच्चा संवेग—वैराग्य हो गया। इसके विपरीत जिसे इन भौतिक साधनों में सुख नजर आता है उसे संवेग वैराग्य का कितना भी उपरोक्त मिलें या वह स्वयं कितना भी अच्छा उपदेश सुने लेकिन उसे संवेग—वैराग्य ही नहीं सकता।

एक राजा था। वह मुनि का उपदेश सुनने गया। उसने पूछा— मेरी मृत्यु क्या होगी, मेरी अगली गति क्या होगी ? महाराज ने कहा — आज से सातवें दिन विजली गिरने से तुम्हारी मृत्यु होगी और तुम स्वयं के विष्णाधर में सतरंगी कीड़ा बनोगे। राजा ने कहा— यह बात मैं सत्य, प्रमाणिक कैसे मानूँ ? मुनि महाराजने कहा— यहाँ से जाते समय तुम्हारे रथ के पहिए अनायास टूट जायेंगे। महल का मुख द्वारा गिर जायेगा अगर ये घटनायें हो तो आप इस बात को भी सत्य मान लेना। ऐसा ही हुआ। राजा को विश्वास हो गया। उसने अपने पुत्र से कहा— मेरी सातवें दिन विजली गिरने से मृत्यु हो जायेगी और मैं इसी विष्णाधर का सतरंगी कीड़ा बनूँगा इसीलिए तुम मुझे मार देना। ऐसा ही हुआ। 7वें दिन राजा की मृत्यु हुई। पुत्रने देखा तो विष्णाधर में सतरंगी कीड़ा बन गया है उसका पिता। पिता के आवेदन अनुसार उस पुत्रने कीड़े को मारने का प्रयास किया लेकिन वह छिप जाता था मरना नहीं चाहता था। पुत्रने सारी बात मुनि महाराज को बतायी। महाराजनी ने समझाया कि— इस मोही प्राणी की यही दशा है यह जहाँ भी जाता है उसे वही ही अच्छा लगता है। मोही प्राणी को विष्णा में भी अच्छा लगेगा। ऐसी अवस्था होती है सम्यक्टृष्टि और मिथ्यादृष्टि की। सम्यक्टृष्टि को अपार सुख साधनों के बीच भी दुःख दिखाई देता है।

चक्रवर्ती की संपदा इंद्र सरीखे भोग।
काग बीट सम गिनत हैं सम्यक्टृष्टि लोग॥

मिथ्यादृष्टि को दुःखों में भी दुःख नहीं दिखाई देता इसीलिए तो सम्यक्टृष्टि

तोषिकर आदि महान् पुरुष इतने राजवैभव का तुरंत छोड़कर दीक्षा धारण कर लेते हैं। मिथ्यादृष्टि कुछ भी नहीं होने पर भी तमाम बहाना बाजी करेंगे उनसे गुहावरथा में भी कुछ छोटा त्याग करने को कहो नहीं करते। एक बहुत ही गरीब किसान था। वह अपनी गरीबी के कारण इतना दुःखी हो गया कि मृत्यु को बुलाने लगा। उसकी इस बात को एक विद्याधर देव सुन लेता है वह कहता है चलो मेरे साथ। वह कहता है हाँ चलना तो चाहता हूँ लेकिन मेरी पत्ती अकेली रह जायेगी। वह बेयारी अकेली कैसे जिन्दगी गुजारेगी इसीलिए थोड़े दिन के बाद अवश्य चलूँगा। थोड़े दिन बाद वह विद्याधर पुनः स्वर्ग ले जाने आया। वह बोला मेरे अभी—अभी पुत्र हुआ है पुत्र छोटा है इसीलिए पुत्र थोड़ा समझदार — बड़ा हो जाये फिर अवश्य चलूँगा। पुत्र बड़ा हो गया तो विद्याधर लेने आया लेकिन वह फिर बोला— पुत्र की शादी कर दूँ, पुत्र की शादी भी हो गयी। चलने को कहा— तो बोला इस पुत्र के पुत्र को देख लूँ फिर चलूँगा। विद्याधर फिर लेने आया तो देखा वह आदमी तो उस घरमें नहीं है, लेकिन वही आदमी मरकर उसी घर में बैल बन गया है। विद्याधर ने पिछले भव की याद दिलाई और कहा तुम मनुष्य से बैल बन गये अब तो चलो। वह कहने लगा— मेरे पुत्र के पास दो बैल हैं यह जो दूसरा बैल है वह बहुत ही आलसी है कुछ भी काम नहीं करता अगर मैं भी आपके साथ चला जाऊँगा तो काम कौन करेगा ? मेरा बेटा भूखों मर जायेगा। इसीलिए अच्छा सा काम करने वाला दूसरा बैल जब वह खरीद लेगा तब मैं आपके साथ अवश्य चलूँगा। कुछ दिन बाद बैल भी नहीं है। वह कुत्ता बनकर अपने घर के दरवाजे पर बैठा था।

विद्याधर ने पिछली बात की याद दिलाई तो कुत्ता कहने लगा मेरे मालिक का पुत्र छोटा है, मालिक खेत पर जाता है घर मालिक अकेली रह जाती है इसीलिए घर की सुरक्षा कौन करेगा ? मैं घर की सुरक्षा हेतु तो हर समय मुख्य द्वार पर बैठा रहता हूँ। मालिक का पुत्र बड़ा हो जाये फिर चलूँगा। कुछ दिन बाद देखा वहाँ कुत्ता भी नहीं है। देखा तो वह सुअर बन गया है और गटर में आराम की साँसें ले रहा है। विद्याधर ने इतनी अशुचिता, गंदगी का वर्णन किया और कहा— आप स्वर्ग चलें वहाँ कितने सुंदर—सुंदर बन फल—फूल कितना सुरम्य आनंददायक वातावरण है। हाँ ऐसा है स्वर्ग में तो क्या वह गटर भी है ? वहाँ गटर की क्या आवश्यकता ? देवताओं का वैक्रियक शरीर होता है वे इस प्रकार का रोटी चावल

जैसा भोजन नहीं करते वे तो अमृत का पान करते हैं। इसीलिए ऐसा अपवाहन मल त्याग नहीं करते इसीलिए वहाँ गटर आदि गंडी वस्तुएँ नहीं हैं। सूअर यह सब सुनकर बोला— धिक्कार है ऐसे स्वर्ग को जहाँ गटर गंगा भी नहीं तो मुझे नहीं जाना ऐसे स्वर्ग में। इस मोही मिथ्यादृष्टि जीव की यही दशा है। उसे दुःखों में भी सुख नजर आता है। गुरु आदि उसे संसार की असारता बताते हैं, दुःखों को बताते हैं, मोक्ष के अनन्त सुखों को बताते हैं— मोक्ष जाने का रास्ता भी बताते हैं फिर भी यह मोही प्राणी उस रास्ते पर नहीं चलता और संसार के दुःखों में ही सुख मानकर उन्हीं में लगा रहता है।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

कालो न यातो वयमेव याता स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

हम विषयों को न भोग सके, विषयों ने ही हमें भोग लिया। काल व्यतीत न हुआ किंतु हम ही व्यतीत हो गये। तृष्णा समाप्त न हुई किंतु हम ही समाप्त हो गये। तप नहीं किया हम ही संतप्त हो गये। इसमें कोई संशय नहीं कि संसार परम दुःखमय है। उसमें यह लोभी मोही प्राणी विषय भोगों में सुख मानकर अपना समय नष्ट कर रहा है।

बत च चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः।

परिणततृष्णां प्रायेनैवं विद्या हि विपत्तयः॥

लोभी प्राणी को कैसा दुःख भोगना पड़ता है इस बात का वर्णन आत्मानुशासन ग्रंथ में आचार्य गुणभद्र स्वामी ने करते हुए लिखा है कि चमर मृग दोड़ने में अति प्रवीण होता है। उसकी पूँछ जब व्याधादिक के भय से दोड़ते हुए लताओं में फँस जाती है तब वह बालों के लोभ से— मेरी पूँछ के सुन्दर बाल टूट न जावे इस विचार से ढौड़ना बंद करके वहीं पर रुक जाता है। और इस प्रकार वह व्याधादिक के द्वारा केवल उन बालों से ही रहित नहीं किया जाता, किंतु उसके साथ प्राणों से भी रहित किया जाता है। इसी प्रकार लोभी जीव को लोभ के कारण दुःसह दुःख सहन करने पड़ते हैं।

कोई विरले ही जीव ऐसे होते हैं जो इन लोभ मोह क्रोध कषाय आदि दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को धारण कर पाते हों।

विषय विरतिः संगत्यागः कषाय विनिग्रहः।

शम दम यमस्तत्वाभ्यासस्तप्तचरणोद्यमः॥

इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग द्रेष्ट की शांति, यम-नियम, इन्द्रियदमन, साततत्त्वों का चिंतन, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण, जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति, प्राणियों पर दया भाव ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके संसार रूपी किनारा निकट आ चुका है।

नरक, पशुगति में तो दुःख है ही स्वर्गों में भी सुख नहीं। सुख तो केवल मोक्ष में है। आत्मा में है। कुछ लोगों की मान्यता होती है मनुष्य शरीर मिला है खूब विषयों के भोगों को भोगो। वे भुक्ति में ही भुक्ति मानते हैं। त्याग - व्रत - नियम, शील, संयम, संवेग का उपदेश उन्हें अच्छा नहीं लगता। तीन घंटे की फिल्म देखने में नहीं थकते 1/2 घंटे के प्रवचन में बोरियत लगती है। भोगों के भोगने पर भी आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ। आपको एक ही सुंदर स्त्री मिल जाये तो पूरा जीवन निकाल देते हैं फिर भी वैराग्य नहीं होता। चक्रवर्ती के 96 हजार रानियाँ थीं फिर भी अंतमुहूर्त में केवलज्ञान हो गया। हमें ऐसे कथानकों पर विचार करना चाहिए कि कैसे दृढ़ करते होंगे वे महापुरुष अपने इन्द्रिय-मन पर जिसमें संवेगगुण होगा; उसे संसार-शरीर भोगों से विरक्ति होगी। परिग्रह को सीमित रखेगा, कषायों पर नियन्त्रण करेगा। हेय-उपादेय, सत्य-असत्य पर गूढ़तासे विचार करेगा। बिना तत्त्वाभ्यास के ज्ञान-वैराग्य दृढ़ नहीं हो सकता। मन को वश करना बहुत ही दुःसाध्य कार्य है फिर भी इस चंचल मन को नियन्त्रण किया महापुरुषों ने। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं हे अर्जुन! ज्ञान, वैराग्य के माध्यम से यह मन सुदृढ़ किया जा सकता है। मनरूपी डोरी को श्रुत रूपी स्कन्ध से बाँध दो ताकि स्थिर हो जाये। प्रत्येक जीव के प्रति दया के भाव रखो। देव शास्त्र गुरु की खूब भक्ति करो जिससे मन में अच्छे विचारों का आगमन होवे क्योंकि एक म्यान में एक ही तलवार आती है। मन तो एक ही है उसे जिस तरफ लगाओ उधर ही लग जाता है। सांसारिक प्रवृत्तियाँ पशु तुल्य हैं। पशु की प्रवृत्तियाँ फिर भी ठीक हैं। क्या पक्षी इतना सुंदर घर बनता है कि मनुष्य नहीं बना सकता। मकड़ी बहुत सुंदर जाल बनाती है। कुत्ते की ग्राण शक्ति मनुष्य से 60 गुणा अधिक है। मछली पानी में तैरती है। मनुष्य बनकर तुमने कुछ कार्य कर लिए तो क्या बड़ा काम कर लिया।

शवितस्त्याग

स्व एवं पर का अनुग्रह होता है - त्याग एवं दान से

धर्मसभा को दान-त्याग की महिमा - गरिमा बताते हुए आचार्य गुरुवर कनकनंदी जी गुरुदेव ने कहा कि त्याग किसके लिये, कब, किस विधि से करना चाहिए इस बात का परिज्ञान होना अति आवश्यक है। यह विश्व छः द्रव्यों से बना हुआ है। मनुष्य प्रकृति, धर्म, परिवार, समाज, राष्ट्र की एक अभिन्न इकाई है। लवण समुद्र के पानी में जो लवणांश होता है वह एक बिन्दु में भी है। उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व छः द्रव्यों के सहयोग, सहकार, अवलंबन से बना हुआ है। व्यक्तित्व का निर्माण सभी के पारस्परिक संबंधों से मिलकर ही होता है। यह परस्पर का सहयोग, सहकार, अवलंबन ही त्याग-दान है। जब एक व्यक्ति दूसरें के बिना जी नहीं सकता तब परिवार, समाज, राष्ट्र धर्म, सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति एक दूसरें के बिना कैसे जीवित रह सकते हैं। राजा, रंक, झाड़ लगाने वाला नौकर या प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति ही क्यों न हो एक-दूसरें के बिना जी नहीं सकता, विकास नहीं कर सकता। बड़े-बड़े उद्योगपति राजा-महाराजा चक्रवर्ती के पास सत्ता, सम्पत्ति, शक्ति, बुद्धि सबकुछ भी क्यों न हो लेकिन दूसरों के बिना जी नहीं सकते। वर्त्र, मकान, दूध, धी, भोजन, पैन, लकड़ी आदि जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं सभी एक दूसरें के सहयोग-सहकार पर आश्रित हैं।

प्रायः सभी देश-विदेश के समस्त धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक महापुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता यदि कुछ है तो वह है भावों की पवित्रता और दूसरों के प्रति दया, क्षमा, करुणा, परोपकार, त्याग सेवा। जैन धर्म के अनुसार साक्षात् तीर्थकर भी दिव्यवाणी से ज्ञानदान देकर केवल मनुष्य और देवों का ही उपकार नहीं करते बल्कि पशु-पक्षियों का भी उपकार करते हैं। पार्श्वनाथ भगवान् ने मरते नाग-नागिन को णमोकार मंत्र सुनाया था। जिससे वे धरणेन्द्र-पद्मावती हुए। जीवन्धर कुमार ने कुत्ते को णमोकार मंत्र सुनाया तो कुत्ता देव हुआ। नारायण श्रीकृष्ण ने रोगी मुनि के लिए औषधि युक्त लड्डू की व्यवस्था की थी जिससे उन्हें तीर्थकर प्रकृति का बंध हुआ। महाबली भी मसेन ने पूर्वभव में दूसरें मुनियों की सेवा की थी जिसके कारण वे बलशाली बनें। उस

प्रभाव से विष से भी नहीं मरे। जो सेवा, वैव्यावृत्ति करता है वह तीर्थकर बनता है। तीर्थकर बनने में जो 16 कारण भावनायें हैं उनमें से प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप, साधु समाधि वैव्यावृत्ति, अरहन्त भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति ऐसी नौ भावनायें वैव्यावृत्ति, सेवा के अंतर्गत आती हैं। इसलिए सेवा की महत्ता, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, उपादेयता बहुत अधिक है। हिन्दू (वैदिक) धर्म के अनुसार भी अवतारी पुरुष, महापुरुष ऋषि-मुनि आदि ने सेवा धर्म को स्वयं अपनाया और उसका प्रचार-प्रसार भी किया है। जीवों की रक्षा के लिये (अभयदान, वैव्यावृत्ति) अवतारी पुरुषों का धरती पर अवतरण होता है। नारायण कृष्ण का एक नाम ही गोपाल है। गोपाल का अर्थ है जो गायों की रक्षा करे तथा उनकी सेवा व सर्वर्धन करे। राजा रंतिदेव ने स्वयं तथा परिवार के व्यक्तियों को भी भूखे रखकर दान से प्राप्त भोजन भी दूसरों को दे दिया। जंगल में रहनेवाले ऋषि, तापसी भी पशु-पक्षी यहाँ तक कि वनस्पति को प्रिय पुत्र के समान प्रेम करते थे। महात्मा बुद्ध तो साक्षात् दया, करुणा की प्रतिमूर्ति थे। बाल्यावस्था में घायल हंस के लिए राज्य को त्याग देना भी स्वीकारा था। परन्तु घायल हंसको चचेरे भाई देवदत्त को देना स्वीकार नहीं किया था। वे दुनिया के दुःखी प्राणी को देखकर उनके दुःखों को दूर करने के लिए समस्त राज-वैभव, अत्यन्त सुन्दरी नव विवाहिता स्त्री तथा पुत्र राहुल को भी त्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े। कूर अशोक भी उनकी करुणा से प्रभावित होकर अहिंसक परोपकारी सम्प्राट अशोक बन गया उनके सुकुमार पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा भी इस दया, करुणा का प्रचार करने के लिये श्रीलंका आदि देश में गये। केवल भारत में ही दया, परोपकार सेवा आदि महान् गुणों को स्थान मिला हो है ऐसी बात नहीं है परन्तु प्रत्येक देश के प्रत्येक महान् व्यक्ति ने इसे स्वीकार किया है। इसा मसीह तो मानो सेवा के अवतार ही थे। उनके मतानुसार 'सर्व दू हुमेनेटी इज सर्व दू गोड' अर्थात् मानव जाति की सेवा ही भगवान की सेवा है। वे कुष्ठ आदि रोगों से ग्रसित रोगियों की सेवा करते थे, भूखे को भोजन देते थे तथा अस्थायकों की सहायता करते थे। इतना ही नहीं वे भेड़-बकरियों को भी प्यार करते थे, गोद में लेते थे तथा उनकी सेवा करते थे। उनकी इस सेवा भावना से ही प्रेरित होकर इसाईयों ने सेवा को परम धर्म माना। इसलिए आज देश-विदेश में जितनी सेवा की संस्थायें हैं उनमें से

अधिकांश संस्थाएँ ईसाई धर्मवलम्बियों द्वारा स्थापित, संवर्द्धित, पोषित हैं।

सेवाधर्म से ही प्रभावित होकर फ्लोरेंस नाइटेंगल ने रोगी तथा घायलों की सेवा करके विश्व कीर्तिमान की स्थापना की। इसी प्रकार मदर टेरेसा थी। महात्मा गांधी, विनोबा भावे, सुभाषचंद्र बोस आदि सेवा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। एम्ब्लेन्स, रेडक्रोस, यूनीसेफ, लायन्स क्लब, रोटरी क्लब, रकाउट गाइड, भारतीय विकास परिषद, महावीर इन्टरनेशनल आदि संस्थायें भी सेवाधर्म से जुड़ी हुई हैं। देश-विदेश के जितने अच्छे-अच्छे महान् कार्य हैं जैसे विद्यालय से लेकर महाविद्यालय, चिकित्सालय, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम, अनाथालय आदि इस महान् सेवा धर्म से प्रभावित होकर ही बनाये गये हैं।

जैनधर्म के अनुसार एक तीर्थकर के काल में अनेक अरिहन्त और सिन्धु बनते हैं परन्तु तीर्थकर अनेक नहीं बन पाते हैं क्योंकि तीर्थकर वही बन सकता है जिसमें तीव्र परोपकार की भावना हो। इसीकारण तीर्थकर का खून दूध के समान सफेद होता है। जब तक संतान की उत्पत्ति नहीं होती है तब तक स्तनपायी मादा के स्तन में दूध का संचार नहीं होता है। संतानों की उत्पत्ति के बाद दूध का संचार होता है।

जो दया, करुणा से प्रभावित होकर कुष्ठ, हैजा, टी.वी. आदि भयंकर संक्रामक रप्श रोग से ग्रसित रोगियों की सेवा करते रहते हैं। उन्हें वह रोग नहीं होता है। इसका धार्मिक कारण यह है कि सेवा-भाव से पुण्य बंध होता है और पाप की निर्जरा होती है। जिससे उन्हें रोग नहीं होता है। इसका वैज्ञानिक कारण यह है कि अच्छी भावना से श्वेत-रक्त कण की संख्या बढ़ती है, रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है। इसके साथ-साथ उसके चारों ओर प्रभावशाली ओरा / प्रभामण्डल बनता है। जिसके अन्दर संक्रामक रोगाणु भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं। विज्ञान के अनुसार व्यक्तियों के मरिस्टिक से अल्फा तरंग, बीटा तरंग, थीटा तरंग आदि अच्छी तरंगे निकलती हैं। इन सब कारणों से सेवा-भावी अत्यन्त प्रसन्न प्रभावशाली तथा चुम्बकीय शक्ति से युक्त हो जाता है। जो निरवार्थ भाव से सबकी सेवा करता है उसका किसी के प्रति वैरभाव नहीं रहता है। उसका सबके प्रति प्रेमभाव होने के कारण वह किसी से भी नहीं डरता है ना उसके कोई वैर भाव रखते हैं और न उसे कोई कष्ट पहुँचाते हैं। जैन रामायण में पाया जाता है कि जब राम-रावण चुन्द चल रहा था उस समय जो सैनिक घायल हो जाते थे उनकी सेवा कुछ व्यक्ति

करते थे। जो सेवा करते थे उन्हें दोनों पक्ष के सैनिक किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाते थे। दान में, सेवा में अधिक आनन्द अनुभव होता है। और जिससे अधिक आनन्द अनुभव होता है वही धर्म है।

जो धन के लिए, स्वार्थ के लिए छोटे से छोटे, खोटे से खोटे कार्य कर सकते हैं वे भी साधु-संतों की सेवा, शारीरिक-धार्मिक कर्तव्यों को हेय दृष्टि से देखते हैं और नौकर का कार्य मानते हैं। इन सभी कारणों से धर्म में तेजस्विता, प्रभावोत्पादकता, महानता, उदारता आदि गुण नहीं आ पा रहे हैं। इसलिए इन्हाँ महान् सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, गणितीय, वैज्ञानिक जैन धर्म जो कि वस्तुतः वस्तु स्वरूप धर्म होने के कारण विश्व धर्म है, तो भी आज बहुत संकीर्ण परिधि में है। परन्तु अद्यतन / अर्वाचीन ईसाई धर्म बहुत ही फल रहा है, फूल रहा है। क्योंकि ईसाईधर्म में प्रायोगिक रूप में सेवाधर्म पाया जाता है। आचार्यों में श्रावक के विभिन्न कर्तव्यों में से सेवा को मुख्य कर्तव्य बताया है और साधुओं के लिये गौण बताया है। तथापि वैयावृत्य को अन्तरंग तप कहा है। जो सरागी साधु होकर के भी वैयावृत्य नहीं करता है उसकी आचार्यों ने निन्दा की है। बहिरंग तप से अन्तरंग तप श्रेष्ठ होता है। वैय्यावृत्य अन्तरंग तप है। इसलिए उपवास, रस त्याग आदि तप से वैयावृत्य तप श्रेष्ठ है क्योंकि जिसके भाव में भक्ति, नम्रता, परोपकारिता आदि गुण होते हैं वही वैय्यावृत्य कर सकता है। अधिकांश व्यक्ति सेवा को बहुत ही कम महत्व देते हैं। जो व्यक्ति तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा आदि के लिये घंटों, महीनों का समय देते हैं और लाखों रूपया खर्च करते हैं वे भी साधुओं की सेवा के लिये कुछ समय भी नहीं देंगे और कुछ रूपये भी खर्च नहीं करेंगे। इनकी यह कृति / प्रवृत्ति “जिन्दा बाप से लड्मलड्मा मेरे हुए को पहुँचाये गंगा” जैसी है। धार्मिक व्यक्तियों की सेवा, जीव मात्र की सेवा, धार्मिक सेवा, पूजा / उपासना है और यह ही प्रायोगिक जीवन्त अहिंसा, वात्सल्य भाव, जीव दया, विश्व प्रेम, विश्व मैत्री, वसुधैव कुटुम्बकम्, परोपकार, वैय्यावृत्य, पुण्य कर्म है। इसीलिए सेवाधर्म जीवन्त धर्म है। जो अन्तरंग पवित्रता से युक्त होकर सेवादि करता है वह स्व पर, द्रव्य-भाव अहिंसा का पालन करता है। अन्य कुछ धार्मिक कर्तव्यों में गतिविधियों में केवल स्व कल्याण होता है परन्तु दान सेवादि में स्व-पर कल्याण होता है। जैसे कि स्वयं अध्ययन करना, मनन करना, ध्यान करना, उपवास, रसत्याग करना आदि से स्व कल्याण की प्रधानता है परन्तु दान आदि

से स्व-पर कल्याण है, क्योंकि उसके भावों में दया, परोपकार, निर्लोभता, सेवा, मृदुता, वात्सल्यता आदि गुण होते हैं। इसीलिए स्व-पर कल्याण संवर्द्धित परिवर्त्तित होता है।

विश्व की प्रत्येक क्रियायें कार्य कारण से ही होती हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ, गुण, द्रव्य एक दूसरें पर आश्रित, अवलंबित हैं भले ही वह अपवित्र, निकृष्ट, घृणाकारक, दोषकारक, द्वेषकारक क्यों न हो। अगर गिर्दु पक्षी, सूअर, छोटे-छोटे बहुत से कीट-पतंगे आदि ना होते तो दुनिया में अत्यधिक प्रदूषण बढ़ जाता। इसीलिए अभी पशु-पक्षियों की रक्षा-सुरक्षा के लिए अच्छी व्यवस्थायें स्थापित की जा रही हैं। इनके अभाव में विश्व का संतुलन बिगड़ जायेगा। जैसे कि पशुओं की हत्याये, कल्त होने से प्रकृति, वातावरण पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसीलिए तो आज वर्षा नहीं हो रही, भूकम्प अधिक हो रहे हैं, वृक्षों के काटने से वर्षा बिल्कुल कम होती जा रही है। वैज्ञानिकों ने खोज करके सिद्ध किया है कि यह विश्व अखण्ड शरीर है। इसकी किसी भी इकाई, क्षेत्र को, अंग को क्षति पहुँचाने से सम्पूर्ण विश्व पर उसका प्रभाव पड़ता है। जैसे शरीर के एक अंग में चोट लग जाये तो सम्पूर्ण शरीर पीड़ा का अहसास करता है इसीप्रकार विश्व के किसी भी तत्व को क्षति पहुँचाने से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित होता है। हमारे ऋषिमुनियों ने लाखों-करोड़ों वर्षों पूर्वही इस सूक्ष्म रहस्य को जान लिया था इसीलिए तो सूत्र दिया था “परस्परोपग्रहोजीवानाम्” जिसे विज्ञान की भाषा में ‘परिस्थितिकी सिद्धान्त’ या ‘इको सिस्टम’ कहते हैं। अगर तुम एक व्यक्ति की सहायता पहुँचाते हो तो सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों की सहायता हुई और विश्व के एक कण, तिनके की क्षति पहुँचाते हो तो सम्पूर्ण विश्व को क्षति पहुँचाते हो। यही त्याग-दान का भी मूल रहस्य है। संकीर्णता में मत फँसे रहना। अगर साधु को केवल आहार दान दिया उसमें चारों दान समाहित हो गये क्योंकि साधु जो आहार करते हैं उसका मुख्य उद्देश्य आत्महित आत्मसाधना है। शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वास्थ्य तथा साधना के लिए साधु आहार करते हैं। क्षुधा-तृष्णा रूपी रोग दूर होने से आहार दान औषधीदान है। आहार करके निर्विज्ञ अध्ययन करने से ज्ञान दान है। इस आहार से ही जीवित रहा जाता है इसीलिए अभय दान है। एक दीप से अनेकों दीपक प्रज्वलित हो जाते हैं। एक पुण्य से अनेकों पुण्य हो जाते हैं। एक पाप से अनेकों पाप हो जाते हैं। जैसे कुछ बीजों से अनेकों बीजों की उपलब्धि

होती है उसी प्रकार एक दान से अनेकों फल मिलते हैं।

दानं दुर्गति नाशाय शीलं सद्गति कारणं।

तपः कर्म विनाशाय भावना भव नाशिनी॥

दान से दुर्गति नाश होती है, शील से सद्गति मिलती है, तप से कर्म नाश होता है, भावना से संसार नाश होता है।

ग्रहण के बाद त्याग भी चाहिए। आप खूब सुंदर-सुंदर खाना खाइये लेकिन उसका मलको विसर्जन मत करो तो क्या होगा? अनेकों बीमारियाँ लग जायेगी मरणासन की स्थिति हो जायेगी। जो अधिक टाइट / कसे हुए वस्त्र पहनते हैं वे अधिक रोगी होते हैं। इसीलिए त्याग भी आवश्यक है एवं ग्रहण भी। अगर भोजन ना करे तो भी मरने की स्थिति बन जती है। ‘शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्’ शरीर चलाने के लिए भोजन प्रथम आवश्यकता है। आहार के बिना शरीर दुर्बल हो जाता है। शरीर रक्षाहेतु भोजन चाहिए। आहार के बिना शरीर स्थिर नहीं रह सकता, भूख से शरीर जलता है, इन्द्रिय मन एवं अवयव शिथिल हो जाते हैं जिससे धर्म साधना नहीं हो पाती। इसीलिए क्षुधारूपी रोग को दूर करने के लिए भोजनरूपी औषधि की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिए त्याग एवं ग्रहण दोनों ही उपयोगी हैं लेकिन इसकी महत्ता भावों पर अधिक है कि हम कैसी भावना से ग्रहण कर रहे हैं, कैसी भावना से त्याग कर रहे हैं। क्योंकि कोई तो खाने के लिए जीता है, कोई जीने के लिए खाता है, कोई न तो जीने के लिए खाता है न ही खाने के लिए जीता है अपने-अपने भावों के अनुसार है। कोई तो यश, कीर्ति प्रसिद्धि के लिए दान देता है, तो कोई दान देने के बाद क्या दिया इसका भी मालूम न हो जाये, एक हाथ से दिया तो दूसरें हाथ को भी पता न लग जाये ऐसे भावों से भी देते हैं। सब पुण्य-पाप का फल अपने भावों के अनुसार ही है। किसी को खाने के बाद भी दोष नहीं लगता जबकि किसी को न खाने पर भी दोष लगता है। जैसे मुनि महाराज आहार करते हैं एक गृहस्थ भी करता है लेकिन दोनों में अंतर है। गृहस्थ की बात भी छोड़िए साधु-साधु आहार करते हैं उनमें भी अंतर हैं। एक तो धर्म की साधना, रत्नत्रय की साधना हेतु उदासीन होकर आहार करते हैं तो दूसरा गृहस्थ के साथ, स्वाद का अनुभव करते हुए आहार करता है। दोनों के आहार करने में एवं उसके फल में अंतर है। इसी प्रकार जो यश, कीर्ति, प्रसिद्धि की इच्छा न रखते हुए अन्तरंग परिणामों के साथ त्रन्दा,

भक्ति, आनंदित होकर थोड़ा भी दान करता है उसकी यश कीर्ति, प्रसिद्धि एवं अपार पुण्य की उपलब्धि होती है। दृष्टिं भावों के साथ यश, प्रसिद्धि, ख्याति नाम की आकांक्षा रखते हुए अधिक दान देते हुए भी कम फल या विपरीत फल पाप का ही संचय होता है।

एक बुढ़िया थी, बहुत गरीब थी। उसने एक मुनि महाराज को सर्वों के समय जो चार महीने का उपवास करके पारणा हेतु आये थे उनको गरम—गरम हलुआ बहुत ही श्रद्धा, विनय नवधा भक्ति के साथ दिया तो उसके घर में रत्नोंकी वृष्टि हुई। वह धनवान् बन गई। नगर सेठानी ने देखा गरीब बुढ़िया इतनी धनवान् कैसे बन गयी? उस बुढ़िया से वह सेठानी कारण पूछने लगी— बुढ़ियाने सही—सही सारी बात बता दी। उस सेठानी ने ऐसा ही किया गरम—गरम हलुआ बनाया लेकिन जब मुनिराज चार महीने का उपवास करके पारणा हेतु आये तब गर्मी की ऋतु आ चुकी थी। नगर सेठानी ने सभी को आदेश दे दिया मुनिराज का पड़गाहन मैं ही करूँगी अन्य कोई ना करें। जब मुनिराज को वह सेठानी गर्म—गर्म हलुआ देते देते बार—बार खिड़की से झाँकती कि मेरे आंगन में रत्न तो नहीं बरस रहे हैं। लेकिन गर्मी होने के कारण, चार महीने का उपवास होने की वजह से मुनिराज को बहुत कष्ट हुआ। इधर सेठानी के वहाँ ईट—पत्थर की बरसात हुई। इस कहानी से शिक्षा मिलती है कि जैसे हमारे परिणाम होंगे वैसे ही फल की प्राप्ति होगी। शेर, सूकर मुनि रक्षा हेतु आपस में लड़ाई करके मरे लेकिन मुनिरक्षा के भाव वाला स्वर्ग गया, दूसरा नरक गया जबकि दोनों आपस में लड़ाई करके मरे एक को स्वर्ग एक को नरक यह सब भावों का फल है।

दान देते समय पर के अनुग्रह की, कल्याण की, रक्षा की भावनायें होनी चाहिए। होटल में इतने लोगों को खाना खिलाते हैं क्या आहार दान हुआ? मास्टर फीस लेकर विद्या देते हैं क्या वह ज्ञानदान हुआ? निःस्वार्थ, जनकल्याण की भावना के साथ, धार्मिक भावना, पवित्र, सरल, सहज भावनाओं से दान करना ही श्रेष्ठ दान कहलाता है। जब तक निःस्वार्थ की भावना, परोपकार की भावना नहीं होगी वह दान नहीं है। राजा रणजीतसिंह अपने साथियों सहित आम के बगीचे में गये। वहाँ आम के पेड़ के नीचे बैठे थे कि एक पत्थर उनके सिर में लगा। मंत्री आदि सैनिक चोर पकड़ने इधर—उधर दोड़े तो एक लड़के को देखा। उससे पूछा तुमने राजा को पत्थर क्यों मारा? वह बोला मैं दो तीन दिन का भूखा हूँ घर में मेरी

माँ और मैं ही हूँ। मेरी माँ बोमार है घर में कुछ भी खाने के लिए नहीं है इसीलिए आम खाने के लिए पत्थर मारा। मुझसे अपराध हो गया। राजा ने बच्चे का दुःख सुना तो उसका मन द्रवीभूत हो गया कि एक एकेन्द्रिय वृक्ष जब पत्थर लगने पर भी फल दे सकता है तो मैं तो अपने देश का राजा हूँ सम्पूर्ण प्रजा मेरी संतान के समान है। मेरी संतान इतनी दुःखी। राजा ने उस बालक को धन सम्पत्ति खाने का सामान दिया। सभी विरिमत थे कि राजा के पत्थर लगने पर भी राजा ने उल्टी उसकी सहायता की। बास्तव में परोपकारी, संवेदनशील जीवों की प्रवृत्ति ऐसी ही होती है।

तरुवर फल नहिं खात है, नर्दीं न सँचे नीर।

परमारथके कारणै साधुन धरा शरीर॥

प्रकृति से हमें शिक्षा लेनी चाहिए कि वनस्पति एकेन्द्रिय प्राणी होकर भी प्राणी जगत् का कितना उपकार करती हैं। अगर वृक्ष ना हो तो मनुष्य जीवित एक पल को नहीं रह सकता। प्राणवायु वृक्षों से ही मिलती है। फल—फूल, लकड़ी आदि वस्तुएँ वृक्षों से मिलती हैं। जबकि ये सभी वस्तुयें वह स्वयं के उपयोग में नहीं लेता, दूसरों के उपकार में ही अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देता है। क्या कभी वृक्ष को फल खाते देखा? जो परमार्थी होते हैं वे स्वयं के लिए नहीं जीते उनका सम्पूर्ण जीवन दूसरों के लिए ही होता है।

मनुष्य अपने को श्रेष्ठ मानता है लेकिन कुछ को छोड़कर अधिकांश मानव दानव, पशु, पक्षियों से भी निकृष्ट हैं। पशु—पक्षी जीवित अवरथा में तो उपकार करते ही है मरने के बाद भी उपकार करते हैं। उनका मल—मूत्र तक उपयोगी है। लेकिन मानव जीवित अवरथा में भी महा स्वार्थी क्रूर और मरने के बाद भी कुछ उपयोगी नहीं बल्कि उसके दाह संस्कार के लिए लकड़ी आदि वस्तुओं का खर्चा करना पड़ता है; फिर मनुष्य की श्रेष्ठता कहाँ से अधिक हुई? मनुष्य सातवें नरक जाता है जबकि महाहिंसक शेर पाँचवें नरक जाता हैं जबकि वह पूरी जिन्दगी माँस ही खाता है। इससे सिन्दू हुआ कि क्रूर शेर से अधिक क्रूर मानव होता है। केवल वही मानव श्रेष्ठ है जो स्व—पर कल्याण करता है। नहीं तो छोटे—छोटे कीड़ों से भी निकृष्ट है।

जिसकी भावना स्व कल्याण से अधिक पर कल्याण के लिए अधिक होती है वही तो तीर्थकर बनता है। आचार्यों ने त्याग, दान, परोपकार को वैद्यावृत्ति कहा

हैं। ये गुण ऐसे हैं कि बढ़ाने से बढ़ते ही जाते हैं। लोग सोचते हैं दान कर दूँगा तो गरीब हो जाऊँगा लेकिन ऐसा नहीं है। जिसप्रकार कुँए से पानी जितना अधिक निकालते हैं उसमें उतना ही अधिक पानी बढ़ता है। कुँए से पानी मत निकालो जो पानी है वह भी सड़ जायेगा। इसीलिए दान-त्याग के समय हीन भावना नहीं आनी चाहिए। त्याय से उपर्जित धन का ही दान श्रेष्ठ होता है। अन्याय से उपर्जित दान पापानुबंधी पुण्य है जो कि संसार में डुबाने वाला है। कहा भी है—

पुण्णेण होई विहवो विहवेण होई मई मय।

मई मयेण पावं तम्हां ता पुण्णं मा होउ॥

ऐसा पुण्य मुझे नहीं होवे जिससे वैभव प्राप्त होने पर मति-भ्रष्ट हो जाती है।

पाप से धन कमाने वाले रोगी, व्यसनी, छली-कपटी-मायावी अनेकों दुर्गुणों से युक्त होते हैं। वे इसी भव में इतने दुःखी अशांत, परेशान, संक्लेशित रहते हैं अगले भव की तो बात ही क्या कहें? अपनी सम्पत्ति का बँटवारा भी न्यायी, धर्मी, परोपकारी के पक्ष में ही करना, छोटा, बड़ा नहीं देखना।

एक आदमी की चार बहुएँ थीं। उसने परीक्षा करके देखा कि किसको क्या सौंपना चाहिए। चारों बहुओं को धान्य दे दिये। बड़ी बहुने सोचा इतने बढ़िया बीज घर में है ये चावलों का क्या होगा ऐसा सोचकर उसने फैंक दिये। दूसरी ने सोचा खाने के लिए दिये होंगे इसीलिए उसने खा लिए। तीसरी ने सोचा कुछ न कुछ रहरय है इसीलिए चाँदी की डिब्बी में सुरक्षित रख दिये। चौथीने सोचा इन थोड़े से बीजों से बहुत सी फसल हो सकती है इसीलिए उसने खेती में फसल के लिए डाल दिये। कुछ दिनों बाद ससुराजी ने चारों बहुओं से बीज वापिस माँगे तो पहली ने कहा— मैंने तो फैंक दिये। दूसरी ने कहा— मैंने खा लिये। तीसरे ने कहा— मैं लेकर आती हूँ मेरे पास चाँदी की डिब्बी में सुरक्षित रखे हैं। चौथी ने कहा— लाने के लिए 10-12 गाड़ी चाहिए। ससुर जीने कहा— मैंने आप चारों की परीक्षा ले ली अब उसी के अनुसार घर के कार्य सोचूँगा। पहली बड़ी बहू घर—बाड़े की साफ—सफाई करेगी। दूसरी रसोई का काम करेगी। तीसरी रूपया पैसा, सोना—चाँदी सभालेगी। चौथी घर की मालकिन बनकर रहेगी।

हमें धन, सम्पत्ति खूब मिल गया लेकिन बुद्धि से उस सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं किया तो क्या लाभ?

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमत्पमपि काले।

फलति छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरं भृताम्॥

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटा सा वट का बीज संसारी जीवों को बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र को दिया हुआ थोड़ा सा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलिष्ट सुंदर भोगों पभोग आदि अनेक प्रकार के फल प्रदान करता है।

आचार्यों ने त्याग दान की बहुत बड़ी महिमा—गरिमा बतायी है। बादल छोड़ता है इसीलिए विशाल है ऊँचा है। समुद्र ग्रहण करता है इसीलिए नीचा है एवं कंकर—पथर घड़ियाल आदि हिंसक जंतुओं से भरा हुआ है।

साधु त्याग करते हैं इसीलिए ऊपर बैठते हैं। हाथ ऊँचा करके आशीर्वाद देते हैं लेकिन आहार के समय दाता के हाथ ऊपर होते हैं साधु के नीचे। पाटे के ऊपर खड़े भी नहीं होते। एक कदम छोड़ते हैं तभी दूसरा कदम आगे बढ़ता है। इसी प्रकार हमें आगे बढ़ने के लिए, समुन्नत समृद्ध बनने के लिए ग्रहण के साथ त्याग करना पड़ेगा। साधु का कमण्डलु यही शिक्षा देता है ग्रहण के साथ त्याग करो। दो हाथों से कमाओं दस हाथों से दान करो। दान का अनंत फल बताया है।

सत्पात्र दानेन भवेद्धनाद्यो धनं प्रकर्षेण करोति पुण्यम्।

पुण्याधिकारी दिवि देवराजः पुनर्धनाद्यः पुनरेव त्यागी॥

सत्पात्र को दान देने से पुण्य होता है। पुण्य के प्रभाव से धनी बनता है। धन बढ़ने से पुनः दानादि करके पुण्य कार्य करता है जिससे सातिशय पुण्य होता है, जिससे स्वर्ग में देवराज, इंद्र बनता है। स्वर्ग से च्युत होकर पुनः वैभवशाली धर्मात्मा मनुष्य बनता है। यहाँ पर पुनः त्याग करता है।

दिण्णाई सुपत्तदाणं विसेसदो होई भोगसग्गमही।

णिव्वाणसुहं कमसो णिदिदट्टं जिणवरिदेहिं॥

(रणयसार)

उत्तम साधु पुरुषको दान देने से नियम से भोगभूमि एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है। क्रम से निर्वाण सुख मिलता है। राजा श्रीषेण ने आहार दान दिया आगे चलकर शांतिनाथ तीर्थकर हुए। एक ग्वाले ने शास्त्र दिया तो कुंद-कुंद महान् विद्वान् आचार्य हुए। श्रीकृष्ण ने औषधि दी तो तीर्थकर प्रकृति का बंध किया। सूअर ने मुनिराज

की रक्षा की तो स्वर्ग गया। ऐसे धार्मिक पुराणों में दो चार नहीं हजारों उदाहरण हैं कि किसी ने थोड़ा भी दान दिया उसे अधिक फल की प्राप्ति हुई।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के क्रांतिकारीओंने लिए सुख, सम्पत्ति, सत्ता, विभूति, शक्ति आदि का त्याग किया तभी स्वतन्त्रता मिली। दूसरों को देने पर ही हम कुछ प्राप्त कर सकते हैं। यह धार्मिक ही नहीं प्रकृति का भी नियम है।

आहार दान - फल

प्राचीन समय में श्रीषेण राजा ने आहार दान दिया। फलतः वे शांतिनाथ तीर्थकर हुये। मलय नाम का एक प्रसिद्ध देश था। यहाँ की राजधानी रत्नसंचयपुर के राजा श्रीषेण थे। उनकी उदारता, न्यायप्रियता अत्यन्त प्रसिद्ध थी। उनकी दो रानियाँ थी। सिंह नन्दिता और अनन्दिता। दोनों ही विदुषी थीं। दोनोंके दो पुत्र थे इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन। इस प्रकार राजा श्रीषेण धन, सम्पत्ति, राज, वैभव आदि से सम्पन्न थे। उनकी प्रजा पालकता प्रसिद्ध थी।

इसी नगर में सात्यकि नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी सत्यभामा नाम की एक पुत्री थी। रत्नसंचयपुर के समीप ही एक दूसरा गाँव था। वहाँ धरणीधर नाम का एक अच्छा वैदिक था। उसकी पत्नी अग्निलासे दो पुत्र थे। इन्द्रभूति और अग्निभूति। उनके यहाँ एक दासी पुत्र रहता था, जिसका नाम कपिल था। जब धरणीधर अपने पुत्रों को वेदाध्ययन कराता तो वह छुपकर सुन लिया करता था। कपिल की बुद्धि तीव्र थी। वह विद्वान हो गया। धरणीधर को बड़ा आश्चर्य हुआ। एक शूद्र को शिक्षा देने के कारण जनता में बड़ा असन्तोष फैला। लोग धरणीधर को धमकाने लगे। धरणीधर ने घबराकर कपिल को देश से निकाल दिया। कपिल रास्ते में ब्राह्मण बन गया। वह रत्नसंचयपुर पहुँचा। रूप और विद्या से संपन्न था ही, सात्यकिने ब्राह्मण समझ अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। कपिल को अनायास स्त्रीरत्न की प्राप्ति हो गयी। वह सुखपूर्वक रहने लगा। राजा ने उसके पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर अपने यहाँ पुराण की कथा सुनाने के लिए नियुक्त कर दिया। एक बार सत्यभामा रजस्वला हुई थी। कपिल ने उस समय भी संसर्ग करना चाहा। इस दुराचार को देखकर सत्यभामा को सन्देह हुआ। उसने इस पापी को ब्राह्मण न समझकर उससे प्रेम करना छोड़ दिया। वह अलग रहकर जीवन बिताने लगी। संयोग से धरणीधर पर ऐसी विपत्ति पड़ी कि वह दरिद्र हो गया। वह कपिलके यहाँ रत्नसंचय पर गया। यद्यपि अपने पिता को देखकर कपिल

को क्रोध ही हुआ फिर भी बड़ा सम्मान किया। उसे भव था कि कहीं मेरे सम्बन्ध में लोगों को भड़ना न दें। कपिलने सब लोगों से अपने पिता का परिचय कराया उसने मायाचार इसलिए किया कि उसकी माता का भेद न खुल जाय। धरणीधर दरिद्र तो था ही, उसने धन के लोभ में कपिल को अपना पुत्र मान लेने में कोई आपत्ति न की। एक दिन सत्यभामा ने थोड़ा सा धन देकर धरणीधर से पूछा— महाराज आप ब्राह्मण हैं मुझे विश्वास है कि आप कभी झूठ नहीं बोलेंगे अपने कपिल जी का दुराचार देखकर मुझे विश्वास नहीं होता कि वे आप जैसे पवित्र ब्राह्मण के पुत्र हों। धरणीधरने सारी बातें कह सुनाई और उसी रत्नसंचयपुर से चल पड़ा। सत्यभामा की धृणा और भी बढ़ गयी। वह कपिल से बोलना-चालना छोड़कर एकान्तवास करने लगी। इस प्रकार धृणा करते देखकर कपिल बलात्कार करने पर उत्तारु हो गया किन्तु सत्यभामा ने श्रीषेण महाराज के यहाँ जाकर सब बातें कह सुनायी। श्रीषेण अत्यन्त क्रोधित हुये। उन्होंने कपटी कपिल को देश से निकाल दिया। दुष्टों को दण्ड देना राजा का धर्म है। ऐसा न करने से वे च्युत होते हैं। एक बार आदित्यगति और अरिजय नाम के दो मुनिराज श्रीषेण के यहाँ आहार के लिये पधारें। राजा ने आदरपूर्वक आहार कराया। इस पात्रदान से देवों ने रत्नों और सुगन्धित फूलों की वर्षा की। पश्चात् श्रीषेणने अनेक वर्षों तक राज्य किया। मृत्यु के बाद वे धातकी खंड के उत्तर कुरु भोगभूमि में उत्पन्न हुये। उनकी दोनों रानियाँ तथा सत्यभामा भी भोगभूमि में उत्पन्न हुयी। इस भोगभूमि में लोग कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाले सुखों को भोगते हैं। आयु पूर्ण होने तक ऐसा ही सुख भोगेंगे। यहाँ के लोगों के भाव सदा पवित्र रहते हैं। यहाँ न किसी की सेवा करनी पड़ती है और न किसी को अपमान सहन करना पड़ता है। श्रीषेण ने भोगभूमि का पूरा सुख भोगा। अन्त में वे रवर्ग में गये। यहाँ भी दिव्य सुख भोग कर पुनः मनुष्य हुये। कई बार ऐसे ही परिवर्तन होने के बाद श्रीषेण ने हरितनापुर के महाराज विश्वसेन की रानी ऐरा के यहाँ अवतार लिया। यही सोलहवें तीर्थकर के नाम से प्रसिद्ध हुये। जन्म के समय देवों ने उत्सव मनाया। सुमेरु पर्वत पर क्षीर समुद्रके जल से इनका अभिषेक किया गया। भगवान् शान्तिनाथका जीवन बड़ी पवित्रता से व्यतीत हुआ। अन्त में योगी हो, धर्म का उपदेश कर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। यह पात्रदान का फल है। जो लोग पात्रों को भक्तिपूर्वक दान देंगे वे अवश्य उच्च सुख प्राप्त करेंगे।

(सग.ध.पृ. 121)

औषधदान फल

भारत के कावेरी नामक नगर के राजा का नाम उग्रसेन था। वे प्रजापालक तथा राजनीति के बड़े विद्वान् थे। इसी नगर में धनपति नाम का एक सेठ रहता था। इसकी पत्नी धनश्री माने लक्ष्मी थी। धनश्री की एक देव कुमारी सी पुत्री उत्पन्न हुई, जिसका नाम वृषभसेना रखा गया। एख दिन की घटना है वृषभसेना की धाय रूपवती उसे स्नान करा रही थी। एक महारोगी कुत्ता उस गड्ढे में गिर पड़ा। जिसमें वृषभसेना के स्नान करने का पानी डकटा हो गया था। जब कुत्ता पानी से बाहर हुआ तो विल्कुल निरोग दिख पड़ा। रूपवती चकित हो गई। उसने समझ लिया कि वृषभसेना असाधारण लड़की है। उसने जल की परीक्षा के लिये थोड़ा सा जल अपनी माँ की आँखों में डाल दिया। उसकी माँ की आँखे वर्षों से खराब थीं उसका भी रोग जाता रहा। अब रूपवती का सारा संदेह दूर हो गया। इस रोग को नाश करनेवाले जल के प्रभाव से रूपवती की बड़ी प्रसिद्धि हुई। वह इसी जल से असाध्य से असाध्य रोगों की चिकित्सा करने लगी।

उग्रसेन और मेघपिंगल की पुरानी शत्रुता थी। एक बार उग्रसेन ने अपने मन्त्री को मेघपिंगल पर चढ़ाइ करने की आज्ञा प्रदान की। मेघपिंगल ने यह योजना की कि जिन कूपों से शत्रु सेना में पीने के लिये जल आता था, उसमें विष डलवा दिया। बहुत सी सेना मर गयी और जो सैनिक बचे वे भाग खड़े हुए। जिन लोगों को विष का असर हुआ था उन्हें रूपवती ने उसी जल से आराम किया। यह हाल सुनकर उग्रसेन को बड़ा क्रोध हुआ। किन्तु उन्हें भी जहर मिला हुआ जल पीना पड़ा। उग्रसेन की तबियत बहुत बिगड़ गयी। उन्हें रूपवती के जल का प्रभाव मालूम था। उन्होंने एक आठमी को सेठ के यहाँ से जल लाने के लिये भेजा। उसी समय रूपवती जल लेकर राजा के यहाँ पहुँची। जल के स्पर्श से ही राजा रोगमुक्त हो गये। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। जल के सम्बन्ध में पूछने पर रूपवती ने सब बातें बतलाई थीं। राजा ने धनपति सेठ को बुलाया और आदर सत्कार कर वृषभसेना से विवाह की इच्छा प्रकट की। धनपति ने उत्तरदिया— महाराज मुझे विवाह कर देने में कोई आपत्ति नहीं किन्तु आपको अस्त्यान्हिक पूजा करनी पड़ेगी और अभिषेक करना पड़ेगा। पिंजरे के पशु-पक्षी तथा जेल के कैदियों को छोड़ना पड़ेगा। उग्रसेन ने शर्त रखी कार्य में भी परिणत कर दिया।

बड़ी धूमधाम से वृषभसेना का विवाह हुआ। उसे पटरानी होने का सौभाग्य

मिला। उग्रसेन भी अन्य राजियों की अपेक्षा वृषभसेना से अधिक प्रेम करने लगे। किन्तु वृषभसेना का समय पृजा अभिषेक में ही अधिक व्यतीत होता था। वह साथुओं को चारों प्रकार के दान देती और ब्रत, तप, शील, संयमादिक का यथा साध्य पालन करती थी। बनारस का राजा पृथ्वीचंद्र, उग्रसेन के यहाँ कैद था। वृषभसेना के विवाह के समय भी उसकी मुक्ति न हुई। पृथ्वीचंद्र की पली नारायणदत्ता को आशा थी कि उसके पति छोड़ दिये जायेंगे, पर उसकी आशा सफल न हो सकी। पर अपने मन्त्रियों की राय से उसने दृसरी ही युक्ति सोची। नारायणदत्ता ने वृषभसेना के नाम से बनारस में कई दानशालायें बनवा दीं। वहाँ स्वदेशी और विदेशी सबको समानरूप से भोजन मिलने लगा। थोड़े ही दिनों में दानशालाओं की प्रसिद्धि हो गयी। दूर-दूरके ब्रात्मण भोजन के लिये आने लगे। जब यह सम्बाद वृषभसेना को मिला तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। पता लगाने पर असली रहस्य खुला। वृषभसेना ने उग्रसेन से प्रार्थना कर उसी समय पृथ्वीचन्द्र को छुड़वा दिया। पृथ्वीचंद्र ने कृतज्ञता स्वीकार की। पहले उल्लेख किया जा चुका है मेघपिंगल से उग्रसेन की शत्रुता थी। अब उग्रसेन ने पृथ्वीचन्द्र को उस पर चढ़ाइ करने की आज्ञा दी। मेघपिंगल डूर गया। क्योंकि वह पृथ्वीचन्द्र से कई बार हार मान चुका था। उसने लड़ना उचित न समझा। अतः उग्रसेन की शरण में आ गया।

एकदिन दरबार में उग्रसेन ने यह घोषणा की कि आज की आनेवाली भेट का आधा हिस्सा वृषभसेना को और आधा मेघपिंगल को दिया जायेगा। उस दिन भेट में बहुमूल्य वस्तुओं के अतिरिक्त दो कंबल प्राप्त हुए। राजा ने अपनी घोषणा अनुसार आधा द्रव्य और एक-एक कंबल मेघपिंगल और वृषभसेना के यहाँ भिजवा दिये। संयोग से मेघपिंगल की रानी यही कम्बल ओढ़कर वृषभसेना के महल में आयी। वृषभसेना के पास भी ऐसा ही कम्बल था। वह भूल से अपना कम्बल वहाँ छोड़ वृषभसेना का कम्बल ओढ़कर लौट आयी। कुछ दिनों बाद मेघपिंगल को दरबार में जाना पड़ा। वह वृषभसेना का कम्बल ओढ़े चला गया। राजा ने कम्बल पहचान लिया। उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। वे सोचने लगे कि वृषभसेना का कम्बल इसके पास कैसे गया। उग्रसेन के क्रोधित होने का कारण मेघपिंगल की समझ में न आया। वहाँ से हट जाना ही उसके लिये उचित था। वह एक तेज घोड़े पर सवार होकर दूर निकल गया। इस प्रकार मेघपिंगल को भागते देखकर राजा का सन्देह और भी बढ़ा। उन्होंने मेघपिंगल का पकड़ लाने

के लिये कुछ तेज सवारों को दौड़ाया, इधर वृषभसेना को समुद्र में फेंकवाने की आज्ञा दे दी। निर्वेष वृषभसेना समुद्र में फेंक दी गयी। पर घटि मनुष्य निष्कलंक है तो उसका बाल भी बाँका नहीं हो सकता। वृषभसेना को अपनी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। वह परमात्मा प्रेम में लीन हो गई। उस समय वृषभसेना की तेजरिता ने ज्योति का रूप धारण किया। उस ज्योति के समक्ष देवों को भी सर झुकाना पड़ा। उन्होंने वृषभसेना को एक सिंहासन पर बिठाकर पूजा की और जय जय कार मनाया। वृषभसेना के शील का मानात्म्य उग्रसेन को मालूम हुआ तो उन्हें महान् पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने वृषभसेना के समक्ष जाकर क्षमा माँगी और महल में चलने की प्रार्थना की। यद्यपि वृषभसेना प्रतिज्ञा कर चुकी थी कि इस कष्ट से मुक्त होने पर योगिनी बनकर आत्महित करूँगी, पर स्वयं महाराज लिवाने आये तो उसने महल में एक बार जाकर दीक्षा लेने का निश्चय किया। रास्ते में गुणधर मुनिराज के दर्शन हुए। वृषभसेना ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसने मुनि से पूर्वजन्म का हाल पूछा। मुनि ने बतलाया कि पूर्वजन्म में ब्राह्मण की लड़की थी। तेरा नाम नागश्री था। तू इसीराज धराने में झाड़ दिया करती थी। एक दिन मुनिदत्त नाम के मुनिराज कोट के अन्दर एक पवित्र गढ़े में ध्यान कर रहे थे। उस वक्त तूने मूर्खता से कहा— ओ नंगे ढाँगी! उठ यहाँ से, मुझे झाड़ देने दे। मुनि तो ध्यान मग्न थे। उन्होंने तेरी बातों पर ध्यान न दिया। तुझे और क्रोध हुआ। तूने कूड़े-करकट से मुनि को ढंक दिया। यद्यपि तू उस समय मूर्ख थी, पर तूने वह काम बुरा किया। सच्चे निर्ग्रन्थ साधु सदा पूजने योग्य होते हैं। उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। प्रातःकाल जब राजा उधर से निकले तो उनकी दृष्टि गढ़े पर पड़ी। मुनि के साँस लेने से कूड़ा नीचे ऊँचे हो रहा था। उन्हे संदेह हुआ। उन्होंने कूड़े को हटाया तो मुनि दिख पड़े। मुनि शीघ्र ही गढ़े से निकाले गये। तुझे भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तूने मुनि से अपने अपराधों की क्षमा माँगी। मुनि के कष्ट दूर करने के लिये तूने बड़ा यत्न किया, औषधि आदि से भरपूर सेवा की। उसी फल से इस जन्म में धनपति सेठ की पुत्री हुई और जो तूनें औषधि दान दिया था उसके फल से तुझे सर्वोषधी औषधि प्राप्त हुई कि तेरे स्नान के जल से कठिन से कठिन रोग नष्ट हो जाते हैं। मुनि पर कूड़ा डालने से मुनि को जो कष्ट हुआ था, उससे तुझे जन्म में झूठा कलंक लगा। मुनि द्वारा पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनकर वृषभसेना का वैराग्य और भी बढ़ गया, उसने स्वामी से क्षमा माँगकर मुनि द्वारा योगदीक्षा

प्रहण कर ली। जिस प्रकार वृषभसेना ने औषधिदानसे सर्वोषधी औषधि प्राप्त की। उसी प्रकार सत्यरूपों को उचित है कि वे रोगियों का सदा उपचार करते रहें। औषधि दान महापृथ्य का कारण होता है।

ज्ञानदान का फल

भारत के कुरुमरी नामक गाँव में गोविन्द नामका ग्वाला रहता था। उसने जंगल में वृक्ष की कोटर में जैन धर्म का एक पवित्र ग्रंथ देखा। वह उसे घर लाया और पूजा करने लगा। एक दिन उस ग्वाले ने ग्रन्थ पद्मनन्दि नामक मुनि को भेट कर दिया। गोविन्द ने मृत्यु के बाद कुरुमरी गाँव के चौधरी के यहाँ जन्म ग्रहण किया। इस बालक की सुन्दरता देखकर सबको प्रसन्नता हुई। पूर्वजन्म के पृथ्यफल से ही ये सब बातें सुलभ हो गयीं। एक दिन इसे पद्मनन्दि मुनि के दर्शन हुए। उन्हें देखते ही इसे जातिस्मरण हो गया। मुनि को नमस्कार कर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसके हृदय की पवित्रता बढ़ती गयी। वह शान्ति से मृत्यु प्राप्त कर पृथ्योदय से कौण्डेश नामक राजा हुआ। उसकी सुन्दरता और कान्ति को देखकर एक बार चन्द्र को लज्जित होना पड़ता था। शत्रु उनके भय से काँपते थे। वह प्रजापालक और दयालु था। इस प्रकार कौण्डेश का जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु विषय सम्पत्ति को क्षण-क्षण नष्ट होते देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसे घर में रहना दुःखमय जान पड़ा। वह राज्य का अधिकारी अपने पुत्र को बनाकर जिनमन्दिर में गया और वहाँ निर्ग्रन्थगुरु को नमस्कार कर दीक्षित हो गया। पूर्वजन्म में कौण्डेश ने शास्त्रदान किया था, उसके फल से वह थोड़े समय में ही श्रुतकेवली हो गया। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। ज्ञानदान तो केवल ज्ञान का भी कारण होता है। जिस प्रकार शास्त्रदान से एक ग्वाला श्रुतज्ञानी हुआ, उसी प्रकार सत्यरूपों को भी दान देकर आत्महित करना चाहिए। जो भव्य जन जिस ज्ञानदान की पूजा, प्रभावना, मान, स्तवन किया करते हैं, वे उत्तम सुख, दीर्घायु आदि का मनोवान्धित फल प्राप्त करते हैं। वह ज्ञानदान की कथा केवल ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो, वह मेरी मनोकामना है।

अभ्यदान का फल

भारतवर्ष में मालवा पवित्र और धनशाली देश है। वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता देखने के लायक होती है। स्वर्ग के देव भी यहाँ आकर मन चाहक सुख प्राप्त करते हैं। मालवे के तमाम नगरों में बड़े विशाल जिनमन्दिर बने थे। उन मन्दिरों की

ध्वंजाएँ ऐसी दिख पड़ती थीं, मानो वे स्वर्गका मार्ग बता रही हों। जिस समय की यह कथा है, उस समय मालवा धर्म का केन्द्र बन रहा था। मालवे के घर गाँव नामक नगर में देविल नाम का एक धनी कुम्हार और धर्मिल नाम का एक नाई रहता था। इन दोनों ने मिलकर नगर में बाहर से आनेवाले यात्रियों के ठहरने के लिये एक धर्मशाला बनवा दी। एक दिन की बात है देविल ने एक मुनि को लाकर धर्मशाला में ठहरा दिया। जब यह बात धर्मिल को मालूम हुई तो उसने मुनि को निकालकर एक संन्यासी को लाकर ठहरा दिया। ठीक ही है, दुष्टों को साधु सन्त अच्छे नहीं लगते। सबेरे जब देविल मुनि के दर्शन के लिये आया तो उन्हें धर्मशाला में न देख एक वृक्ष के नीचे बैठे हुये देखा। उसे धर्मिल की दुष्टता पर बड़ा क्रोध हुआ। उसने धर्मिल को बुरी तरह फटकारा धर्मिल भी क्रोधित हुआ। यहाँ तक झगड़ा बढ़ा कि वे लड़ कर मर मिटे। दोनों की क्रूर भावों से मृत्यु होने के कारण क्रम से सूअर और व्याघ्र हुये। ये दोनों विन्ध्य पर्वत की अलग-अलग गुफाओं में रहते थे। एक दिन संयोग से पृथ्वी को पवित्र करते हुये दो मुनिराज इसी गुफा में आकर ठहरे। उन्हें देखते ही सुअर को जाति स्मरण हो गया। उसने मुनियों के उपरेश से कुछ व्रत ग्रहण कर लिये। गुफा में मनुष्यों का गम्भ पाकर धर्मिल का जीव व्याघ्र मुनियों को खाने के लिये जपटा। सुअर देख रहा था। वह द्वार रोककर खड़ा हो गया। दोनों में लड़ाई होने लगी। एक मुनियों का रक्षक था और दूसरा भक्षक। अतएव देविल का जीव मृत्यु पाकर सौर्धर्म स्वर्ग में देव हुआ। उसके शरीर की कान्ति चमकती हुई मन को मोहित करने लगी। वह ऋद्धि-सिद्धियों का धारक हुआ। जो लोग जिन भगवान की प्रतिमाओं की कृत्रिम और अकृत्रिम मन्दिर में पूजा करते हैं, तथा मुनियों की भक्ति करते हैं, उन्हें ऐसे ही सुख प्राप्त होते हैं। अतएव सुख चाहने वाले सत्पुरुषों को जिनपूजा, पात्रदान, व्रत, उपवासादि धर्म का पालन करना चाहिये। देविल को तो स्वर्ग मिला, पर धर्मिल अपने पाप से नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल जान कर सत्पुरुषों को उचित है कि वे पवित्र जैन धर्म में अपना विश्वास ढूँढ़ करें।

जैसा कि दृष्टि की सीमित शक्ति के कारण अनंत आकाश भी सीमित प्रतिभाषित होता है। वैसा ही अनंत सत्य भी अल्पज्ञ के द्वारा अल्प दिखाई देता है।
आ. कनकनंदीजी महाराज

शक्तितस्तपः

तप की आधारशिला - इच्छाओं का निरोध

धर्मसभा को संवोधित करते हुए आचार्य रत्न श्री कनकनंदीजी गुरुदेव ने कहा कि स्वर्ण पाषाण में से स्वर्ण निकालते समय उसको धधकती भट्टी में तपाया जाता है। एक बार नहीं इस प्रकार सोलह बार तपाया जाता है तब शुद्ध सो टंच का सोना बनता है। जिस प्रकार स्वर्ण को तपा-तपाकर शुद्ध बनाया जाता है उसी प्रकार आत्मा के अन्तस् में छाये कल्पष को हटानेके लिए उसे बार-बार तपरूपी भट्टी में तपाना पड़ता है। भूखे रह लिए पहाड़ों के ऊपर तप तप लिया, पंचाग्नि तप कर लिया, वर्षों मौनव्रत रख लिया आदि शरीर को कष्ट देने वाले कितने भी कार्य कर लिए क्या ये वास्तविक सम्यक् तप हो गया? आचार्यों ने कहा - 'शक्तितस्तपः' शक्ति के अनुसार तप करना। तप के सम्यक् रहस्य को समझना चाहिए कि आखिर तप है क्या? कैसे किया जाता है तप? अगर तप नहीं करोगे तो भी पतन है, अयोग्य तप करोगे तब भी पतन है। सदुपयोग एवं दुरुपयोग करना हमारे हाथ में है। सम्यक् तप के महत्व को समझें। 'इच्छा निरोधः तपः' इच्छाओं का, अपनी आकंक्षाओं का, अपनी वासनाओं का, अपनी इच्छा अनुकूलताओं का निरोध करना ही तप है। क्षण-क्षण में हमारी इच्छायें बदलती रहती हैं। इच्छाओं का कोई ओर-छोर नहीं है। हमारी इच्छायें कभी भी किसी भी स्थिति में पूर्ण नहीं होती हैं। मनुष्य की अंत हीन आकंक्षायें ही मनुष्य को पतन के गर्त में ढकेल रही हैं। जब तक व्यक्ति तप को अंगीकार नहीं करता तब तक उसका उत्थान होना असंभव है। तप के बिना हमारे जीवन में पवित्रता नहीं आ सकती। कड़ाही के अंदर धी, शक्कर, आटा, पानी सब पदार्थ डाल दे लेकिन जब तक उसे अग्नि पर नहीं तपाया जाये तब तक हलुआ नहीं बनेगा। शरीर, आत्मा को तपाने का एक निमित्त है। शरीर के माध्यम से आत्मा को तपाया जा सकता है। आत्मा में कर्मरूपी कालिमा छाई हुई है उसे दूर करने के लिए तपरूपी कर्मरूपी अग्नि में बार-बार तपाना होगा तभी आत्मा शुद्ध बनेगा। जो अपनी समस्त विषय वासनाओं को जीत लेता है उसे तीन लोक के जीव नम्रकार करते हैं। आदर के साथ पूजते हैं। इसीलिए इन्द्रिय मन विजेता को महाविजेता कहा है। इसीलिए सर्वप्रथम इच्छाओं

का निरोध करना तप का प्रमुख गुण है। हमारे यहाँ पर अनादिकाल से तप त्याग का विशेष महत्व रहा है। लेकिन मध्यकाल में तप करनेवालों ने इसमें अनेकों विकृतियाँ रुद्धियाँ पैदा करके तप के सही स्वरूप का विनाश कर दिया। शक्ति के अनुसार तप करने को बताया गया। क्योंकि अगर स्वशक्ति को पहचानकर तप करेंगे तो उससे शारीरिक-मानसिक - आध्यात्मिक लाभ होगा। अगर शक्ति से कम या अधिक तप करेंगे तो शारीरिक-मानसिक आध्यात्मिक विनाश ही होगा। इसीलिए आचार्यों ने दो प्रकार के तप बताये। बाह्य तप, अन्तरंग तप। इन दोनों तपों के 6-6 भेद हैं। अनशन, ऊनोदर, ब्रतपरिसंघ्यान, रस परित्याग, विविक्तशब्द्यासन, कायक्लेश। ये बाह्य तप हैं जो कि कायबल की दृष्टि से कहे गये हैं। मनोबल की दृष्टि से अन्तरंग तप कहे हैं जो कि प्रायश्चित्त, विनय, वैद्यावृत्य स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान हैं।

तप वीरता का प्रतीक है। उस वीरता के प्रतीक रूप से तप शक्ति को बढ़ाने के लिए संकल्प बढ़ाने को कहा है। मनोबल, कायबल बढ़ाना यानि संकल्प मजबूत करना। काय की क्षमता बढ़ाना। दोनों ही शक्तियों के बढ़ाने का नाम तप है। कमजोर कर्म परमाणुओं का झड़ जाना ही तो तप का फल है। इसीलिए तत्वार्थ सूत्र में आचार्य उमा स्वामीने कहा कि 'तपसा निर्जरा च' कर्मों की निर्जरा करना ही तप का महत्वपूर्ण परिणाम फल है। जिसप्रकार कि टैंक में बाहर से पानी आता रहे तो टैंक खाली नहीं होगा अगर उस पानी को रोक दिया जाये तो पानी से टैंक भरेगा नहीं इसी प्रकार सत्ता में कर्म निरन्तर आ रहे हैं लेकिन उनको तपके माध्यम से रोका जा सकता है। बाह्य तप अन्तरंग तप से अन्तरंग एवं बाहरी दोनों प्रकार के कर्मरूपी शत्रुओं को रोकने का काम करते हैं इसलिए दोनों प्रकार के तपों का महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन जब तक हम उन दोनों की महत्ता के ज्ञान से सहित नहीं होंगे तब तक तप करने के बावजूद भी यथार्थ फल को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। "विन जाने तै दोष गुणन को कैसे गहिए तजिये" इसीलिए बाह्य, अन्तरंग तपों की पूर्ण व्याख्या की जानकारी हमें प्राप्त होनी चाहिए।

प्रत्येक धर्म, जाति, देश में, चिकित्सा प्रणाली में उपवास की परम्परा है और उसके महत्व को स्वीकार किया गया है। उपवास का अर्थ न केवल भोजन त्याग करना है, न केवल स्वास्थ्य रक्षा के लिये उपयोगी है परन्तु भोजन के साथ-साथ क्रोधादि भाव, तनाव, रौद्र ध्यान, आरम्भ, परिग्रहादि त्याग करके आत्म चिन्तन,

तत्व चिन्तन धर्मध्यान करने से शारीरिक, मानसिक आध्यात्मिक रोग दूर होते हैं। परन्तु वर्तमान में जो उपवास की प्रणाली है, उसमें अनेक भ्रांतियाँ अनेक त्रुटियाँ एवं अनेक रुद्धियाँ हैं। इससे उपवास से तो कम व्यक्तियों को कम लाभ होता है परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को अधिकांशतः हानि ही होती है। स्व-शक्ति, आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार उपवास की अवधि एवं उसका बाह्य आवलम्बन अलग अलग होते हुए भी उपवास का उद्देश्य या फल एक ही है जो कि भाव की विशुद्धता है। इस भाव विशुद्धता से ही पाप का संवर तथा निर्जरा होती है, जिससे शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है। भाव विशुद्धि के बिना केवल आहार त्याग करने से आध्यात्मिक स्वास्थ्य एवं मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि तो बहुत दूर है परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य की भी प्राप्ति नहीं होती है परन्तु और भी हानि होती है।

उपवास की अवधि में धार्मिक कार्य यथा पूजा अभिषेक, आहारदान स्वाध्याय, ध्यान, तप, जपादि करना चाहिये, परन्तु सांसारिक कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। दान पूजादि के लिये भाव शुद्धि के साथ साथ शारीरिक शुद्धि भी चाहिये। शारीरिक शुद्धि के लिये प्रासुक शुद्ध जल का प्रयोग करना चाहिये। मुख शुद्धि भी शारीरिक शुद्धि के अन्तर्गत है। इसलिये मुख शुद्धि भी करनी चाहिये। परन्तु मुनि आर्यिका धुल्लकादि उपवास के दिन मुख शुद्धि नहीं कर सकते हैं। हाँ यदि कोई गृहस्थ उपवासी समस्त संकल्प-विकल्प और आरंभ, परिग्रह को त्याग करके एकान्त में तप-ध्यान में लीन रहता है तो वह बाह्य पूजा, दानादि नहीं कर सकता है इसलिये उसे रुनान, मुख शुद्धि की भी आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि ऐसा तपादि नहीं करता है और शरीर मुख शुद्धि करके, आहार दान पूजादि नहीं करता तो उसका उपवास भी यथार्थ नहीं है।

उपवास के समय में आहार दान के लिये, पूजा के लिये तो श्रावक को पानी लाना, खाना पकाना, मन्दिर तथा चौका की शुद्धि करना, चौका एवं मंदिर के बर्तन साफ करना आदि कार्य कर सकता है परन्तु गृह सम्बन्धी, आरंभ परिग्रह सम्बन्धी कार्य यथा-कपड़ा धोना, झाड़ लगाना, आग जलाना, व्यापार करना, खाना पकाना, अश्लील सिनेमा टी.वी. डेखना, ताश खेलना, गप्प लगाना, शरीर को श्रृंगारित करना आदि नहीं करना चाहिए। उपवास के समय अधिक से अधिक धार्मिक कार्यों को अप्रमादि होकर करना चाहिए। उपवास की अवधि में रात्रि को

अधिक शयन करने का भी निषेध है परन्तु अभी देखने में आता है कि अधिक उपवास के समय में रात की तो बात शोड़ी दिन में लेटे रहते हैं, गण्य लगाते हैं, गृहकाव॑ भी करते हैं। यहाँ तक कि कुछ व्यक्ति तो तास तक खेलते हैं किन्तु ऐसे व्यक्ति भी इन पृजापि के लिये मुख शुद्धि के निमित्त, मुख में पानी डालने को उपवास भंग मानते हैं। वह तो एक प्रकार से लकीर के फकीर बनना है।

स्वशक्ति के अनुसार भोजन के साथ साथ विषय, कषाय, आरंभ, परिग्रह को त्याग कर बान, ध्यान, तप के द्वारा आत्मा के पास उपवेशन करना रित्थर रहना उपवास है। इसलिये भोजन त्याग का जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्व विषय कषायादि के त्याग के माध्यम से आत्मा के पास पहुँचना, धर्म ध्यान नहीं हो पाता है। यदि उपवास करने से शरीर, इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं जिससे धर्मध्यान करना है तब अधिक उपवास न करके शक्ति के अनुसार करना चाहिये, जिससे शरीरादि धार्मिक कार्य करने के लिये अधिक सक्रिय एवं समर्थ बनें क्योंकि आहार त्याग का मुख्य उद्देश्य है विशेष धर्मध्यान करना। यदि धर्मध्यान उपवास काल में नहीं होता है तो वह उपवास उद्देश्य एवं फलहीन हो जाता है और शरीर इन्द्रियाँ एवं स्मरण शक्ति भी शिथिल हो जाती है ऐसी परिस्थिति में योग्य सात्त्विक आहार करके धर्मध्यान में लगे रहना अधिक श्रेयस्कर है।

सम्यक उपवास का बहुआयामी उद्देश्य फल एवं उपयोगिता है। हर समय भोजन करने से पाचन तन्त्र को भोजन पचाने में ही सतत कार्य करना पड़ता है। जिससे उसे विश्राम के लिये अवसर नहीं मिलता है। इसके कारण पाचन तंत्र दुर्बल एवं अस्वस्थ हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप अपच, अग्निमंदता, गैसट्रबल, पेट दर्द, पेट फूलना, कब्जियत आदि अनेक रोग उत्पन्न होकर और भी अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा स्मरण-शक्ति की कमी, मन्द बुद्धि, आलाय, मोटापा, खट्टी डकार, छाती में दर्द, वात रोग आदि- आदि।

भोजन पचाने के लिये पाचन तन्त्र को सक्रिय होना पड़ता है जिसके लिये उसे शक्ति की आवश्यकता होती है। उस शक्ति की आपृति के लिये रक्त का बहाव पाचनतन्त्र की और अधिक होता है। इसलिये भोजन के बाद क्लिष्ट विषयों का अध्ययन एवं कठिन कार्य करने के लिये निषेध किया गया है। इसलिये जो बार बार भोजन करता है वह शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ रहता है एवं मन्द बुद्धिवाला होता है। क्योंकि मरित्पक की तरफ का रक्त भी पाचन तन्त्र में अधिक चला जाता

है, जिससे मरित्पक दुर्बल हो जाता है एवं बुद्धि कम हो जाती है। वैज्ञानिकों ने लिख किया है कि इससे अधिक शक्ति खर्च हो जाती है जिससे आयु कम हो जाती है। इसलिये दीर्घ आयु के लिये पौष्टिक आहार करना चाहिए। परन्तु बार-बार भोजन नहीं करना चाहिए। पौष्टिक आहार से ऊर्जा तो मिलती है परन्तु बार-बार पचाने में जो शक्ति की क्षति होती है वह नहीं होती है जिससे आयु बढ़ती है। इस वैज्ञानिक शोध में भी कुछ सत्य-तथ्य है। जैन कर्म सिद्धान्तानुसार भुज्यमान आयु में बृद्धि नहीं होती परन्तु कुछ बाह्य विपरीत कारणों से अकाल मृत्यु भी हो सकती है। इस सिद्धान्तानुसार सात्त्विक-पौष्टिक सन्तुलित आहार कम बार करने से भले आयु नहीं बढ़े परन्तु इससे जीवनी शक्ति शिथिल नहीं होगी एवं ऊर्जा की व्यर्थ क्षति नहीं होती होगी जिससे आयु का सन्तुलन नहीं बिगड़ता है। आगम, प्रत्यक्ष अनुमानादि से सिद्ध होता है कि निम्न श्रेणी के जीव अधिक खाते हैं एवं उच्च श्रेणी के जीव कम खाते हैं। जैसे बनस्पति, कीट, पतंगादि जन्म से लेकर मृत्यु तक सतत, खाते रहते हैं। उच्च श्रेणी के पशु पक्षी कुछ समय खाते हैं और कुछ समय मध्य-मध्य में आहार नहीं करते हैं। मनुष्य पशु से भी कम खाता है। मनुष्य में भी पुण्यवान जीव कम खाते हैं कर्म भूमिया जीवों से भी भोग भूमिया जीव कम खाते हैं। जघन्य भोग भूमिया जीव एक दिन के बाद आँखला के बराबर अमृतमय भोजन करते हैं एवं एक पल्योपम आयु प्रमाण काल तक निरोग पूर्वक जीते हैं। मध्यम भोगभूमिज - मनुष्य दो दिन के बाद हरड के बराबर अमृतमय भोजन करते हैं और दो पल्योपम आयु प्रमाण काल तक निरोग पूर्वक जीते हैं। स्वर्ग में तो और भी आयु की अवधि उनरोत्तर अधिक बढ़ती जाती है तथा उसके अनुपात से भोजन की मात्रा कम होती जाती है। एवं भोजन नहीं लेने की अवधि भी बढ़ती जाती है। देव बाहर से भोजन ग्रहण (कवलाहार) नहीं करते हैं। परन्तु उनके कण्ठ से ही अमृत बहुत वर्षों के बाद झरता है। और उससे वे तृप्त होकर दीर्घ काल तक जीवित रहते हैं। केवल ज्ञान होने के बाद जीव शरीर धारी होता हुआ भी कवलाहार नहीं करता हुआ भी करोड़ों वर्ष भी जी सकता है। सिद्ध भगवान तो समरत आहारों से रहित होकर अनन्त समय तक परम स्वास्थ्य को प्राप्त करके परमामृत सुख का सेवन करते रहते हैं।

गुरु की उपरिथित में गुरु से नियम लेकर आशीर्वाद प्राप्त करके एवं उनसे यथार्थ विधि को जान करके उपवास करना चाहिये। कुछ लोग धारणा के दिन

रात तक टूँस टूँस कर खाते हैं एवं पारणा के दिन सूर्योदय के पहले ही भोजन कर लेते हैं। उत्कृष्ट उपवास में जो धारणा एवं पारणा के दिन एक बार ही भोजन करना चाहिये परन्तु जो उत्कृष्ट उपवास नहीं करता है उसको भी सूर्यास्त के 48 मिनिट पहले भोजन से निवृत्त हो जाना चाहिए तथा सुर्योदय के 48 मिनिट बाद ही भोजन या कुछ खाना चाहिए। देवपूजा एवं गुरु (मुनिराजो) को आहार दान के बाद पारणा करना चाहिए। पारणा में स्व-प्रकृति के अनुसार भोजन करना चाहिए। पारणा में मिर्च, मसाला, उष्ण प्रकृति के भोजन, खट्टी चीज आदि प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। तरल सुपाच्य उपवास करना चाहिए। शक्ति की कमी से उपवास के मध्य में यदि पानी लेना है तो उसकी मूट भी नियम लेते समय ही रखना चाहिए। बिना मूट रखे पान लेना दोष है। उपवास को प्रदर्शन का विषय नहीं बनाना चाहिए। उपवास से मेरा नाम हो ऐसी भावना नहीं भाना चाहिए। एवं उसके लिये कुछ आडम्बर नहीं करना चाहिए। पारणा या उद्यापन के उपलक्ष्य में आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान, मन्दिरों को उपकरण दानादि तो करना चाहिए परन्तु सामान्य ग्रहस्थ को प्रसिद्धि के लिये बर्तन आदि नहीं देना चाहिए।

पूजा आदि के लिये स्नानादि करना चाहिए। योग्य वस्त्राभूषण भी धारण करना चाहिए परन्तु शृंगार नहीं करना चाहिए। वर्तमान में देखने में आता है कि दिखावे के लिए सुन्दरता के लिए उपवास के समय अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक शृंगार करते हैं। इससे उपवास की भावना, पवित्रता में शिथिलता आती है एवं दोष लगता है।

कोई-कोई एकाशन (ब्रत) करते हैं। इसमें दिन में एक ही आसन में बैठकर एक बार ही भोजन किया जाता है एवं पानी पिया जाता है परन्तु लोग एकाशन में 2-3 घण्टा बैठ कर भोजन करते रहेंगे। वहाँ ही बैठकर एक बार पेट भर भोजन करने के बाद कुछ समय के बाद पुनः भोजन कर लेंगे या पानी पी लेंगे। कुछ महिलायें एवं पुरुष तो खड़े हुए बिना खिसक-खिसक कर इधर उधर जायेंगे। वस्त्र धोयेंगे, बर्तन साफ करेंगे पुनः भोजन कर लेंगे या पानी पी लेंगे। यह नाटक 2-3 घण्टों तक चलता रहेगा। उनका मत है जब तक खड़े नहीं होते हैं तब तक कुछ भी कर सकते हैं एवं मध्य-मध्य में भोजन या पानी पी लेंगे। दृढ़ आदि लेने पर भी एकाशन हो जाता है कोई दोष नहीं लगता है। परन्तु यही व्यक्ति मानते हैं कि भोजन के पहले दान पूजादि के लिये भी मुख शुद्धि के लिये भी मुख में पानी डालने से एकाशन टृट या गल जाता है। यह तो रुद्धि की भी दादी है।

एकाशन में भी उपवास के यथा योग्य कर्तव्य पालन करने चाहिए।

पहले बताया गया था कि बाह्य एवं अभ्यन्तर के भेद से तप के दो भेद हैं।

- (1) अनशन (उपवास)
 - (2) अवमौदर्य (खल्पाहार, मूख से कम खाना)
 - (3) वृत्तिपरिसंख्यान (भोजन सम्बन्धी तृष्णा का नियंत्रण)
 - (4) रस परित्याग (अखाद व्रत रस लालसा को क्षीण करना)
 - (5) विवित शव्यासन (आध्यात्म सिद्धि के लिए निर्जन वास या एकांतवास)
 - (6) कायक्लेश (आत्म कल्याण में शरीर का उपयोग, शारीरिक सुखाभिलाषा का त्याग)
- ये बाह्य तप के भेद हैं।

(1) प्रायशिच्छत (दोषों का परित्याग करना) (2) विनय (पूज्य पुरुषों से नप्रव्यवहार करना) (3) वैव्यावृत्य (पूज्य पुरुषों की सेवा शरीर, भोजनादि से करना) (4) प्रत्याख्यान (5) बुत्सर्ग (अहंभाव, ममत्वादि का विसर्जन) (6) ध्यान (चित्त के विक्षेप का त्याग करके चित्त को आत्मा में लाना) ये अन्तरंग तप हैं। पहले यह भी बताया गया था कि अन्तरंग तप की सिद्धि के लिए बहिरंग तप किया जाता है। ये सर्व तप परस्पर अन्तः सम्बन्धी हैं। जिस प्रकार बहिरंग तप से अन्तरंग तप उत्कृष्ट है, उसी प्रकार पूर्व-पूर्व तप से उत्तरोत्तर तप श्रेष्ठ है। इसलिए शास्त्रों में इस का क्रम उपर्युक्त प्रकार से रखा गया है। प्रायशिच्छतादि ग्रन्थ में उपवास को प्रायशिच्छत की प्रथम इकाई के रूप में स्वीकार किया है। प्रायशिच्छत ग्रन्थ में कहा गया है कि श्वासोच्छवास प्रक्रिया में 108 बार णमोकार मंत्र जप करने का जो फल है वह फल एक उपवास का है। तप-की उत्तरोत्तर प्रकृष्टता उपवास से प्रारम्भ होकर ध्यान में समाप्त होती है। परन्तु पंचम काल की अपेक्षा “स्वाध्यायः परमो तपः” है। क्योंकि इस काल में उत्तम संहानादि के अभाव से उत्तम ध्यान नहीं हो सकता है। भगवती आराधना, अनगार धर्मामृतादि ग्रन्थ में कहा गया है कि—

शामयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः।

रुजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते॥

उपवास के द्वारा वात पित्त कुपित हो जाने से उत्पन्न हुए रोग अल्पाहार से शान्त हो जाते हैं तथा परिमित भोजी प्रकाश स्वभाव परमात्म-तेज को अथवा श्रुतज्ञान को प्राप्त करता है।

धर्मावश्यक योगेषु ज्ञानादानुपकारकृतः।

दर्पहारीन्द्रियाणां च ज्ञेयमुनोदरं तपः॥

यह ऊनोदर तप धर्म आवश्यक कर्तव्य, ध्यान और ज्ञानादि की प्राप्ति में उपकारी होता है तथा इन्द्रियों के मद को दूर करता है।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि उपवास से वात-पित्त का भी प्रकोप हो सकता है। इन्द्रियों की शक्ति कीण हो सकती है परन्तु अल्पाहार से उन सब समरयाओं का समाधान हो जाता है। जो उपवास तय करने में समर्थ नहीं है वह भी अल्पाहार तप कर सकता है। परन्तु बार बार इतना भी अल्पाहार नहीं करना चाहिए जिससे कुपोषण हो जावे एवं शरीरादि रोगप्रस्त हो जावे। कुछ लोग तो उपवास कर लेते हैं परन्तु अच्य समय टूँस-टूँस कर खाते रहते हैं। जिससे प्रमाद एवं रोग हो जाते हैं। थोड़ा सा भी भोजन कम होने पर दुखी, अशान्त विक्षुभ्य हो जाते हैं। भोजन करते हुए भोजन की आसक्ति-तृष्णा लालसा नहीं करना वृत्ति परिसंग्रह्याण तप है। क्योंकि आसक्ति, राग, ममत्वादि परिणाम ही बन्ध के लिये कारण है। प्रायः देखने में आता है कि उपवास एवं ऊनोदर तप करने वाले भी भोजन में गृद्धता रखते हैं। अधिक गरिष्ठ एवं रसयुक्त भोजन से इन्द्रियाँ मत्त हरित के जैसे उच्छृंखल हो जाती हैं। एक साथ विरोधी रसों के सेवन से भी वान्ति (वमन) पेट में दर्द आदि रोग हो जाते हैं। जैसे-दृध के साथ दहीं, मठ्ठा नमक, तेल, गुड़ खट्टी चीज़ (खट्टा रस) आदि विरुद्ध रस हैं। इसलिए इसका एक साथ सेवन नहीं करना चाहिए। कुछ उपवासादि करने वाले भी भोजन के समय रसलोलुपी दिखाई देते हैं। इच्छित रस नहीं मिलने पर क्रोधित होते हैं। भोजन बनाने वाली माँ बहिनादि की गाली तक देते हैं, बर्तन फेंक देते हैं। इसी प्रकार कुछ जो रस त्याग भी करते हैं वे भी अच्य रस या भोजन में लोलुपी होकर उपर्युक्त क्रियायें करते हैं। असन्तुलित अधिक उपवास या रस त्याग से शारीरिक-शक्ति, मानसिक-शक्ति, स्मरण-शक्ति, विवेक-शक्ति, सहन-शक्ति की कमी या ज्ञानवाही तंत्रिका तंत्र की क्षमता कम हो जाती है जिससे मनुष्य चिड़चिड़ा असहनशील हो जाता है। इसलिए रसत्याग भी शक्ति के अनुसार विवेकपूर्वक करना चाहिए। न अतिप्रणित बाजीकरण रस सेवन करना चाहिए न अति सूखा सूखा नीरस भोजन करना चाहिए। उपर्युक्त तपों के माध्यम से मन एवं इन्द्रियों को स्वास्थ्य एवं संयमित करके एकान्त, प्रशान्त, पवित्र प्रशारत शुद्ध वातावरण में रहकर आत्म चिन्तवन, स्वाध्याय, मनन, धर्मध्यान ज्ञानाराधना करनी चाहिए। क्योंकि उपयुक्त एकान्त स्थान में वायु प्रदृष्टण, शब्द प्रदृष्टण भाव प्रदृष्टण नहीं होने के कारण शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य उत्तम

होता है एवं आध्यात्मिक साधना में प्रखरता आती है। जैन तीर्थकर, पैगम्बर मोहम्मद, ईमा मसीह, ऋषि, तापस, महात्मा बुद्ध आदि ने एकान्त में ही अपनी—अपनी साधना की सिद्धी की थी। प्राचीन गुरुकुल, आधुनिक कुछ विद्यालय, चिकित्सालय, वेधशाला, वैज्ञानिक प्रयोगशाला आदि शहर के कोलाहल से दूर होते हैं। अनेक वैज्ञानिक दार्शनिक चिन्तन भी एकान्त में रहकर सत्य का शोध बोध करते हैं। कुछ उपवासादि तप को करने वाले भी भीड़ को पसंद करते हैं, भीड़ जुटाते हैं और उस भीड़ में विकथादि करके अपनी शक्ति एवं समय का दुरुपयोग करते रहते हैं। केवल एकान्त में रहना तप नहीं है। परन्तु एकान्त में रहकर आत्मा को परिष्कृत करना तप है। नहीं तो जो डाकू घोर आतंककारी हिंसकपशु एकान्त में रहते हैं वे भी तपरवी हो जायेंगे। जो उपवासादि तप करते हुए भी शरीरासक्त रहेंगे वे अन्यान्य धार्मिक कार्य करने में कठतरायेंगे। शरीर के राग से कर्मबंध भी होता है। जैसे जो खेल में बहुत डौड़ धूप करेंगे वे भी अपने छोटे छोटे दैनिक कर्तव्य में परावलम्बी रहेंगे।

जिस अन्तरंग तप के लिये बहिरंग तप किया जाता है उस अन्तरंग तप का प्रथम भेद प्रायश्चित्त है। जब तक जीव सर्वज्ञ वीतरागी नहीं बन जाता है तब तक कुछ न कुछ छोटे-बड़े दोष होना स्वाभाविक है। दोष होने पर भाव दृष्टिहो जाता है। कर्मबंध हो जाता है इसलिए उपर्युक्त हानियों से बचने के लिए सरल सहज भाव से स्वसाक्षी पूर्वक तथा पर (गुरु) साक्षी पूर्वक दोषों को स्वीकार करके उसका परिमार्जन करना चाहिए। इसको धर्म शास्त्र के साथ-साथ आयुर्विज्ञान, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, प्राकृतिक-चिकित्सा दण्ड विद्यानादि ने भी स्वीकार किया है। उपवासादि बहिरंग तप से प्रायश्चित्त तप महान् है। जो उपवासादि करते हुए भी दोषों का परिमार्जन करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं करते हैं उनके बहिरंग तप अधिक गुणकारी नहीं है।

पूज्य पुरुष पूज्य गुणों में आदर भाव होना नम्र व्यवहार करना विनय तप है। साधारण व्यक्ति विनय भी एक महान् अन्तरंग तप है यह नहीं जानते हैं नहीं मानते हैं। उन्हें तो यह आश्चर्य होता है कि विनय तप कैसे है? परन्तु जैन धर्म में विनय की महान् महिमा कही गयी है। कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि—

विणय मोक्षद्वारं विणयेण संयम तयोणाणं।

विणयेण विष्मुक्तस्स कुदोत्तेऽकुदोणाणं॥

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही संयम, तप और ज्ञान यथार्थ है। जो विनय से रहित है उसके तप कहाँ है? ज्ञान कहाँ है? विनय खयमेव अन्तरंग महान् तप है, संयम ज्ञानादि की वृद्धि के लिए कारण है। मनुष्य के लिए महान् आध्यात्मिक आभूषण है। परन्तु अन्यान्य तप करते हुए भी कुछ व्यक्ति अनप्र अशालीन, उदण्ड, हठग्राही अभद्र पाये जाते हैं।

गुरु गुणी धार्मिक व्यक्तियों की सेवा तन, मन, वचन भोजन औषधादि से करना वैय्यावृत्त है। जीवों को नहीं मारना निषेधात्मक अहिंसा (दया) है, तो जीवों की सेवा करना विधि परक अहिंसा है। इससे दया, नम्रता वात्सल्य भाव निरहंकारता, प्रेम संगठन बढ़ता है। इससे दूसरों के प्रति हमारी कर्तव्य निष्ठा, संवेदना, सह अस्तित्व, सहकार भाव बढ़ते हैं और यह सब भाव परिवर्तन में हमें भी मिलते हैं। इससे तीर्थकर पुण्य कर्म का बन्ध भी होता है। शरीर निरोग, सुन्दर एवं बलिष्ठ होता है और पर भव में निरोग, सुन्दर शरीर मिलता है। इस तप के कारण ही भीमसेन को बलिष्ठ शरीर मिला था। वासुदेव को सुन्दर शरीर मिला था भगवती आराधना में कहा गया है कि स्वाध्याय करने वालों से भी श्रेष्ठ वैय्यावृत्त करने वाला है। साधारण लोग वैय्यावृत्त को तप नहीं जानते और न ही मानते हैं कुछ लोग तो इसे गरीबों का पेशा (नौकरी) मानते हैं। उपवासादि करेंगे दान में रूपये देंगे परन्तु सेवा करने से कतरायेंगे या उसे हीन दृष्टि से देखेंगे।

सत् साहित्य का आत्म कल्याण के लिए अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से हिताहित का विवेक होने से अहित का परिहार होता है। भावों में निर्मलता आती है। भोग, विषय, कषाय दूषित भाव से जीव बचता है। स्वाध्याय में शरीर स्थिर रहता है, चक्षु शब्द देखने में लीन रहते हैं कर्ण शब्द श्रवण में प्रवृत्त होते हैं, मन तत्व चिन्तन में लीन रहता है। इसलिए स्वाध्याय को परम तप कहा है। और इससे असंख्यात् गुणी पाप कर्मों की निर्जरा होती है एवं सातिशय पुण्य कर्म का बन्ध भी होता है। स्वाध्याय शील व्यक्ति अन्य साधारण व्यक्ति से अधिक विवेकी शालीन नम्र, सरल, सत्याग्राही, धर्मशील पाप भीरु होता है। परन्तु अभी देखने में अधिकांश व्यक्ति स्वाध्याय करते हुए भी असंयमी, लोभी, कुटिल कुतर्की हठग्राही पाये जाते हैं। जैसे भोजन, पाचन के बिना अहितकारी हो जाता है उसी प्रकार वाँचना (स्वाध्याय) पाचन (आचरण) के बिना अहितकारी हो जाता है।

अहंकार, ममकार, संकल्प, विकल्प, कर्तापन का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। तप दान पूजादि करके भी उसमें अहंकारादि नहीं करना, धनादि के कारण न मद करना न उसमें लालसा रखना व्युत्सर्ग तप है। यदि तपादि करते हुए अहंकारादि त्याग नहीं करते हैं तो वे तप केवल ढोंग, बाह्य-आडम्बर क्रियाकाण्ड हो जाएंगे। जैसे - विषधर सर्प केवल काँचली त्याग करता है विष त्याग नहीं करता है। उसी प्रकार अन्तरंग विशुद्धि के बिना बाह्य त्याग तप व्यर्थ है। उपर्युक्त बहिरंग, अन्तरंग तप के माध्यम से जब भाव विशुद्ध हो जाता है मन स्थिर हो जाता है तब तप ध्यान होता है। ध्यान में न बाह्य-द्रव्यों का कुप्रभाव रहता है न अन्तरंग कुप्रभावों का प्रभाव रहता है। इसलिए मन भी शान्त निर्मल होकर स्थिर हो जाता है। इस ध्यान के माध्यम से ही जीव समस्त द्रव्य कर्म एवं भाव कर्मों को नष्ट करके सिद्ध बुद्ध, अनन्त सुखी हो जाता है। यदि अन्यान्य तप करते हुए भी मन यथा योग्य स्थिर शान्त (ध्यान) नहीं हुआ हो जाना चाहिए कि वह तप यथार्थ से तप नहीं था केवल तपाभास था। ध्यान से अन्यान्य तपों का अन्तः परीक्षण होता है। ध्यान तपों का मापदण्ड है परन्तु बगुले के जैसे ध्यान का ढोंग रचना ध्यान नहीं है। ध्यानी के बाह्य आचरण, व्यवहार में भी ध्यान की सुगन्धी आती है। जैसे ध्यानी, गम्भीर, शान्त, क्षमावान, दयावान, सरल, निर्भीक, सौम्य, साम्यभावी होगा।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि तपस्वी भोजन, रस, जनसम्पर्क, शरीर से लालसा / राग / इच्छा / आकर्षण हटाता हुआ दोषों को दूर करता है, विनप्र व्यवहार करता है। सेवा ब्रत स्वीकार करता है, स्वाध्यायशीली होता है, निष्कामी निरहंकारी होता है, एवं मन को संयमित करके आत्मा में यथा योग्य स्थिर रहता है। शास्त्र में जो कुछ वर्णन है वह वर्णन मध्यम प्रणाली से होने से अन्य बहुत कुछ विषय उसके अन्तर्गत होते हैं। इच्छाओं का निरोध करना कर्मों को तपाना आत्मा को पवित्र करना, यह सभी तप होने से इन सब उद्देश्यों से जो कुछ किया जाता है वह सब तप ही है। इसलिए मौन रहना विकथा नहीं करना, लोभ नहीं करना, शोषण नहीं करना, संग्रह नहीं करना, दूसरों की निंदा नहीं करना, दूसरों की उन्नति देखकर डाह नहीं करना धर्म एवं ज्ञान प्रचार के लिए तन, मन, धन, समय से सहकार करना, गरीब, दुःखी, रोगी आदि की निस्वार्थ रूप से निर्दोष सेवा करना आदि भी तप हैं।

तप से अिक्षुक हुआ चन्द्रगुप्त

अमवदमरलोके दीक्षितो वल्मनाया

नशनजानेता पुण्यादेवकान्तामोऽजः।

विगतसुकृतवैश्यो नन्दिमित्रामिधान

उपवसनमतोऽहं तत्करोमि त्रिशुद्धया॥

(पु.क.पृ. 215)

नन्दिमित्र नाम का जो पुण्यहीन वैश्य भोजन के लिए दीक्षित हुआ था वह उपवास से प्राप्त हुए पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में देवांगनाओं का प्रिय (देव) हुआ। इसीलिए मैं मन, वचन और काय के शुद्धिपूर्वक उपवास को करता हूँ।

इसी आर्यखण्ड के भीतर अवन्ति देश में वैदिश (विदिशा) नगर में राजा जय वर्मा राज्य करता था। रानी का नाम धारिणी था। इसी नगर के पास में एक पलासकृट नामका गाँव है। वहाँ एक देविल नाम का वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम पृथिवी था। इनके एक नन्दिमित्र नाम का पुत्र था जो पुण्यहीन था। वह मात्रा में बहुत अधिक भोजन किया करता था। इसलिए माता-पिता ने उसे घर से निकाल दिया था। तब वह वैदिशपुर गया। वहाँ जाकर वह नगर के बाहर एक वट-वृक्ष के नीचे बैठ गया। उसके पहुँचने के पूर्व में वहाँ एक काष्ठकृट नाम का लकड़ हारा लकड़ियों के बोझ को उतार कर विश्राम कर रहा था। उसको देखकर नन्दिमित्र बोला कि यदि तुम मुझे प्रतिदिन भोजन दिया करोगे तो मैं इससे चौगुनी लकड़ियों का बोझ लाया करूँगा। काष्ठकृट ने इस बात को स्वीकार कर लिया, तदनुसार वह उस लकड़ियों के बोझ को नन्दिमित्र के सिर पर रखकर घर को गया। उसने अपनी स्त्री जय धंटा को सीख दी कि तुम इसको कभी भी भरपेट भोजन नहीं देना। तदनुसार उसकी स्त्री उसे थोड़ा भोजन देने लगी। इस प्रकार काष्ठकृट भारी लकड़ियों के गद्ढों को मँगाने और उन लकड़ियों को बेचकर धन संचय करने लगा। अब वह स्वयं लकड़ियों को न लाकर उसी से मँगाया करता था। एक बार त्यौहार के समय जयधंटा ने सोचा कि इसके प्रसाद से मुझे सम्पत्ति प्राप्त हुई है। परन्तु मैंने इसे कभी भी पूर्ण भोजन नहीं दिया। आज इसे इच्छानुसार भोजन कराना चाहिए। यह सोचकर उसने उस दिन नन्दिमित्र के लिए उसकी इच्छानुसार खीर, धी और शक्कर आदि देकर अन्त में पान भी दिया, तब उसने सन्तुष्ट होकर काष्ठकृट से वस्त्र आदि माँगे। उस समय काष्ठकृट ने अपनी स्त्री से पूछा कि आज

इसे तूने खाने के लिए क्या दिया है। इसके उत्तर में उसने वथार्थ बात कह दी। इससे क्रोधित होकर काष्ठकृट ने यह यह कहते हुए कि तूने उसे ऐसा उत्तम भोजन क्यों दिया है, उसे दण्डों से ख़ब मारा। यह देखकर नन्दिमित्र ने विचार किया कि काष्ठकृट ने इसे मेरे कारण मारा है, इसलिए अब इसके घर में रहना योग्य नहीं है। बस यही सोचकर वह उसके घर से निकल गया। फिर वह एक लकड़ियों के भारी गट्टे को लाया और उसे बेचने के लिए बैठ गया। ग्राहक जन छोटे ही गट्टों को खरीदकर चले जाते थे, परन्तु इसके गट्टे के विषय में कोई बात भी नहीं करता था। इस तरह दोपहर हो गयी। तब वह भूख से व्याकुल हो उठा। इतने में वहाँ से विनयगुप्त नाम के एक मासोपवासी मुनि चर्या के लिए निकले। उन्हें देखकर उसने विचार किया कि मेरे पास तो पहिनने के लिए फटा-पुराना वस्त्र भी है परन्तु इसके पास तो वह भी नहीं है। देखूँ भला यह किधर जाता है। यह सोचता हुआ वह लकड़ियों के गट्टे को वहाँ पर छोड़कर उनके पीछे लग गया। उन मुनिराज का पड़गाहन राजा ने करके उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। नन्दिमित्र को देखकर उसने समझा कि यह कोई श्रावक है। इसलिए उसने दासी के द्वारा उसके पाँव धुलवाकर उसे 'भी दिव्य भोजन दिया। मुनि का निरन्तराय आहार हो जाने पर राजा के यहाँ पञ्चाशर्य हुए। उनको देखकर नन्दिमित्र ने समझा कि यह कोई देव है। इसके साथ रहने से मैं भी इसके समान हो जाऊँगा। यही सोचता हुआ वह उनके साथ गुफा में चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने उनसे प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! मुझे भी आप अपने समान बना लीजिए। तब भव्य और अल्पायु जानकर विनय गुप्तमुनि ने उसे दीक्षा दे दी। उस दिन नन्दिमित्र उपवास को ग्रहण करके पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करता रहा। पारणा के दिन 'मैं उन्हें आहार दूँगा, मैं उन्हें आहार दूँगा' इस प्रकार श्रावकों के बीच में विवाद आरम्भ हो गया। उसे देखकर नन्दिमित्र के परिणाम कापोतलेश्या जैसे हुए। कल इसके आश्रय से श्रावकों में कैसा क्षोभ होता है, यह देखने के लिए उसने दूसरा उपवास ग्रहण कर लिया। तीसरे दिन पारणा के निमित्त से राजा-सेठ आदि ने जाकर उसकी बन्दना करते हुए कहा कि 'मैं पड़गाहन करूँगा, मैं पड़गाहन करूँगा।' इस पर वह नन्दिमित्र बोला— 'मैंने आज भी उपवास किया है।' तब सेठ आदि ने कहा कि ऐसा न कीजिए। इसके उत्तर में उसने कहा कि मैं तो वैसा कर ही चुका हूँ। तत्पश्चात् सेठ ने राज दरबार में नवीन तपस्यी के गुणों का वर्णन किया।

उसे सुनकर रानी ने विचार किया कि प्रातःकाल मैं उनको आहार द्वारा। इसी प्रकार से वह तीन दिन के उपवास के पश्चात् पारणा के समय समर्त अन्तःपुर के साथ वहाँ गई। उसने गुरु और शिष्य दोनों की बदना की। उस समय नन्दिमित्र ने मन में विचार किया कि आज भी मैं उपवास करने में समर्थ हूँ, जब राजा आवेगा तब मैं पारणा करूँगा। यही सोचकर उसने कहा है स्वामिन! आज भी मेरा उपवास है। तब रानी ने उसके पावों में गिरकर कहा कि अब उपवास न कीजिए। इस पर उसने उत्तर दिया कि ग्रहण किये हुए उपवास को मैं कैसे छोड़ दूँ? गुरु ने भी कहा कि ग्रहण किये हुए उपवास छोड़ना योग्य नहीं है। तब रानी वापिस चली गई। उधर वह नन्दिमित्र पंचनमस्कार मंत्र के पदों का चिन्तन करता हुआ स्थित रहा। तत्पश्चात् रात्रि के अन्तिम पहर में गुरु ने कहा— हे नन्दिमित्र! अब तेरी अन्तमुहूर्त मात्र ही आयु शेष रही है। इसलिए तू संन्यास को ग्रहण कर ले। तब उसने प्रसाद मानकर गुरु के कहे अनुसार विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर लिया। इस प्रकार वह संन्यास के साथ शरीर को छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ। इधर राजा आदि नन्दिमित्र मुनि के स्वर्गवास को जानकर वहाँ स्वर्णादि की वर्षा द्वारा क्षपक की प्रभावना कर रहे थे और उधर इसी समय उस देव ने अपने परिवार के साथ वहाँ पहुँचकर विमानों से आकाश को व्याप्त कर दिया। स्वयं समर्त देवियों के साथ विमान में स्थित था। तब वह नन्दिमित्र के गृहस्थ अवस्था के देष में क्षपक के आगे नृत्य करता हुआ वह बोल रहा था—

पिछह पिछह ओदनमुंडं अच्छरमज्जगयं रमणिज्जं।

जेण व तेण व कारणएणं पञ्चइदव्वं होइ नरेण॥

देखो—देखो। जो नन्दिमित्र केवल भोजन के निमित्त से दीक्षित हुआ था वह अब रमणीय देव होकर अप्सराओं के मध्य में स्थित है। इसलिए मनुष्य को जिस किसी भी कारण से हो, संन्यास लेना ही चाहिए। नन्दिमित्र का जीव जो देव हुआ था वह स्वर्ग से च्युत होकर सम्प्रति चन्द्र गुप्त हुए। (पुण्यासावक था कोष)

जो कुछ पुरातन है वह पुराण है और जो हो गया वह इतिहास है। अतः इतिहास या पुराण महत्वपूर्ण नहीं होता है, परन्तु जो सत्य, न्याय, उदारता, पवित्रता है वह सर्वत्र सर्वदा महत्वपूर्ण है।

आ. कनकनंदीजी गुरुदेव

10

साधु समाधि

मरण को मंगल बनाने के लिए जीवन में धर्म व ज्ञान की आवश्यकता हैं

धर्मसभा को संबोधित करते हुए अभीक्षण ज्ञानोपयोगी, वैज्ञानिक धर्माचार्य आचार्यरत्न श्री कनकनंदीजी गुरुदेव ने कहा कि जीना ही कला नहीं है बल्कि मरना उससे भी श्रेष्ठ महान् कला है। एक सरल रेखा के दो बिन्दु होते हैं। एक बिन्दु न हो तो दूसरे का अस्तित्व ही नहीं होता। इसी प्रकार जीवन के दो बिन्दु हैं जिससे जीवन रेखा बनती है। जो एक दूसरे को प्रभावित करती है। जन्म का फल मरण है एवं मरण का फल जन्म। दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं। इससे रहित अवस्था मोक्ष है। संसार का जीवन अनेक घटनारूपी बिन्दुओं का समूह है।

जो मरण दुःख उत्पन्न करता हो, संसार को बढ़ाता हो वह मरण श्रेष्ठ नहीं है। इसके विपरीत जो संसार को काटकर मोक्ष प्राप्त कराये ऐसे मरण को श्रेष्ठ मरण, सल्लेखना मरण कहते हैं। बैरिस्टर चंपतराय की जब वृद्धावस्था आ गयी तब वे इंग्लैण्ड से भारत आने लगे। सभी ने समझाया आपने अपने जीवन का अधिकांश भाग यहाँ निकाला अब आप भारत क्यों जा रहे हो? यहाँ का वातावरण लोग आदि ठीक है। आपकी शारीरिक स्थिति भी रुग्ण है। आप भारत मत जाइये। चंपतराय ने इंग्लैण्डवासियों को समझाया कि इंग्लैण्ड में जीवन जीने की कला तो ठीक है लेकिन मरने की कला यहाँ नहीं है। यह कला तो भारत में ही है। इसीलिए अपने मरण के सुधार के लिए भारत जा रहा हूँ।

जो मरना नहीं जानता वह क्षण मरता ही रहता है। उसका जीवन हर क्षण दुःखों से, भयों से ग्रसित रहता है। इसीलिए जो मरने से डरते हैं वे कायर नपुंसक होते हैं। साधु—संत जीवन में एक बार ही मरते हैं। अधर्मिक, कायर हर पल — हर क्षण मरते हैं। इसीलिए अनंतबार मरण करते हैं। महान् पुरुष तीर्थकर आदि महापुरुष बार—बार नहीं मरते।

अग्नि से, फाँसी से, जहर खाकर, पहाड़ से गिरकर, अख—शस्त्र आदि के द्वारा मरना स्थूल आत्म हत्या है। लेकिन क्रोध कषायादि, लोभ, मोह आदि करना सूक्ष्म आत्म हत्या है। यह हमें दिखाई नहीं देता क्योंकि सूक्ष्म को देखने के हमारे संस्कार नहीं है। संस्कार तो स्थूल को देखने के हैं। इसीलिए इसे हम आत्म हत्या

नहीं गिनते। आत्मा समता स्वरूप, सुख स्वरूप, ज्ञान- घेतना स्वरूप है। इसके विपरीत सब आत्म हिंसा ही है। जो प्रमाद, क्रोध कषाय, राग-द्रेष करता है वह रीवल कषायी है। जो कषाय करें वहीं तो कषायी है। हम उसे ही कषायी मानते हैं जो भेड़ बकरी आदि पशु-पक्षियों को मारे। हमारी मूल में भूल अधिक है। हम स्वयं के दोष कहाँ देखते हैं दूसरों को देखते हैं। यह समाधि मरण हमें यही बताता है कि तुम कषायी हो, हिंसक हो, तुम कोई वीर महान् नहीं हो। अगर क्रोधादि कषाय करते हो तो। समाधि बताती है तुम स्वयं को देखो। इसीलिए साधु समाधि को वीर मरण, पंडित-पंडित मरण, मृत्यु महोत्सव कहा है।

पंचकल्याणक में गर्भ- जन्म कल्याणक होने पर भी मूर्ति को साधु नमस्कार नहीं करते। क्योंकि ये दो कल्याणक संसार बढ़ाने वाले हैं। परन्तु मृत्यु को मोक्ष कल्याणक कहा है। इसीलिए जन्म से अधिक महत्व मरण को देते हैं।

समाधि का दूसरा नाम सल्लेखना है। ‘सम्यक् प्रकारेण स्वर्गादिफल निरपेक्षत्वेन काय कषाययोः कृषीकरणम् इति सल्लेखना’ समीचीन प्रकार से काय और कषायों का निग्रह करना सल्लेखना है। जैन ऋषि मुनि अपने जीवन में अहिंसा धर्म के पालक, स्व-पर के रक्षक होते हैं। ये आत्म हत्या कभी नहीं करते बल्कि धीर- वीर योद्धा की तरह समाधि रूपी शश्व के द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं को जीतते हैं।

सब मृत्यु से बचने का तो उपाय करते हैं पर मृत्यु की विधिवत् तैयारी प्रायः कोई नहीं करता। व्यवहारिक जीवन में गृहनिर्माण, पाक कला, पठन-पाठन, शादी, व्यापार आदि सबकी विधि है। वैसे ही मृत्यु की विधि है। अकलंकदेव ने लिखा है कि- आत्मा अजर-अमर है। आत्मा का कभी मरण नहीं होता। मरण तो शरीर का होता है क्योंकि शरीर पुद्गल है। इसीलिए शरीर को नश्वर, विनाशक कहा है। वर्तमान शरीर से उसका पृथक् होना ही मृत्यु है। यदि साधक के हृदय में सच्ची श्रद्धा है कि आत्मा अजर-अमर है तो शरीर त्यागने के पूर्व वह कषायों को विधिवत् क्षीण कर आहार आदि का क्रमशः त्याग करें इस शरीर का त्याग करता है तो उसकी मृत्यु भी महोत्सव बन जाती है। आचार्यों ने मरण के सत्रह भेद बताये हैं लेकिन पाँच विशेष उल्लेखनीय हैं।

पंडिदं पंडिदं-मरणं पंडिदयं बालं पंडियं चैव।

बालं मरणं चउत्थं पंचमं बालं-बालं च॥

पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल पण्डित मरण, बाल मरण, बाल-बाल

मरण

पंडित-पंडित मरण— केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पंडित-पंडित मरण कहते हैं।

पंडित मरण— संयत मुनिराज (7वें से 11वें गुणस्थानवर्ती) मुनियों का पंडित मरण है।

बाल पंडित मरण— संयतासंयत व्रती- देश संयमी का मरण बाल पंडित मरण है।

बाल मरण— असंयमी सम्यादृष्टि का मरण बालमरण है।

बाल-बाल मरण— मिथ्यादृष्टि के मरण को बाल-बाल मरण कहते हैं।

मरण को मंगल बनाने के लिए जीवन में धर्म व ज्ञान की आवश्यकता है। विश्व का ऐसा कोई धर्म नहीं जो शांतिपूर्ण मरण को श्रेष्ठ नहीं बताता हो। विश्व का हर प्राणी शांतिपूर्ण मरण की इच्छा करता है। अतः हमें शांतिपूर्वक मरण करने की कला सीखनी चाहिए। जिसके प्रारम्भ से ही धार्मिक संरक्षण होते हैं, मनोबल ऊँचा होता है वह अन्तिम समय में समाधि पूर्वक मरण करता है।

जीने की कला हर प्राणी सीखता है पर जैनाचार्यों ने मरने की कला भी सिखाई है। जन्म को हर प्राणी मांगलिक कहता है परन्तु जैनाचार्यों ने मरण को भी मांगलिक कहा है। इसीलिए मरण को महोत्सव कहा है संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है परन्तु सदैव जीवित नहीं रह सकता तथा वह मरना कभी नहीं चाहता पर मरना अवश्य ही होता है। मरण ही आगमी जीवन का प्रारम्भ है। इसीलिए दिग्म्बर साधु मृत्यु से डरते नहीं वरन् मृत्यु को आमन्त्रण देकर खुशी-खुशी शरीर का त्याग करते हैं। जिस प्रकार पुराना घर, कपड़ा आदि छोड़कर नये को ग्रहण करने की इच्छा होती है उसी प्रकार योगीराज पुराने जीर्ण काय रूपी घर को छोड़कर नये कायरूप घर में प्रवेशार्थ समाधि धारण करते हैं।

जन्म तो सभी प्राणी लेते हैं। पर जीने की कला सभी को नहीं आती। जीने की सच्ची कला धर्म से ही आती है। जीने की कला के साथ-साथ मरण को मांगलिक बनाने की कला भी धर्म से ही संभव है। आचार्यों ने समाधि का बहुत ही महत्व बताया है। जो एक बार भी जघन्य समाधि कर लेता है वह अधिक से अधिक 7-8 भवया उक्तकृष्ट से 2-3 भव में मोक्ष चला जाता है। “जहणेण सत्तटभव उक्कसेण दो तिण्ण भवगहणाणि” इसका अर्थ यही निकलता है हमने अनादि-अनंत काल से अभी तक जघन्य समाधि भी नहीं की।

नंदिमित्र नामका एक लड़का था। वह कुछ भी काम नहीं करता था। दुःखी होकर माँ-बाप ने उसे घर से निकाल दिया। वह जंगल में चला गया। वहाँ लकड़ी काटकर शहर में बेचता था। लेकिन कोई उसकी लकड़ियाँ भी नहीं खरीदता था। एक दिन उसने एक सेठ के यहाँ नौकरी कर ली। घर का काम करता था। लेकिन सेठ अच्छा खाना भी नहीं देता था। एक दिन कोई पर्व आया सेठानी ने दया करके उसे अच्छा खाना खिला दिया। अच्छा खाना खाकर वह सो गया सेठ ने देखा आज सेठानी ने इसे भरपेट अच्छा खाना खिलाया है इसीलिये इसे काम की भी चिंता नहीं और नींद निकाल रहा है। उसे सेठानी के ऊपर बहुत गुस्सा आया और सेठानी को पीटा। सेठानी रोने लगी। उसकी रोने की आवाज सुनकर नंदिमित्र जाग गया। उसने रोने का करण पूछा— तो सेठानी ने बात बता दी। नंदिमित्र को बहुत दुःख हुआ कि मेरे कारण सेठानी को सेठ जी ने पीटा है इसीलिए वह घर से जंगल में चला गया। वहाँ उसे तीन-चार दिन तक खाना नहीं मिला। एक दिन उसे नग्न साधु का दर्शन हुआ। वह आश्चर्य करने लगा कि ये मेरे से भी अधिक गरीब है। मेरे बदन पर वस्त्र तो है इनके पास वस्त्र भी नहीं। लेकिन मुझे देखना चाहिए ये खाना आदि कहाँ से खाते हैं। मुनिराज आहार चर्चा हेतु शहर में गये तो वह उनके पीछे-पीछे गया। शहर में साधु के पहुँचते ही नगर के बहुत सारे लोग मुनिराज को नवधा भक्ति से पङ्गाहन करने लगे। एक घर में विधि मिलने पर गुरुराज का आहार हुआ। आहार होने के बाद श्रावकों ने समझा कि ये आदमी भी महाराजश्री के साथ का ही है इसीलिए उसको भी भोजन कराया। नंदिमित्र ने इतना स्वादिष्ट भोजन पहले कभी नहीं किया था। उसने भोजन करते-करते सोचा मैं तो इन्हीं महाराजश्री के पास रहूँगा। ये नंगे हैं फिर भी इनकी कितनी भक्ति होती है। वह भी खाना खाकर जंगल में आ गया। मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि इसकी आयु तीन दिन ही शेष है और यह जीव भव्य है। नंदिमित्र ने उसी क्षण दीक्षा ले ली। नगरवालों को मालूम पड़ा कि वह ब्रह्मचारी दीक्षित हो गये। दीक्षा के दूसरे दिन शहरवासियों ने खूब चौके लगाये लेकिन नंदिमित्र ने आहार नहीं किया। तीसरे दीन गुरुचरणों में बैठकर सल्लेखना स्वीकार कर ली और चारों प्रकार के आहार पानी का त्याग करके कषाय रहित होकर प्राणों का त्याग किया। वही नंदिमित्र अगले भव में चन्द्रगुप्त मौर्य बने जो अन्तिम मुकुटबद्ध राजा थे। भारतीय इतिहास की दृष्टि से प्रथम चक्रवर्ती थे। इनके गुरु भद्रबाहु थे। अपने

गुरु की अन्तिम समय में अपार सेवा करके समाधि मरण कराया। चंद्रगुप्त मौर्य इतना शक्तिशाली राजा था कि भारत को शक्तिशाली अखण्ड राज्य बनाया था। इनके बाद भारत दो हजार वर्ष तक गुलाम रहा। इन्होंने अन्तिम समय में दीक्षा लेकर सल्लेखना पूर्वक अपने शरीर का त्याग किया। आज भी इनकी चरण पादुकायें दक्षिण भारत में श्रवण बेलगोल में चंद्रगिरी की गुफाओं में बनी हुई हैं। इस प्रकार एक साधारण सा व्यक्ति भी समाधि करके स्वर्ग में गया।

बिना समाधि मरण किये कोई भी कितना महान् पुरुष तीर्थकर भी क्यों न हो मोक्ष नहीं जाता। अनादि काल से जन्म-मरण का यह गतिचक्र अबाध गति से धूम रहा है। मरण दो प्रकार का होता है— अवीचि और तद्भव। हम सोचते हैं प्राण निकलने पर ही मरण होता है लेकिन क्षण-क्षण मरण हो रहा है। जब से गर्भावस्था में प्रवेश किया दूसरे क्षण से ही मरण प्रारम्भ हो गया। एक व्यक्ति 50 वर्ष का है एक 40 वर्ष का है। हम 50 वाले को बड़ा मानते हैं लेकिन 40 वाला बड़ा है क्योंकि उसके 10 वर्ष कम हो गये। जन्म कब हुआ? जब मृत्यु हुई यानि जन्म मरण की लिंक एक दूसरे से जुड़ी हुई है। जैसे कि अंधकार नष्ट हुआ कि प्रकाश हुआ। यह जीव मरने के बाद ही तुरंत जन्म ले लेता है उस सूक्ष्म समय की केवली के अलावा अन्य कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। हम मरने के बाद रोते रहते हैं। वर्षों तक यह रोने का रिवाज राजस्थान में सबसे अधिक है उसमें भी विशेष मेवाड़ प्रांत में। जीवित रहने पर तो पूछेंगे नहीं पानी तक नहीं पिलायेंगे। मरने के बाद श्राद्ध करेंगे। शवयात्रा ठाठ-बाठ से निकालेंगे, वर्षों तक शोक मनायेंगे। धर्म कर्म नहीं करेंगे, मंदिर, गुरुओं के पास नहीं आयेंगे। अगर कोई मंदिर या गुरुओं के पास आ भी जाये तो उसकी निंदा करेंगे, उसे प्रताड़ित करेंगे। कोई नहीं रोयेगा तो फिर भी उसे रोने के लिए विवश करेंगे। यह सब बाह्य ढांग दिखावा है। “जीवित बाप से लट्ठम लट्ठा मरे हुए को पहुँचाये गंगा” वाली बात है।

आप श्राद्ध करते हो लेकिन श्राद्ध का वास्तविक अर्थ क्या है? मालूम है? यानि अपने माता-पिता या अन्य जो कोई भी हो उसके प्रति अन्तरंग श्रद्धा हो। जब हमारी किसी के प्रति अन्तरंग श्रद्धा होती है तो मरने के बाद भी हम उसे भूल नहीं पाते और उसके भविष्य की शुभ कामनायें करते हैं कि उनको सद्गति की प्राप्ति हो। इस प्रकार आत्मीयजनों के प्रति श्रद्धा से श्राद्ध की रुद्धिगत परम्परा

चल पड़ी। कितनी गंदी परम्परा है। एक तो व्यक्ति मर गया उसका दुःख, दूसरा खाना खिलाओ, नहीं खिलायेंगे तो सामाजिक प्रताङ्गना सहन करो। आजकल साधु परम्परा में भी गलत परम्परा प्रवेश कर गयी है। साधु की समाधि के बाद पूरे नगर भ्रमण करायेंगे। फिर जलाने के लिए हजारों नारियल, घी, कपूर आदि व्यय करते हैं। यह सब धन व समय का अपव्यय है। ऐसे लोगों ने धर्म व अहिंसा को नष्ट कर दिया है।

इन कुरीतियों को तोड़कर समाधि का सही रूप समझना होगा क्योंकि मोक्ष मार्ग का शुभारंभ है परण को महोत्सव माननो।

आजकल हम सभी जन्मदिन मनाते हैं दीपक बुझाकर व केक काटकर। दीपक बुझाना यानि अंधकार बुलाना यानि हमारा बच्चा कुछ भी विकास ना करे वह अंधकार में जीता रहे। प्रकाश विकास, उन्नति, प्रगति का सूचक है, अंधकार विनाश, मृत्यु का सूचक है, जीवन के नाश का सूचक है। केक काटना, अपने जीवन को नष्ट करना, काटना। हम सभी सच्ची वास्तविकता, यथार्थता से अपरिचित हैं और अंधानुकरण की दौड़ में सक्रिय रूप से शामिल है। जो ऐसा नहीं करेगा उसे हम महामूर्ख मानते हैं और ऐसा करने पर स्वयं को अप टू डेट मानते हैं। बर्थ डे यानि व्यर्थ का डे।

हमें जानना चाहिए कि मृत्यु जन्म से श्रेष्ठ है। इसीलिए जन्म से अधिक मृत्यु को महत्व देना चाहिए। मरण ठीक प्रकार हो इसकी तैयारी करनी चाहिए। एक साधु की समाधि के लिए कम से कम 48 निर्यापिकाचार्य बताये हैं। उनके शिष्य आदि कितने होते होंगे। एक आचार्य के साथ 20-30 तो होंगे ही। इतने लोगों का क्या होता होगा। तो आचार्यों ने मरणकण्ठिका, भगवती आराधना आदि विशाल ग्रंथों में समाधिस्थ क्षपक का हर प्रकार से वर्णन किया है। मरण के समय तीव्र वेदना होती है। उस वेदना में कहीं समाधिस्थ के भाव नहीं बिगड़ जायें उनके भावों को हर क्षण निहारते हैं। शारीरिक वैद्यावृत्ति आदि करते हैं। अगर समाधि बिगड़ गयी तो गति बिगड़ जायेगी। अंतिम भाव सुधर गये तो गति सुधर जायेगी। नाग-नागिन को अंतिम समय णमोकार, दिया तो पदमावती धरणेन्द्र बन गये। कुत्ते को जीवधर कुमार ने णमोकार मंत्र दिया तो यक्ष बन गये। ऐसे दो-चार नहीं हजारों उदाहरण हैं कि अंतिम समय में जैसे भाव हों उसी रूप गति बंध हो जाता है। हेमसेन नामक एक बहुत विद्वान्-ज्ञानवान् मुनिराज थे। उनके अंतिम

समय में खरबूजे की सुर्गांध पर भाव चले गये और उन्हीं भावों में मरण हो गया तो खरबूजे के कीड़ा बन गये। इसीलिए अंतिम समय में विशेष सावधान रहने पर जोर दिया है। परिवार, धन, संपत्ति आदि के प्रति मोह त्याग कराते हैं किसी प्रकार का किसी के प्रति राग-द्रेष का परिणाम ना बन जाये। क्योंकि मरण के समय ऐसे विचार अधिक आते हैं। जबान से बृद्धों की तृष्णा, मोह आदि अधिक बढ़ जाता है। एक सेठ जी के लड़के लड़कियाँ, पोता-पोती सब थे। सेठजी बीमार पड़े। चारों ओर से सभी परिवारजन उनको णमोकार मंत्र सुनाने लगे तो वे सभी को अपने पास खड़ा देखकर जोर से चिल्लाये कि सभी यहाँ मेरे पास आ गये णमोकार सुनाने सामने गाय झाड़ खा रही है। इस प्रकार बृद्धावस्था में अधिक तृष्णा बढ़ जाती है। उस तृष्णा के आवेश में वह अपना सब कुछ भूल जाता है।

इस आधि-व्याधि-उपाधि से रहित अवस्था ही तो समाधि है। जीवन भर व्रत, संयम पूजा, अनुष्ठान किया अंतिम समय जिसके शारीरिक, मानसिक पीड़ा या आचार्य, उपाध्याय, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि उपाधियों का रोग नहीं है वही समाधिमरण कर सकता है।

समाधिमरण जीवनरूपी शिखर का महल है। जिस प्रकार मंदिर में मूर्ति है शिखर नहीं तो उसकी शोभा नहीं। उसी प्रकार जीवनभर व्रत, संयम, पूजा, दान आदि किया लेकिन अंतिम समय में समतापूर्वक शरीर का त्याग नहीं किया तो संयमादि की कोई शोभा, उपयोगिता नहीं है। चोटी चढ़ते-चढ़ते छत से गिर जाये तो उसका चढ़ना निरर्थक है। बालक पढ़ते-पढ़ते परीक्षा में फैल हो गया तो वह पढ़ने का फैल नहीं है। मंदिर पूरा बन गया शिखर नहीं चढ़ाया तो मंदिर की शोभा नहीं। बड़ा विशाल महल बनाया पर गृहिणी नहीं तो महल की शोभा नहीं। उसी प्रकार जीवनभर धर्म करते रहे, व्रत आचरण सब कुछ किया पर अंत में समाधि मरण नहीं किया तो व्रतों की क्या उपयोगिता?

समाधि मरण सुधारना एवं एक करोड़ शिखरबद्ध मंदिर बनवाना दोनों का पुण्य बराबर है। इस समाधि की बहुत बड़ी उपयोगिता है। साधु चारुमास में विहार नहीं करते लेकिन किसी की समाधि करानी हो तो जाते हैं उसका कोई प्रायशिक्त आदि विधान नहीं है। गृहस्थ के घर नहीं जाते लेकिन समाधि हेतु जा सकते हैं। कितनी अद्भुत एवं बड़ी महिमा है समाधि की। लेकिन समाधि के महत्व को प्रायः व्यक्त नहीं समझते। अंतिम साँसें गिन रहे होंगे फिर भी और जीवन जीने की

इच्छा करेंगे। समाधि के संस्कार छोटे मोटे संस्कार नहीं हैं, बल्कि एक बार के समाधिमरण में अनेकों भवों के संस्कार, जीवन की कठोर साधना का रहस्य छिपा है। त्याग, सुसंस्कार एवं संयम की साधना के बिना मरण कभी भी मंगलमय बन नहीं सकता। मरण को मंगलमय बनाने के लिए प्रतिदिन संस्कार डालने चाहिए। भावना करनी चाहिए कि मेरे प्राण अरहन्त सिद्ध कहते—कहते निकलें। मरने के समय जो असह्यवेदना होती है उस वेदना का भी मुझे ध्यान न रहे इतने मेरे भाव आत्मा की तरफ एकाग्र हो जायें।

मरण की असह्य वेदना की जानकारी वैज्ञानिकों ने भी खोज ली है। आत्मा अखण्ड होती है। जैसे कि हम अपने सम्पूर्ण शरीर में से एक भाग अलग करते हैं तब पीड़ा होती है। ऐसा क्यों? क्योंकि जब आत्म प्रदेश दबाव के साथ खिंचते हैं या बाहर निकालते हैं तब पीड़ा होती है। साँस का वेग बढ़ता है। प्यास अधिक लगती है शरीर के सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में इन रोगों के कारण एक अलग ही दबाव खिंचाव पड़ता है इसीलिए मरण के समय बहुत ही पीड़ा होती है। इसीलिए अग्नि में जलकर मरना, जहर खाना, फौंसी लगाना आदि के द्वारा मरण होता है वह आत्महत्या ही है। उस व्यक्ति को मरते समय ही अनुभव होता है कि मैंने अच्छा नहीं किया क्योंकि आवेश में आकर यह कार्य तो कर लेता है लेकिन प्राण छोड़ते समय काफी तड़फ़ड़ाहट के साथ प्राण छोड़ता है। संसार में देव और नारकियों का, भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यचों का, उत्तम चरम शरीरी मनुष्यों का मरण आयु के क्षय होने पर ही होता है। इनका मरण असमय में नहीं होता किन्तु हमारा मरण असमयमें भी मरण के कारण बन जाने पर हो जाता है। गोम्पटसार कर्मकांड में आचार्य नेमीचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अकाल मरण के कई कारण बताये हैं

विषवेयणरत्तकखय भयसत्यग्गहण संक्लेसेहिं।

उस्सासाहारणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥

विषखाने से, रक्त के क्षय हो जाने से, भय से, शस्त्र घात से, संक्लेश से, श्वास के रुक जाने से, आहार के न मिलने आदि कारणों से आयु का क्षय हो जाता है उसे अकाल मरण कहते हैं। सल्लेखना के आचार्यों ने अतीचार भी बताये हैं कि—

जीवित मरणाऽशंसे भय मित्रस्मृति निदान नामानः।

सल्लेखनाऽतिचारः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टा॥

सल्लेखना धारण करने के बाद और जीने की इच्छा रखना तीव्र वेदना के प्रसंग आने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना, परलोकादि का भय करना, बाल्यअवरथा में खेलने वाले मित्र आदि का स्मरण करना, आगामी भव में स्वर्गादिक के ऐश्वर्य को प्राप्त करने की इच्छा करना ये सल्लेखना में बाधा उत्पन्न करते हैं एवं इन दोषों के अलावा अन्य दोष भी हैं। इसीलिए अन्तिम समय में शोक आदि करके राग नहीं बढ़ाना चाहिए। इसीलिए आचार्य अपने संघ का त्याग करके दूसरे संघ में समाधि हेतु जाते हैं। कुछ खोकर ही पाया जाता है।

राष्ट्रीय नेता सुभाषचंद्र बोस, चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि वीर जवानों ने फाँसी को भी हँसते—हँसते स्वीकार किया। उनकी माँ बहिने रोती थीं तो समझाते थे कि यह वीरों का मरण है आत्म अजर अमर है। हमारा शरीर ही तो टूट रहा है। अगला जन्म हम अन्य कहीं लेंगे। तो उनकी माँ बहिने कहती थीं हम आपके मरण के आँसू नहीं बहा रहे हैं बल्कि ये आँसू इसीलिए आ रहे हैं कि हमारे पास दूसरा कोई पुत्र नहीं है जो कि देश के बलिदान का कार्य अन्य समय आने पर कर सके। संसार में इस जीव को भ्रमण करते करते अनन्तकाल हो गया परन्तु समाधि मरण नहीं किया। मरण के नाम से डरता रहा। लेकिन मरण से छुटकर सदा के लिए अमर होने का उपाय इसने आज तक नहीं किया और नहीं अब करना चाहता है। ऐसी स्थिति में संसार से छुटकारा कैसे मिलेगा?

आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू स्तोत्र में कहा है—

विभेतिमृत्योर्नततोस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वांछित नास्य लाभः

तथापि बालो भय काम वश्यो, वृथा स्वयं तप्यत उत्पवादीः॥

यह जीव मरण से सदा डरता है लेकिन उससे छुटकारा नहीं पाता। सदा शिव की वाँछा करता है परंतु शिव का लाभ इसको कभी नहीं होता है। तथापि यह मूर्ख जीव मरण के भय और शिव की वाँछा से स्वयं वृथा तपता है। मरण से डरने से, मरण इस जीव को छोड़ता नहीं है। इसीलिए जीवन को अनिश्चित जानकर हमकों धर्म सेवन सदा करना चाहिए। पता नहीं मरण किस समय हो जावे। पाँच पापों का त्याग कर व्रतों को ग्रहण करना चाहिए। प्राणीमात्र से क्षमा करनी चाहिए। परिग्रह का त्याग करके अपनी निर्मल पवित्र-ज्योतिर्धारी आत्मा का चिंतन करना चाहिए। नमोकार मंत्र का ध्यान करना चाहिए। जिन साधुओं ने उपसर्गों को सहते हुए धर्म ध्यान में आरुद्ध रहकर मरण किया उनके स्वरूप का चिंतन अपने परिणामों

को स्थिर, धर्मचय बनाने चाहिए। यह जीव अकेला ही आया है अकेला ही जायेगा इस जग में कोई किसी का नहीं है। सब स्वार्थ के नाते हैं। इसीलिए अगर स्वयं को सुख शांति प्राप्त करना है तो निर्विकल्प पूर्वक समाधि की साधना करो।

दैभव - वैराग्य एवं समाधि की साकारमूर्ति (सुकुमाल मुनि की कथा)

जिनके नाम का ध्यान करने से हर प्रकार की धन-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है उन परम पवित्र जिन भगवान् को नमस्कार कर सुकुमाल मुनि की कथा लिखी जाती है।

वह उस समय की कथा है, जब अतिबल कोशाम्बी के राजा थे। वहाँ एक सोम शर्मा पुरोहित रहता था। जिसकी स्त्री का नाम काश्यपी था। इसके अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो लड़के हुए। माँ-बाप के लाड़ले होने के कारण वे कुछ पढ़ लिख नहीं सके। कालचक्र से असमय में ही सोमशर्मा की मृत्यु हो गई। दोनों पुत्रों को निरा मूर्ख देखकर अतिबल ने पुरोहित पद किसी और को दे दिया। यह ठीक है कि मूर्खों का कहीं आदर-सत्कार नहीं होता। अपना अपमान हुआ देखकर इन दोनों भाइयों को बड़ा दुःख हुआ। अब इन्हें कुछ लिखने-पढ़ने की सूझी। अपने मामा सूर्य मित्र के पास राजगृह जाकर इन्होंने सब हाल कहा। इनकी पढ़ने की इच्छा देखकर सूर्य मित्र ने स्वयं इन्हें पढ़ाना शुरू किया और कुछ ही वर्षों में इन्हें अच्छा विद्वान् बना दिया और ये अपने शहर को लौट आये। आकर इन्होंने अतिबल को अपनी विद्या का परिचय कराया। अति बल इन्हें विद्वान् देख खुश हुआ और इनके पिता का पुरोहित पद फिर इन्हें दे दिया।

एक दिन संध्या समय सूर्यमित्र सूर्य को अर्ध चाढ़ा रहा था कि अङ्गुली से राजकीय रत्न-जटिल अङ्गूठी निकलकर महल के नीचे तालाब में जा गिरी। भाग्य से वह एक खिले हुए कमल में पड़ी, जो रात होने पर कमल के सिकुड़ जाने से उसी में बन्द हो गयी। पूजा के बाद उसकी नजर अङ्गुली पर पड़ी तो उसे मालूम पड़ा कि अङ्गूठी कहीं गिर गई। अब तो डर के मारे वह काँपने लगा, उसे चिन्ता होने लगी कि राजा जब अङ्गूठी माँगेगा तो कहाँ से दूँगा। अङ्गूठी के लिये उसने बहुत कुछ खोज ढूँढ़ की, पर पता न चला, तब किसी के कहने से वह अवधि ज्ञानी सुधर्म मुनि के पास गया और हाथ जोड़कर उनसे अङ्गूठी के बारे में पूछा। मुनि ने कहा कि सूर्य को अर्ध देते समय तालाब में एक खिले हुए कमल में अङ्गूठी

गिर पड़ी है, वह सबेरे मिल जायेगी। वैसा ही हुआ। सूर्योदय होते ही जैसे कमल खिला सूर्य मित्र को उस में अङ्गूठी मिल गई। सूर्यमित्र बड़ा खुश हुआ, साथ ही उसे आश्चर्य हुआ कि मुनि ने यह बात कैसे बतलाई? उनसे मुझे भी यह विद्या सीखनी चाहिए यह विचार कर सूर्यमित्र मुनि के पास गया। उन्हें नमस्कार कर उसने प्रार्थना की कि मुझे भी आप अपनी विद्या सिखा दीजिये तो बड़ी कृपा होगी। मुनिराज ने कहा— भाई! मुझे यह विद्या के सिखलाने में कोई इन्कार नहीं है पर बिना जिन दीक्षा लिये यह विद्या नहीं आ सकती। सूर्यमित्र तब केवल विद्या के लोभ से दीक्षा लेकर मुनि हो गया। सुधर्म मुनि ने सूर्यमित्र को मुनियों के आचार-विचार के शास्त्र तथा सिद्धान्त शास्त्र पढ़ाये, जिससे उसकी आँख खुल गई। गुरुपदेशरूपी दीपक द्वारा अपने हृदय के अज्ञानान्धकार को दूरकर वह जैनधर्म का अच्छा विद्वान् हो गया। गुरुओं की भक्ति और सेवा करने से सब काम सिद्ध हो सकते हैं।

मुनिधर्म में कुशल होने पर गुरु की आज्ञा लेकर सूर्यमित्र मुनि अकेले विहार करने लगे। एक बार ये विहार करते हुए कौशाम्बी आये। अग्निभूति ने इन्हें भक्ति पूर्वक दान दिया और वायुभूति से मुनि की बन्दना करने के लिये आग्रह किया जिससे उसे जैन धर्म में प्रेम हो। वायुभूति सदा जैनधर्म के विरुद्ध रहता था। इसलिए अग्निभूति के आग्रह का फल भी उलटा हुआ। क्रोधित होकर वायुभूति ने मुनि की ओर अधिक निन्दा की, उन्हें भला-बुरा कहा। दुर्गतियों में जाने वाले की बुद्धि उपदेश करने पर भी और अधिक पाप के कीचड़ में फँसती है। अग्निभूति को अपने भाई की दुर्बुद्धि पर बड़ा दुःख हुआ और वह मुनि के साथ बन में चला गया। वहाँ धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य हो जाने से दीक्षा लेकर वह भी तपस्यी हो गया। अपना और दूसरों का हित करना अब से अग्निभूति के जीवन का उद्देश्य हो गया।

अग्निभूति के मुनि हो जाने की बात सुनकर उनकी स्त्री सती सोमदत्ता को अनन्त दुःख हुआ। उसने वायुभूति से कहा— तुमने मुनि बन्दना न की जिससे दुःखी हो तुम्हारे भाई भी मुनि हो गये। यदि वे अवतक मुनि न हो तो चलो हम दोनों उन्हें समझा लायें। वायुभूति ने गुरसा होकर कहा कि तुम्हें गरज हो तो तुम जाओ, मुझे उस बदमाश नंगे के पास जाने की जरूरत नहीं है। यह कहकर अपनी भौजाई को एक लात मारकर वह चलता बना। सोमदत्ता को उसके व्यवहार से बड़ा दुःख

हुआ, पर अबला होने से वह उस समय कुछ न कर सकी। तब उसने निदान किया कि तूने जो मुझे लातों से ठुकराया है, उसका बदला स्त्री होने से इस समय न लें सकी, पर याद रख इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में बदला अवश्य लूँगी। मुझे तभी सन्तोष होगा, जब ये तेरे उस पाँच को जिससे तूने लात मारी है और मेरे हृदय भेदने वाले तेरे हृदय को खाऊँगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी मृत्युता को धिक्कार है जिसके वश प्राणी अपने पुण्यकर्म को ऐसे नीच निदानों द्वारा भस्म कर डालते हैं।

‘इस हाथ दे और उस हाथ ले’ इस कहावत के अनुसार वायुभूति को भी मुनिनिन्दा का फल बहुत जल्द मिल गया। पूरे सात दिन भी न हुए होंगे कि वायुभूति के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। धर्मपथ प्रदर्शक महात्माओं की निन्दा करनेवाले पापी पुरुष किन महा कष्टों को नहीं पाते। वायुभूति कोढ़ के दुःख से मरकर कौशाम्बी में ही एक नट के यहाँ गधा हुआ। गधा मरकर वह जंगली सूअर हुआ। इस पापारम्भ से मरकर उसने चम्पापुरी में एक चाण्डाल के यहाँ कुत्ती का जन्म धारण किया। कुत्ती मरकर चम्पापुरी में ही एक दूसरे चाण्डाल के यहाँ लड़की हुई जो जन्म से अन्धी थी। इसके सारे शरीर से बदबू आ रही थी, इसीलिये माता-पिता ने इसे छोड़ दिया। फिर भी एक जांबू झाड़ के नीचे पड़ी-पड़ी यह जांबू खाया करती थी।

सूर्यमित्र मुनि अग्निभूति को साथ लिये इस ओर आ निकले। इस जन्म की, दुःखिनी लड़की को देखकर अग्निभूति के हृदय में कुछ मोह और दुःख हुआ। उन्होंने पूछा – पुभो ! इस कष्ट में भी यह लड़की कैसे जी रही है ? ज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने कहा – तुम्हारे भाई वायुभूति ने धर्म से पराइमुख होकर जो मेरी निन्दा की थी, उसी पाप से इसे कई भव पशु पर्याय में लेने पड़े। अब यह चाण्डाल कन्या हुई है पर इसकी उम्र बहुत थोड़ी रह गई है। इसीलिये जाकर तुम इसे व्रत दिवाकर संन्यास दे आओ। अग्निभूति ने उस चाण्डाल कन्या को पाँच अणुव्रत देकर संन्यास दिया।

चाण्डाल कन्या मरकर व्रत के प्रभाव से चम्पापुरी में नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नाम की कन्या हुई। एक दिन नागश्री वन में नाग पूजा करने गयी थी। पुण्य से सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते वहाँ पहुँच गये। उन्हें देख नागश्री के मन में उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गयी। वह हाथ जोड़कर उनके पास बैठ गयी। नागश्री के मन में उनके प्रति को देख अग्निभूति के मन में कुछ

प्रेम का उदय हुआ, जो होना, उचित ही था। क्योंकि वह था उसके पूर्वजन्म का भाई। गुरु से प्रेम होने का कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि पूर्व जन्म के भ्राता भाव के कारण ऐसा हुआ है। तब अग्निभूति ने उसे धर्मोपदेश दिया और सम्यक्त्व तथा पाँच अणुव्रत उसे ग्रहण करवाये। व्रत ग्रहण कर जब नागश्री जानेलगी तब उसे उन्होंने कह दिया कि तेरे पिताजी यदि व्रत लेने से नाराज हों तो तू हमारे व्रत हमें आ कर सौंप जाना।

इसके बाद नागश्री मुनिराज को प्रणाम कर घर पर आ गई। नागश्री की सहेलियों ने उसके व्रत लेने की बात नागशर्मा से कह दी। नागशर्मा ने कुछ क्रोध-का सा भाव दिखाकर नागश्री से कहा – बच्ची तू बड़ी भोली है; जो झट से हर एक के बहकावे में आ जाती है। भला, तू नहीं जानती कि पवित्र ब्राह्मण कुल में उन नंगे मुनीयों के व्रत नहीं लिये जाते। इसलिए उनके व्रत तू छोड़ दे। नागश्री बोली पिताजी ! आते समय उन मुनीयों ने कहा था कि तेरे पिता जो व्रत को छोड़ने का आग्रह करें तो तू हमारे व्रत हमें ही दे जाना। आप चलिये, मैं उन्हें उनका व्रत दे आती हूँ। नागश्री का हाथ पकड़े नागशर्मा क्रोध से भरा जा रहा था कि रास्ते में कुछ गुल-गपाड़ा सुनाई पड़ा। उस जगह बहुत से लोग इकट्ठे हो रहे थे और एक मनुष्य उनके बीच बंधा हुआ पड़ा था, जिसे कुछ निर्दयी लोग कूरता से मार रहे थे। नागश्री ने पूछा – पिताजी ! यह बेचारा निर्दयता से क्यों मारा जा रहा है ? नागशर्मा बोला – बच्ची ! वणिक पुत्र यह किसी का कुछ क्रृण धारता था। तकादा करने पर इस पापी ने उसे जानसे मार डाला। उस अपराध के लिये राजा ने इसे प्राणदण्ड की सजा दी है जिससे दूसरा कोई फिर ऐसा अपराध न करें। तब नागश्री जरा जोर देकर बोली कि पिताजी ! यही व्रत तो उन मुनीयों ने मुझे दिया है, फिर आप उसे छोड़ने को क्यों कहते हैं ? नागशर्मा लाजवाब होकर बोला – अच्छा तो इस व्रत को छोड़ बाकी व्रत तो उन्हें दे दो। आगे चलकर एक और पुरुष को बंधा देख नागश्री ने पूछा – पिताजी ! यह क्यों बाँधा गया है ? नागशर्मा ने कहा – पुत्री ! यह ब्रूठ बोलकर लोगों को ठगा करता था जिससे बहुत से लोग भिखारी हो गये हैं, उसी अपराध में इसकी यह दशा की जा रही है। तब फिर नागश्री ने कहा – तो पिताजी यही व्रत तो मैंने भी लिया है। इसी प्रकार चोरी, व्यभिचार, लोभ आदि से दुःख पाते हुये मनुष्यों को देखकर नागश्री ने अपने पिता को निरुत्तर कर दिया और व्रतों को नहीं छोड़ा। तब हार खाकर नागशर्मा ने कहा –

यदि तेरी इच्छा इन ब्रतों को छोड़ने की नहीं है तो मत छोड़ पर तू मेरे साथ उन मुनियों के पास तो चल। मैं उनसे पृष्ठांग कि मेरे पृष्ठे बिना मेरी लड़की को ब्रत उन्होंने क्यों दिये? दूर से ही मुनियों के देखकर उसने कहा— क्यों रे नंगे साधुओ! तुमने मेरी लड़की को ब्रत देकर क्यों ठग लिया? ऐसे पापियों के विचारों को सुनकर बड़ा ही खेद होता है जो यह नहीं समझते कि ब्रत, शील जो पुण्य के कारण हैं, उनसे कोई कैसे ठगा जा सकता है? नागशर्मा को आपे से बाहर देखकर सूर्यमित्र बड़ी धीरता और शांति से बोले— भाई, जरा धीरज धर, क्यों इतनी जल्दी कर रहा है? मैंने इसे ब्रत दिया है अपनी लड़की समझकर और वास्तव में यह है भी मेरी लड़की। तेरा तो इस पर कुछ भी अधिकार नहीं है। यह कहकर सूर्यमित्र मुनि ने नागश्री को पुकारा और वह झट से आकर उनके पास बैठ गई। अब तो ब्राह्मण देवता बड़े घबड़ाये और 'अन्याय-अन्याय' चिल्लाते हुए राजा के पास पहुँचे। राजा से उसने कहा— महाराज! नंगे साधुओं ने मेरी लड़की को जबर्दस्ती छीन लिया है। वे कहते हैं कि यह तेरी लड़की नहीं, हमारी लड़की हैं। आप इन पापियों से मेरी लड़की दिलवा दीजिए। नागशर्मा की बात सुनकर सारी राजसभा आश्चर्य में पड़ गयी। राजा की समझ में कुछ न आया, तो वे सबको साथ लिये मुनि के पास आये और उन्हें नमस्कार कर बैठ गये। फिर झगड़ा उपरिथित हुआ। नागशर्मा नागश्री को अपनी लड़की बताने लगा और सूर्यमित्र मुनि अपनी। मुनि बोले— यदि यह तेरी लड़की है तो बता तूने इसे क्या पढ़ाया है? मेरी लड़की यह इसलीये है कि मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ाये हैं। तब राजा बोले— प्रभो! आपने जो इसे पढ़ाया है उसकी परीक्षा इससे दिलवाइये जिससे हमें विश्वास हो। यह सुन सूर्यमित्र मुनि अपने वचनरूपी किरणों के द्वारा लोगों के मूर्खता रूपी अंधकार का नाश करते हुये बोले— हे नागश्री! हे पूर्व जन्म में वायुभूति का भव धारण करने वाली पुत्री! तुम्हें मैंने जो पूर्व जन्म में शास्त्र पढ़ाये हैं, उनकी इस उपरिथित मण्डली के सामने तृ परीक्षा दे। सूर्यमित्र मुनि के कहते ही नागश्री ने जन्मान्तर का पढ़ा— पढ़ाया सब विषय सुना दिया। राजा तथा और सब मण्डली को इससे बड़ा आश्चर्य हुआ और नागश्री के सम्बन्ध की सब बात जानने की उनमें उत्कण्ठा हुई। अवधिज्ञानी सूर्यमित्र मुनि ने वायुभूति के भव से नागश्री के जन्मतक की सब कथा उनसे कह सुनाई। सुनकर राजा को यह सब मोह की लीला जान पड़ी। मोह को दुःख का मूल कारण समझकर उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने उसी समय जिनदीक्षा ले ली।

नागशर्मा भी जैन धर्म का उपदेश सुनकर मुनि हो गया और तपस्या कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। नागश्री को पूर्व जन्म का हाल सुनकर वैराग्य हुआ और दीक्षा लेकर वह आर्यिका हो गई। अन्त में शरीर छोड़कर तपस्या के फल से वह अच्युत स्वर्ग में महर्दिक देव हुई। संसार में गुरु सबसे श्रेष्ठ है जिनकी कृपा से जीवों को सब सम्पदाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

यहाँ से विहार कर सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज अग्निमन्दिर नामक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ तपस्या द्वारा धातिया कर्मों का नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और त्रिलोकपूज्य हो अंत में परम सुखमय मोक्षलाभ किया।

अवान्ति देश के उज्जैन शहर का रहने वाला इन्द्रदत्त सेठ बड़ा धर्मात्मा और जिन भगवान् का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री गुणवती नाम के अनुसार गुण सम्पन्न और सुन्दरी थी। नागशर्मा का जीव जो अच्युत स्वर्ग में देव हुआ था, वहाँ अपनी आयु पूरी कर गुणवती सेठानी के सुरेन्द्रदत्त नामक सुशील और गुणी पुत्र हुआ। सुरेन्द्रदत्त का ब्याह उज्जैन में ही रहने वाले समुद्र सेठ की लड़की यशोभद्रा के साथ हुआ। पुण्य के प्रभाव से उन्हें किसी वस्तु की कमी न थी और आनन्द से ये अपना समय व्यतीत करते थे। धर्मप्रेम भी इनका ज्यों का त्यों था।

एक दिन यशोभद्रा ने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा— योगिराज! क्या मेरी आशा इस जन्म में पूरी होगी? मुनिराज ने कहा— हाँ, अवश्य होगी! तेरा होने वाला पुत्र अत्यन्त बुद्धिमान और अनेक गुणों का धारक होगा। सिर्फ चिन्ता की यह बात है कि तेरा स्वामी पुत्र का मुख देखते ही जिनदीक्षा ले लेगा। तेरा पुत्र भी जब कभी किसी जैन मुनि को देखेगा तो वह भी उसी समय विषयों को त्याग योगी हो जायेगा।

इसके कुछ महीने बाद (नागश्री के जीव ने) जो स्वर्ग में देव हुआ था, स्वर्ग में अपनी आयु पूरी कर यशोभद्रा के गर्भ से जन्म लिया। इनका नाम सुकुमाल रखा गया। सुरेन्द्रदत्त पुत्र का मुख देख उसे अपने सेठ पद का तिलक कर मुनि हो गया।

जब सुकुमाल बड़ा हुआ तो उसकी माँ को चिन्ता हुई कि कही यह भी किसी मुनि को देखकर मुनि न हो जाय। इसीलिए यशोभद्रा ने अच्छे घराने की बतीस सुन्दर कन्याओं के साथ उसका ब्याह कर दिया। सबको अलग-अलग रहने के लिये उसने एक बड़ा भारी महल बनवाया जो विषय भोगों की एक से एक उनम

सामग्रियों से भरा हुआ था। यह सब प्रबन्ध इसलिए किया गया था कि जिससे सुकुमाल का मन सदा विषयों में फँसा रहे। पुत्र मोह से उसने अपने घर में जैन मुनियों का आना-जाना भी बंद कर दिया।

एक दिन बाहर के सौदागर ने आकर राजा प्रवोतन को एक बहुमूल्य रलजटित कम्बल दिखलाया। मूल्य अधिक होने के कारण राजा ने उसे नहीं लिया। यशोभद्रा को कम्बल की खबर मिलते ही उसने सौदागर को बुलाकर कम्बल सुकुमाल के लिये खरीद लिया। रल की जड़ाई के कारण कम्बल कड़ा था, इसलिए सुकुमाल ने उसे पसंद न किया। तब यशोभद्रा ने उसके टुकड़े करवाकर अपनी बहुओं के लिए उसकी जृतियाँ बनवा दीं। एक दिन सुकुमाल की स्त्री जृतियाँ खोलकर पाँव धो रही थी कि इतने में एक चील माँस के टुकड़े के लोभ से एक जूती उठा ले उड़ी, उसकी चोंच से घृटकर वह जूती एक वेश्या के मकान की छत पर गिरी। वेश्या उसे राजघराने की समझकर राजा के पास ले गई। राजा भी उसे देखकर दंग रह गया कि इतनी कोंमती जृतियाँ जिसके यहाँ पहनी जाती हैं, उसके धन का क्या ठिकाना होगा। मेरे शहर में इतना भारी धनी कौन है, इसका पता लगाना चाहिए। खोज करने पर मालूम हुआ कि सुकुमाल सेठ वह धनी हैं और जूती उसी की स्त्री की है। राजा को सुकुमाल से मिलने की उल्पण्ठा हुई और एक दिन वे उससे मिलने गये। राजा को अपने घर आया देख यशोभद्रा बड़ी प्रसन्न हुई और उनका खूब आदर- सत्कर किया। राजाने प्रेमवश सुकुमाल को भी अपने पास सिंहासन पर बैठा लिया। यशोभद्रा ने दोनों की एक साथ आरती उतारी। दीये की तथा हार की ज्योति से मिलकर बढ़े हुए तेज को सुकुमाल की आँखें न सह सकी। उन में पानी आ गया। इसका कारण पृछने पर यशोभद्रा ने राजा से कहा— महाराज इसने कभी रलमय दीये को छोड़कर ऐसे दीये को नहीं देखा। इसलिये इसकी आँखों में पानी आ गया है। यशोभद्रा ने जब दोनों को भोजन करने बैठाया तो सुकुमाल चावलों में से एक-एक चावल बीनकर खाने लगा। राजा ने यशोभद्रा से इसका कारण पूछा। यशोभद्रा ने कहा— राज राजेश्वर! इसे जो चावल खाने को दिये जाते हैं वे खिले हुए कमलों में रखकर सुगन्धित किये जाते हैं। आज वे चावल थोड़े होने से मैंने उन्हें दूसरे चावलों के साथ मिलाकर बना लिया। इससे यह एक-एक चावल चुन-चुन कर खाता है। राजा ने पुण्यात्मा सकुमाल की प्रशंसा कर कहा— सेठानी जी! अब तक कुँवर साहब आपके घर के सुकुमाल

थे, पर अब मैं उनका अवन्ति सुकुमाल नाम रखकर इन्हें सारे देश का सुकुमाल बनाता हूँ। मेरे देश में सुकुमारता और सुन्दरता का यही आदर्श है। इसके बाद राजा सुकुमाल को संग लिये जल क्रीड़ा करने बाबू पर गये। खेलते समय राजा की अँगुली से अँगूठी निकलकर क्रीड़ासरोवर में गिर गई। राजा उसे ढूँढ़ने लगे तो जल के भीतर उन्हें हजारों बड़े-बड़े सुन्दर और कीमती भूषण दीख पड़े। उन्हें देख राजा की अकल चकरा गई। वे सुकुमाल के अनन्त वैभव को देख यह सोचते हुए महल को लौट आये कि यह सब पुण्य की लीला है।

सज्जनों! धन-धान्यादि सम्पदा का मिलना, पुत्र, मित्र और सुन्दर स्त्री का प्राप्त होना, अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों का पहनना, मनोहर महलों में रहकर सुखादु वस्तुएँ खाने को मिलना, विद्वान् तथा नीरोग होना आदि सुख-सामग्रियाँ जीवों को जिनेन्द्र भगवान् के उपदेशित मार्ग पर चलने से मिल सकती हैं। अतएव दुःखदायी खोटे मार्ग को छोड़ बुद्धिमानों को स्वर्ग, मोक्ष के सुख का बीज पुण्य कर्म करना चाहिए। पुण्य जिन भगवान् की पूजा, पात्रदान, व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि के धारण करने से होता है।

एक दिन जैनत्व के परम विद्वान् सुकुमाल के मामा गुणधराचार्य सुकुमाल की आयु थोड़ी रही जानकर उसके महल के पीछे बगीचे में आकर ठहरे और चातुर्मास लग जाने से उन्होंने वही योग धारण कर लिया। यशोभद्रा को उनके आने की खबर मिलते ही वह उनके पास गई और बोली—प्रभो ! जब तक आपका योग पूरा न हो तब तक आप स्वाध्याय या पठन-पाठन नहीं कीजियेगा। जब उनका योग पूरा हुआ, तब उन्होंने अपनी योग सम्बन्धी सब क्रियाओं को करके अन्त में लोक-प्रज्ञप्ति का पाठ करना शुरू किया। उसमें उन्होंने अच्युत स्वर्ग के देवों की आयु, उनके शरीर की ऊँचाई आदि का खूब अच्छी तरह वर्णन किया, जिसे सुनकर सुकुमाल को जाति स्मरण हो आया। पूर्व जन्म में पाये दुःखों को याद कर वह काँप उठा। वह उसी समय चुपके से महल से निकलकर मुनिराज के पास आ गया और नमस्कार कर उनके पास बैठ गया। मुनि ने उससे कहा— बेटा ! अब तुम्हारी आयु सिर्फ़ तीन दिन की रह गयी है। इसलिये विषय भोगों को छोड़ अब अपना आत्महित करना चाहिए। जो विषय भोगों की धून में मरत रहकर अपने हित की ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें कुगतियों के अनन्त दुःख उठाने पड़ते हैं। जाड़े में आग बहुत प्यारी लगती है पर जो उसे छूयेगा वह तो जलेगा ही।

यही हाल उन ऊपर के स्वरूप से मन को लुभाने वाले विषयों का है। इसलिए ऋषियों ने इन्हें “भोगा भुजङ्गभोगाभाः” अर्थात् सर्प के समान भयंकर विषयों को भोगकर कोई आजतक सुखी नहीं हुआ तो फिर इससे सुख की आशा करना नितान्त भूल है। मुनिराज का उपदेश सुनकर सुकुमाल को बड़ा वैराग्य हुआ। वह उसी समय जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होकर वह वन की ओर चला गया। उसका यह अन्तिम जीवन कठोर से कठोर चित्त वाले मनुष्यों के हृदय को हिला देने वाला है। पाठकों को सुकुमाल की सुकुमारता का हाल मालूम है। आरती उतारने के समय सौम्य-ज्योति, मंगलद्रव्य सरसों के चुभने को भी सुकुमाल न सह सका था। रत्नजटित कम्बल कठोर होने के कारण उसने नापसंद कर दिया था। माँ के प्रेम और लाड-प्यार के कारण उसे कभी जमीन पर पाँव रखने तक का मौका नहीं आया था। उसी सुकुमाल ने अपने जीवन प्रवाह को कुछ मिनटों के उपदेश से बिल्कुल उल्टा बहा दिया। जिसने कभी यह नहीं जाना कि घर-बाहर क्या है, वह अब अकेला भयंकर जंगल में जा बसा, जिसने स्वप्न में भी दुःख नहीं देखा, वही अब दुःखों का पहाड़ अपने सिर पर उठा लेने को तैयार हो गया। कंकरीली जमीन पर चलने से उसके फूलों से कोमल पाँवों में धाव हो गये। उनसे खून की धारा बह चली, पर धन्य सुकुमाल की सहनशीलता, जो उसने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं झाँका। अपने कर्तव्य में वह इतना एकनिष्ठ हो गया कि उसे इस बात का भान ही न रहा कि मेरे शरीर की क्या दशा हो रही है। इतने में ही सुकुमाल की सहनशीलता की इतिश्री नहीं हो गई। अभी आगे चलकर और देखना है कि इस परीक्षा में वह कहाँ तक उत्तीर्ण होता है?

पाँवों से खून बहता जाता है और सुकुमाल मुनि चले जा रहे हैं। चलकर वे एक पहाड़ की गुफा में पहुँचे। वहाँ वे ध्यान लगकर बारह भावनाओं का विचार करने लगे। उन्होंने प्रायोपगमन सन्यास ले लिया, जिसमें किसी से अपनी सेवा, सुश्रुषा भी करना मना है। सुकुमाल मुनि इधर तो आत्ममध्यान में लीन हुए। अब जरा इनके वायुभूति के जन्म को याद कीजिए।

जिस समय वायुभूति के बड़े भाई अग्निभूति मुनि हो गये उस समय उनकी स्त्री ने वायुभूति से कहा था कि तुम्हारे कारण से ही तुम्हारे भाई मुनि हो गये। इसलिए यदि उन्होंने अब तक दीक्षा न ली हो तो चलो हम तुम उन्हें समझा-बुझाकर घर लौटा लायें। इस पर गुस्सा होकर वायुभूति ने भौजाई को बुरा-भला

कह कर उस पर लात जमा दी थी। तब उसने निदान किया था कि “पापी, तूने निर्बल समझकर मेरा जो अपमान किया है, इसका बदला मैं इस समय नहीं चुका सकती। पर याद रख, इस जन्म में नहीं तो पर जन्म में सही, बदला लूँगी और घोर बदला लूँगी।”

इसके बाद वह मरकर अनेक कुर्योनियों में भटकी। अन्त में वायुभूति तो सुकुमाल हुए और उनकी भौजाई सियारनी हुई। जब सुकुमाल मुनि वन की ओर रवाना हुए और उनके पाँवों में कड़वा, पथर, कट्टे आदि लगकर खून बहने लगा तो यही सियारनी अपने बच्चों को साथ लिये खून को चाटती-चाटती वहाँ आ गई। जहाँ सुकुमाल मुनि ध्यान में लीन हो रहे थे। सुकुमाल को देखते ही पूर्व जन्म के संस्कार से सियारनी को अत्यन्त क्रोध आया। वह धूमती हुई उनके बिल्कुल निकट आ गई। और सुकुमाल को खाना शुरू कर दिया। उसे खाते देख उसके बच्चे भी खाने लग गये। जो कभी एक तिनके का चुभ जाना भी नहीं सह सकता था, वह आज ऐसे घोर कष्ट को सहकर भी सुमेरु सा निश्चल बना है। सुकुमाल के शरीर को चार हिस्क जीव निर्दयता से खा रहे हैं फिर भी वह रंचमात्र हिलता-डुलता नहीं है। उस महात्मा की इस अलौकिक सहनशक्ति का किन शब्दों में उल्लेख किया जाय, यह बुद्धि में नहीं आता। सुकुमाल मुनि की यह सहनशक्ति उन कर्तव्यशील मनुष्यों को अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दे रही है कि अपने उच्च और पवित्र कर्तव्यों में आने वाले विष्णों की परवाह मत करो, विष्ण कुछ चीज नहीं— किसी गिनती में नहीं। तुम अपने अपर विश्वास करो— भरोसा करो। हर एक कार्य में आत्मदृढ़ता, आत्मविश्वास उनके सिन्धु होने का मूलमन्त्र है। जहाँ ये बातें नहीं, वहाँ मनुष्यता भी नहीं, तब कर्तव्यशीलता तो फिर कोसों दूरी पर है। विलासिता में जीवन यापन करने पर भी कर्तव्यशीलता सुकुमाल के पास थी। यही कारण है कि हृदय-विदारक कष्टों का सामना कर भी वे अचल बने रहे।

सुकुमाल मुनि को उस सियारनी ने पूर्व बैर के सम्बन्ध से तीन दिन तक खाया, पर वे मेरु के समान धीर बने रहे। दुःख की उन्होंने कुछ परवाह न की। यहाँ तक कि खाने वाली सियारनी पर भी उनके बुरे भाव न हुए। शत्रु-मित्र को समझाव से देखकर उन्होंने अपना कर्तव्यपालन किया। तीसरे दिन सुकुमाल शरीर छोड़कर अच्युत स्वर्ग में महाद्विक देव हुए।

वायुभूति की भौजाई ने निदान के वश सियारनी होकर अपने वैर का बदला

चुका लिया। निदान अत्यंत दुःख का कारण है। अतएव भव्यजनों को यह पाप का कारण निदान कभी नहीं करना चाहिए। इस पाप के फल से सियारनी मरकर कुगति में गई।

कहाँ वे मन को लुभाने वाले भोग और कहाँ यह दारुण तपस्या? महापुरुषों का चरित्र विलक्षण हुआ करता है। सुकुमाल मुनि अच्युत स्वर्ग में देव होकर दिव्य सुखों को भोगते हैं और जिन भगवान की भक्ति में सदा लीन रहते हैं। सुकुमाल मुनि की इस वीर मृत्यु के उपलक्ष में स्वर्ग के देवों ने आकर उनका जय जयकार मनाया। देवों ने जो सुर्गाधित जल की वर्षा की, उससे वहाँ की नगरी गन्धवती नाम से प्रसिद्ध हुई।

11

वैय्यावृत्तकरण

आत्मउत्थान का प्रशस्त मार्ग - सेवाधर्म

प्रत्येक जीव सुख चाहता है तथा दुःख से घबराता है। इसलिए जिससे सुख प्राप्त होता है उसे धर्म कहते हैं और जिससे दुःख प्राप्त होता है उसे अधर्म कहते हैं। इसलिए कहा गया है –

धर्मः सर्व सुखाकारो हितकरो धर्म बुधाश्चिच्चन्ते।

अर्थात् धर्म समस्त सुखों को करने वाला है और हितकर है इसलिए धर्म का संचय करो। और यह धर्म निश्चयतः आत्मा की पवित्रता और व्यवहारतः दूसरों के प्रति उत्तम व्यवहार है। जब आत्मा में दया, करुणा, निर्लोभता, परोपकारिता आदि गुण प्रकट होते हैं तब व्यवहार से उसे दूसरों की सेवा आदि होती है। अन्तरंगों की पवित्रता से व्यक्ति स्वयं सुखी होता है तो दूसरों की सेवा से दूसरे भी सुखी होते हैं। इतना ही नहीं स्वात्म की पवित्रता ही स्व-जीवन्त धर्म है तो दूसरों की सेवा दूसरे में निवास करने वाले जीवन्त भगवान या धर्म की सेवा है क्योंकि “न धर्मो धार्मिकर्वना” अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः धर्म धार्मिक व्यक्ति के अन्दर होता है अथवा सरल रूप में कहने पर धार्मिक व्यक्ति ही धर्म है। अतः जो धार्मिक व्यक्ति की सेवा करता है वह साक्षात् धर्म की सेवा करता है। मन्दिर, मूर्ति, धर्म क्षेत्र आदि तो धर्म के प्रतीक हैं। जिस प्रकार भारत के मानचित्र में, भारत के राष्ट्रीय ध्वज या चिन्ह

में भारत नहीं होता है परन्तु भारत भू भाग एवं भारत में निवास करने वाले मनुष्य एवं पशु-पक्षी में होता है। इसलिए वह वस्तुतः राष्ट्र प्रेमी देशभक्त है, जो भारत के भू भाग तथा विशेषतः भारत में निवास करने वाले मनुष्य पशु-पक्षी आदि से भी प्रेम करता है परन्तु जो भारतीयों से तथा भारत की अच्छी सभ्यता संस्कृति, परम्परा से गढ़ारी करता हो, वृणा करता हो, उसे क्षति पहुँचाता हो तो वस्तुतः वह देशभक्त नहीं है परन्तु देश द्रोही है। इसी प्रकार जो केवल कुछ धार्मिक प्रतीकों की तो पूजा करता है परन्तु जीवन्त धर्म स्वरूप धार्मिक व्यक्ति की सेवा आदि नहीं करता है तो वह धर्म द्रोही, जड़ पूजक धर्म बाह्य है।

प्रायः देश-विदेशके समस्त धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक आदि महापुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता यदि कुछ है तो वह है भाव की पवित्रता और दूसरों के प्रति दया, सेवा परोपकारिता। जैन धर्म के अनुसार साक्षात् तीर्थकर भी दिव्य वाणी से ज्ञान दान देकर केवल मनुष्य और देवों का उपकार नहीं करते हैं परन्तु व्याघ्र, सिंह, गाय आदि पशु-पक्षियों का भी उपकार करते हैं। पार्श्वनाथ भगवान जब राजकुमार थे तब उन्होंने जलते हुए नाग-नागिनी को णमोकर मंत्र सुनाया जिससे वे मरकर धरणेन्द्र एवं पदमावती हुए। राजकुमार जीवन्धर ने भी मरते हुए कुते को णमोकार मंत्र सुनाया जिससे वह मरकर यक्ष हुआ। नारायण कृष्ण ने रोगी मुनि के लिए औषधि युक्त मोदक की व्यवस्था की थी जिससे उन्हें तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हुआ। नारायण कृष्ण के पिताजी वसुदेव ने पूर्वभव में मुनि अवस्था में दूसरे रोगी मुनि की भोजन आदि की व्यवस्था की थी जिसके कारण वे निदान करके वासुदेव हुए परन्तु यदि वे निदान नहीं करते तो वे उस पुण्य से तीर्थकर हो जाते। महाबली भीमसेन ने पूर्वभव में दूसरे मुनियों की सेवा की थी जिसके कारण वे बलशाली बने तथा उस प्रभाव से विष से भी नहीं मरे। शास्त्र में वर्णन पाया जाता है कि जो सेवा करता है वह तीर्थकर बनता है। तीर्थकर प्रकृति बन्धने में जो सोलह कारण भावना हैं उनमें से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से तथा पूर्ण एवं आंशिक रूप से (1) दर्शनविशुद्धि (2) विनयसम्पन्नता (3) शक्ति के अनुसार त्याग (4) शक्ति के अनुसार तप (5) साध्य-समाधि (6) वैय्यावृत्य करना (7) अरिहन्त भक्ति (8) आचार्य की भक्ति (9) बहुश्रुत भक्ति ऐसी नौ भावनायें वैयावृत्य / सेवा के अन्तर्गत आती हैं। इसी से सेवा की महत्ता, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता तथा उपादेयता की सिद्धि हो जाती है। हिन्दू (वैदिक) धर्म के अनुसार भी अवतारी

पुरुष, महा पुरुष, ऋषि मुनि आदि ने सेवा धर्म को स्वयं अपनाया और उसका प्रचार-प्रसार भी किया है। जीवों की रक्षा के लिये (अभ्यादन, वैयावृत्य) अवतारी पुरुषों का धरती पर अवतरण होता है। नारायण कृष्ण का एक नाम ही गोपाल है। गोपाल का अर्थ है जो गायों की रक्षा करे तथा उनकी सेवा व संवर्द्धन करे। राजा रंतिदेव ने स्वयं तथा परिवार के व्यक्तियों को भी भूखे रखकर वैयावृत्य से प्राप्त भोजन भी दूसरों को दे दिया। जंगल में रहने वाले ऋषि तापसी भी पशु-पक्षी यहाँ तक कि वनस्पति को प्रिय पुत्र के समान प्रेम करते थे। महात्मा बुद्ध तो साक्षात् दया करुणा की प्रतिमूर्ति थे। बाल्यावस्था में घायल हंस के लिये राज्य को त्याग देना भी स्वीकारा था परन्तु घायल हंस को चर्चेरे भाई देवदत्त को देना स्वीकार नहीं किया था। वे दुनियाँ के दुःखी प्राणी को देखकर उनके दुःखों को दूर करने के लिये समरत् राज-वैभव अत्यन्त सुन्दरी नव विवाहिता स्त्री तथा पुत्र राहुल को भी त्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े। क्रूर अशोक भी उनकी करुणा से प्रभावित होकर अहिंसक परोपकारी सम्राट् अशोक बन गया। उनके सुकुमार पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा भी इस दया, करुणा का प्रचार करने के लिये श्रीलंका आदि देश में गये।

केवल भारत में ही दया, परोपकार, सेवा आदि महान् गुणों को स्थान मिला हो ऐसी बात नहीं है परन्तु प्रत्येक देश के प्रत्येक महान् व्यक्ति ने इसे स्वीकार किया है। इसा मसीह तो मानों सेवा के अवतार ही थे। उनके मतानुसार "Serve to humanity is serve to God." अर्थात् मानव जाति की सेवा ही भगवान् की सेवा है। वे कुष्ट आदि रोगों से ग्रसित रोगियों की सेवा करते थे। भूखे को भोजन देते थे तथा असहायकों की सहायता करते थे। इन्हाँ ही नहीं वे भेड़-बकरियों को भी प्यार करते थे, गोद में लेते थे तथा उनकी सेवा करते थे। उनकी सेवा भावना से ही प्रेरित होकर ईसाईयों ने सेवा को परम धर्म माना। इसलिए आज देश - विदेश में जितनी सेवा की संस्थाएँ हैं उनमें से अधिकांश संस्थाएँ ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित, संवर्द्धित, पोषित हैं। कवि तुलसीदासने कहा है-

परोपकार सम धर्म नहि भाई।

नीति कार व्यास ने भी कहा है।

अष्टादश पुराणे व्यासस्य वचनद्वयं।

परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

व्यास जी कहते हैं- 18 पुराणों व 4 वेदों का संकलन मैंने दो वाक्यों में किया "परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।" पुण्य धर्म क्या है? कर्तव्य परोपकार। अधर्म क्या है? अनीति, पाप, पर-अपकार। हमारें आचार्यों ने भी यही कहा है।

रहिमन कवि ने कहा भी है-

तरुवर फल नहीं खात है नदी न संचै नीर।

रहीमन पर काज हित, सज्जन धैर शरीर॥

प्राचीन नीतिकारों ने भी कहा है-

परोपकाराय फलंति वृक्षा परोपकाराय वहन्ति नद्याः।

परोपकाराय दहन्ति गावः परोपकाराय सत्ता प्रवृत्तयः॥

परोपकार के लिये जीवन भर वृक्ष जीवन-शक्ति प्रदायक अमृत तुल्य उत्तमोत्तम फल देते हैं। परोपकार के लिए नदियाँ शीतल मधुर जल लेकर बहती हैं परोपकार के लिए गाय अमृततुल्य दूध जीवनभर देती है। इसी प्रकार परोपकार के लिये सज्जन सतत प्रयत्नशील रहता है।

सेवाधर्म से ही प्रभावित होकर फ्लोरेन्स नाइटेंगल ने रोगी तथा घायलों की सेवा करके विश्व कीर्तिमान की स्थापना की। इसी प्रकार मदर टेरेसा भी थी। महात्मा गांधी, विनोबा भावे, सुभाषचंद्र बोस, बाबा आपटे आदि सेवा के लिये आदर्श उदाहरण हैं। एम्बुलैन्स, रेडक्रॉस, युनिसेफ, लाइन्स क्लब, रोटरी क्लब, स्काउट गाइड, भारतीय विकास परिषद, महावीर इन्टर नेशनल आदि संस्थाएँ भी परम सेवा धर्म से जुड़ी हुई हैं। देश विदेश के जितने अच्छे-अच्छे महान् कार्य हैं- यथा विद्यालय से लेकर विश्व विद्यालय, चिकित्सालय, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम, अनाथालय इस महान् सेवा धर्म से प्रभावित होकर बनाये गये हैं।

शास्त्र में वर्णन पाया जाता है कि दूसरे व्यक्ति भी सेवा से प्रभावित होकर अपने हो जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार इसे पात्रलाभ कहते हैं। विदेश में एक घटना घटी थी। एक सैनिक जंगल में जा रहा था। उसे शेर करुण क्रन्दन ध्वनि सुनाई दिया। वह सैनिक जाकर देखता है कि एक सिंह एक पैर को उठाकर रो रहा था। वह सैनिक देखता है कि उसके पैर में एक बड़ा काँटा घुसा हुआ है, वह काँटी को निकाल देता है। कुछ वर्ष के बाद कुछ दोष के कारण उस सैनिक को एक भूखे शेर के सामने छोड़ दिया जाता है। परन्तु यहाँ एक महान् आश्चर्य

हुआ। वह बब्बर भूखा सिंह प्रेम से आकर उसके पैरों में लोट-पोट होकर गिर गया और उसे प्रणाम करने लगा वह शेर वही शेर था जिसके पैर से सैनिक ने काँटा निकाल था। यह है सेवा का परिणाम। सेवा से एक क्रूर मांस भक्षी सिंह भी प्रेमालु दोरत बन गया। यदि एक मांस भक्षी क्रूर शेर भी परोपकार एवं सेवा से मित्र बन सकता है तो अन्य सामान्य जीवों की बात ही क्या है? इसके कारण ही तो माता का स्थान पिता से श्रेष्ठ है। बच्चों के ऊपर जब विपत्ति आती है तो वह सर्व प्रथम माँ का स्मरण करता है तथा माँ के पास दौड़ पड़ता है। जैन धर्म के अनुसार एक तीर्थकर के काल में करोड़ों अरिहन्त और सिन्धु बनते हैं परन्तु तीर्थकर अनेक नहीं बन पाते हैं। क्योंकि तीर्थकर वह बन सकता है जिसमें तीव्र परोपकार की भावना हो। इसी कारण से तो तीर्थकर का खून दूध के समान सफेद होता है। जब तक संतान की उत्पत्ति नहीं होती है तब तक स्तनपायी मादा के स्तन में दूध का संचार नहीं होता है। संतानों की उत्पत्ति के बाद दूध का संचार होता है। इसका कारण है। संतान के प्रति वात्सल्य सेवा-भाव। मनोवैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिकों ने यह भी सिन्धु कर लिया है कि जिस माता के हृदय में संतान के प्रति अधिक वात्सल्य होता है उसके स्तन में अधिक दूध का संचार होता है। तथा कम वात्सल्य होने से दूध का संचार कम होता है। जो वैद्यावृत्य, करुणा से प्रभावित होकर कुष्ठ, हैजा, टी.बी. आदि भवंकर संक्रामक स्पर्श रोग से ग्रसित रोगियों की सेवा करते रहते हैं उन्हें वह रोग नहीं होता है। इसका धार्मिक कारण यह है कि सेवा-भाव से पुण्य बंध होता है और पाप की निर्जरा होती है जिससे उन्हें रोग नहीं होता है। इसका वैज्ञानिक कारण यह है कि अच्छी भावना से श्वेत रक्त कण की संख्या बढ़ती है, रोग प्रतिरोधक शक्ति (Immunity power) बढ़ती है। इसके साथ-साथ उसके चारों और प्रभावशाली ओरा/प्रभामण्डल बनता है जिसके अन्दर संक्रामक रोगाणु भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं। विज्ञान के अनुसार अच्छे व्यक्तियों के मरिंस्टिक्स से अल्फा-तरंग, बीटा-तरंग, थीटा-तरंग आदि अच्छी तरंगें निकलती हैं। इन सब कारणों से सेवा-भावी अत्यन्त प्रसन्न, प्रभावशाली तथा चुम्बकीय शक्ति से युक्त हो जाता है। जो निर्खार्थ भाव से सबकी सेवा करता है उसका किसी के प्रति वैर भाव नहीं रहता है। उसका सबके प्रति प्रेमभाव होने के कारण वह किसी से भी नहीं डरता है ना उससे कोई वैर भाव रखते हैं और न उसे कोई कष्ट पहुँचाते हैं। जैन रामायण में पाया जाता है कि जब राम-रावण

चुम्ब चल रहा था उस समय जो सैनिक घायल हो जाते थे उनकी सेवा कुछ व्यक्ति करते थे जो सेवा करते थे उन्हें दोनों पक्ष के सैनिक किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाते थे। वैद्यावृत्य में, सेवा में अधिक आनन्द अनुभव होता है और जिससे अधिक आनन्द अनुभव होता है वही धर्म है।

जो धन के लिए स्वार्थ के लिए छोटे से छोटे, खोटे से खोटे कार्य कर सकते हैं वे भी साधु संतों की सेवा शारीरिक-धार्मिक कर्तव्यों को हेय दृष्टि से देखते हैं और नौकर का कार्य मानते हैं। इन सभी कारणों से धर्म में तेजस्विता, प्रभावोत्पादकता, महानता, उदारता आदि गुण नहीं आ पा रहे हैं। इसलिए इतना महान्, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, गणितीय, वैज्ञानिक जैन धर्म जो कि वरतुतः वस्तु स्वरूप धर्म होने के कारण विश्व धर्म है तो भी आज बहुत संकीर्ण पराधि में है। परन्तु अद्यतन अर्वाचीन ईसाई धर्म बहुत ही फैल रहा है फूल रहा है क्योंकि ईसाई धर्म में प्रायोगिक रूप में सेवा धर्म पाया जाता है। आचार्यों ने श्रावक के विभिन्न कर्तव्यों में से सेवा को मुख्य कर्तव्य बताया है और साधुओं के लिए गौण बताया है। तथापि वैद्यावृत्य को अन्तरंग तप कहा है। जो सरागी साधु होकर के भी वैद्यावृत्य नहीं करता है उसकी आचार्यों ने निन्दा की है। बहिरंग तप से अन्तरंग तप श्रेष्ठ होता है। वैद्यावृत्य अन्तरंग तप है। इसलिए उपवास रस ल्याग आदि तप से वैद्यावृत्य तप श्रेष्ठ है क्योंकि जिसके भाव से भक्ति, नप्रता, परोपकारिता आदि गुण होते हैं वही वैद्यावृत्य कर सकता है। अधिकांश व्यक्ति सेवा को बहुत ही कम महत्व देते हैं। जो व्यक्ति तीर्थात्रा मूर्तिपूजा आदि के लिए घंटों महीनों का समय देते हैं और लाखों रुपया खर्च करते हैं वे भी साधुओं की सेवा के लिए कुछ समय भी नहीं देंगे और कुछ रुपये भी खर्च नहीं करेंगे। इनकी यह कृति / प्रवृत्ति “जिन्दा बाप से लट्टमलझ मरे हुए को पहुँचाये गंगा” जैसी है। धार्मिक व्यक्तियों की सेवा, जीव मात्र की सेवा धार्मिक सेवा, पूजा उपासना है और यह ही प्रायोगिक जीवन्त अहिंसा, वात्सल्य भाव, जीव दया, विश्व प्रेम, विश्व मैत्री, वसुधैव कुटुम्बकम्, परोपकार वैद्यावृत्य, पुण्य कर्म है।

उद्यायन रौनवक नामक शहर के राजा थे जो कि कछु देश के अन्तर्गत था। उद्यायन सम्यादृष्टि थे, दानी थे विचारशील थे जिन भगवान के सच्चे भक्त थे और न्यायी थे। सुतरां प्रजा का उनपर बहुत प्रेम था और वे भी प्रजा के हित में सदा उद्यत रहे करते थे। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। वह भी सती

थी धर्मात्मा थी। उसका मन सदा पर्वित्र रहता था। वह अपने समय को प्रायः दान, पूजा, व्रत, उपवास, स्वाध्यायादि में बिताती थीं। उदायन अपने राज्य का शान्ति और सुख से पालन करते। कहने का मतलब यह कि वे सुखी थे, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका राज्य भी शत्रु रहित निष्कटंक था।

एकदिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में धर्मोपदेश कर रहा था “संसार में सच्चे देव अरहन्त भगवान हैं जो कि भूख घ्यास रोग, शोक, भय, जन्म, जरा, मरण आदि दोषों से रहित और जीवों को संसार के दुखों से छुड़ाने वाले हैं। सच्चा धर्म, उत्तम धमा, मार्दव, आर्जव आदि दशलक्षण रूप है, गुरु निर्गन्ध हैं, जिनके पास परिग्रह का नाम निशान नहीं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि से रहित हैं और वह सच्ची श्रद्धा है, जिससे जीवा जीवादिक पदार्थों में रुचि होती है। वही रुचि स्वर्ग मोक्ष को देनेवाली है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्म में प्रेम करने से तीर्थयात्रा करने से, रथोत्सव कराने से जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने से, प्रतिष्ठा कराने से, प्रतिमा बनवाने से और साधर्मियों से वात्सल्य अर्थात् प्रेम करने से उत्पन्न होती है। आप लोग ध्यान रखिए की सम्यग्दर्शन संसार में एक सर्वश्रेष्ठ वस्तु है और कोई वस्तु उसकी समानता नहीं कर सकती। यही सम्यग्दर्शन दुर्गतियों का नाश करके, स्वर्ग और मोक्ष को देनावाला है। इसे तुम धारण करो।” इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और उसके आठ अंगों का वर्णन करते समय इन्द्र ने निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाले उदायन राजा की बहुत प्रशंसा की। इन्द्र के मुँह से एक मध्य लोक के मनुष्य की प्रशंसा सुनकर एक वासव नाम का देव उसी समय स्वर्ग से भारत में आया और उदायन राजा की परीक्षा करने के लिए एक कोड़ी मुनि का वेश बनाकर भिक्षा के लिए दोपहर ही को उदायन के महल गया। उसके शरीर पर कोड़ गल रहा था, उसकी वेदना से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे। सारे शरीर पर मक्खियाँ भिन-भिन रही थीं और सब शरीर विकृत हो गया था। उसकी यह हालत होने पर भी जब वह राज द्वार पर पहुँचा और महाराज उदायन की उस पर दृष्टि पड़ी तब वे उसी समय सिंहासन से उठकर आये और बड़ी भक्ति से उन्होंने उस छली मुनि का आह्वान किया। इसके बाद नवधा भक्ति पूर्वक हर्ष के साथ राजा ने मुनि को प्रासुक आहार कराया। राजा आहार कराकर निवृत्त हुए कि इतने में उस कपटी मुनि ने अपनी माया से महा दुर्गन्धि वमन कर दिया उसकी असत्य दुर्गन्धि के मारे जितने लोग पास

खड़े हुए थे, वे सब भाग खड़े हुए। किन्तु केवल राजा और रानी मुनि की सम्हाल करने के लिए वहीं रह गये। रानी मुनि के शरीर को स्वस्त करने के लिए पास गई। कपटी मुनि ने उस बेचारी पर भी महा दुर्गन्धि उछाट कर दी। राजा और रानी ने इसकी कुछ परवाह न कर उलटा इस पर बहुत पश्चात्ताप किया कि हमसे मुनि की प्रकृति विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया जिससे मुनिराज को इतना कष्ट हुआ। हम लोग बड़े पापी हैं। इसीलिए तो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहाँ निरन्तराय आहार नहीं हुआ। सच है जैसे पापी लोगों को मनोवांछित देनेवाला चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता, उसी तरह सुपात्र के दान का योग भी पापियों को नहीं मिलता है। इस प्रकट अपनी आत्मनिन्दा कर और अपने प्रमाद पर बहुत-बहुत खेद प्रकट कर राजा रानी ने मुनि का सब शरीर जल से धोकर साफ किया। उनकी इस प्रकार अचल भक्ति देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नताके साथ बोला “राजेश्वर ! सचमुच ही तुम सम्यग्दृष्टि हो, महादानी हैं। निर्विचिकित्सा अंग के पालन करने में इन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी वह अक्षर-अक्षर ठीक निकली। वैसा ही मैंने तुम्हें देखा। वास्तव में तुम ही ने जैन शासन का रहस्य समझा है। यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनि की दुर्गन्धि उछाट अपने हाथों से उठाता ? राजन् ! तुम धन्य हो, शायद ही इस पृथ्वी मंडल पर इस समय तुम सरीखा सम्यग्दृष्टियों में शिरोमणी कोई होगा ?” इस प्रकार उदायन की प्रशंसा कर देव अपने स्थान पर चला गया और राजा फिर अपने राज्य का सुखपूर्वक पालन करते हुए दान, पूजा, व्रत आदि में अपना समय बिताने लगे।

इसी तरह राज्य करते-करते उदायन का कुछ और समय बीत गया। एक दिन वे अपने महल पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि इतने में एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा उनकी आँखों के सामने से निकला। वह थोड़ी ही दूर पहुँचा होगा कि एक प्रबल वायु के वेग ने उसे देखते-देखते नामशेष कर दिया। क्षणभर में एक विशाल मेघखण्ड की यह दशा देखकर उदायन की आँखे खुलीं। उन्हें सारा संसार ही अब क्षणिक जान पड़ने लगा। उन्होंने उसी समय महल से उतर कर अपने पुत्र को बुलाया। और उसके मरतक पर राजतिलक करके आप भगवान् वर्द्धमान के समवशरण में पहुँचे और भक्ति से भगवान की पूजा कर उनके चरणों के पास ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जिसका इन्द्र, नरेन्द्र,

धरणेन्द्र आदि सभी आदर करते हैं।

साधु होकर उदायन राजा ने खूब तपश्चर्चर्या की संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ रत्नत्रय प्राप्त किया। इसके बाद ध्यान रूपी अग्नि से धातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने संसार के दुःखों से तड़पते हुए अनेक जीवों को उबारकर, अनेकों को धर्म के पथ पर लगाया और अंत में अधातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी अनंत मोक्ष पद प्राप्त किया।

उधर उनकी रानी सती प्रभावती भी जिनदीशा ग्रहण कर तपश्चर्चर्या करने लगी और अन्त में समाधिमृत्यु प्राप्त कर ब्रह्म स्वर्ग में जाकर देव हुई।

प्रायः देश विदेश की धार्मिक परम्पराओं में और विशेषतः भारतीय परंपरा में यथा जैन, बौद्ध, हिन्दुओं में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। अहिंसा शब्द ही निषेध परक है + न + हिंसा = अहिंसा। नज़्र समास के अनुसार न का लोप होकर 'अ' रह गया और हिंसा शब्द समावेश हो गया जिससे अहिंसा शब्द की व्युत्पत्ति हुई इसका अर्थ है हिंसा नहीं करना। और वह भी प्रायोगिक रूप में देखने में आता है केवल दूसरों की द्रव्य हिंसा नहीं करना ही अहिंसा मान लिया जाता है। परन्तु स्वभाव की निर्मलता / पवित्रता / सरलता / सहजता निर्लोभता सेवा परायणता / त्यागवृत्ति आदि स्वभाव अहिंसा तथा दूसरों की तन-मन-धन भोजन औषधि वस्त्र गृह आदि के द्वारा सेवा करना सहायता पहुँचाना आदि को अहिंसा रूप में प्रायः अधिकांश व्यक्ति न जानते हैं न मानते हैं। इसके कारण ही विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में तथा व्यक्तियों में अनेक विकृतियाँ, अनेक विपरीततायें अनेक भ्रान्तियाँ, अनेक कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिए कुछ व्यक्तियों की अहिंसा केवल धर्मायतन में, पूजा गृह में आराधना स्थल में, धार्मिक ग्रन्थों, धार्मिक पर्वों में, धार्मिक प्रवचनों में रसोई घरों में ही निष्क्रिय रूप में निरतेज रूप में निर्जीव रूप में होती है परन्तु कार्यालय में, बाजार में, दुकान में, कार्यक्षेत्र में, परस्पर व्यवहार में अहिंसा बहुत दूर ही रहती है। इन कारणों से ही दयामयी परोपकारिणी / जगतोपकारिणी / सेवा परायणी / वात्सल्य मयी अहिंसा निरतेज है, निष्क्रिय है, विकृत है, संकीर्ण है, प्राण रहित है। सेवा / वैद्यावृत्य / दान / परोपकार आदि जीवत्त अहिंसा है। जो अन्तरंग पवित्रता से युक्त होकर सेवादि करता है वह स्व-पर का लक्षण करता है उपवास, रस त्याग करना आदि से स्वकल्याण की प्रधानता है परन्तु वैद्यावृत्य आदि से स्व-पर कल्याण है क्योंकि जो अग्रलिखित

भाव एवं पञ्चत्रित से वैद्यावृत्य आदि देता है उसके भाव में दया, परोपकार, निर्लोभता, सेवा, मृदुता आदि गुण होते हैं तथा उन गुणों का संबद्धन तथा परिमार्जन भी होता है इसलिए इससे स्व-कल्याण होता है। इसलिए भगवती आराधना आदि प्राचीन जैनागम में कहा गया है कि यदि कोई एक साधु छः छः महीने के उपवास करके ध्यान, तप आदि करता हो तथा दूसरे एक साधु नित्य आहार करके दूसरों की वैद्यावृत्ति करता हो तो इनमें से वैद्यावृत्ति करने वाला श्रेष्ठ है।

आहाररौपधयोरप्युक्तरणावासयोश्च दानेन।

वैद्यावृत्यं द्रुवते चतुरात्मवेन चतुरस्राः॥

अर्थ— भक्त पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदिको आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैद्यावृत्य चार प्रकार का होता है। ऐसा पण्डित जन निरूपण कहते हैं।

जो देता है वह दान देते हुए अन्तरंग में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। वैद्यावृत्य से उनकी कीर्ति दश दिशाओं में फैल जाती है पाप कर्म का नाश होता है, सातिशय पुण्य वृद्धि को प्राप्त होता है। उस पुण्य से इस लोक में ख्याति पूजा वैभव प्राप्त होता है परलोक में भोग-भूमि स्वर्ग, राजा महाराजा चक्रवर्ती की विभूति मिलती है। दान के चार प्रकार हैं (1) आहार दान (2) औषधि दान (3) ज्ञान दान (4) वसतिका दान या अभय दान।

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने वैद्यावृत्य को सेवा कहा है। 'दान वैद्यावृत्य' 'भोजनादिदानामपि वैद्यावृत्यमुच्यते' अर्थात् भोजनादि दान को भी वैद्यावृत्य कहते हैं। धवला, जय धवला, तत्वार्थ सूत्र भगवती आराधना आदि में वैद्यावृत्य का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। उनमें सविस्तार वर्णन किया गया कि जो वैद्यावृत्य करता है वह तीर्थकर पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है और आगे तीर्थकर बनकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्ष को प्राप्त करता है। तीर्थकर बनने की 16 भावना में से (1) वैद्यावृत्य के साथ-साथ (2) शक्ति के अनुसार त्याग (3) शक्ति के अनुसार तप (4) आचार्य भक्ति (5) वात्सल्य भाव (6) बहुश्रुत भक्ति आदि ये सब प्रत्यक्ष परोक्ष या आंशिक रूप से वैद्यावृत्य / सेवा / भक्ति दान में गर्भित है। इससे भी सिद्ध होता है कि वैद्यावृत्य की महानता तथा व्यापकता कितनी श्रेष्ठ / ज्येष्ठ / गरिष्ठ है। उपर्युक्त वर्णन से वैद्यावृत्य का महत्व स्पष्ट प्रतिभासित होता है।

हो जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने दान के साथ-साथ उनकी शारीरिक सेवादि को भी वैद्यावृत्य कहा है।

**व्याप्तिव्यपनोदः पयदोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैद्यावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥**

देशब्रती और सकलब्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इसके ऊपर बिमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आई हैं तो गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अंगों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ सम्बानुकुल सेवा है वे सब वैद्यावृत्य नामक शिक्षाव्रत हैं। यह वैद्यावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टिफल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश की जाती है।

वैद्यावृत्य अन्तरंग तप है जैसा की स्वाध्याय, ध्यान अन्तरंग तप है। रथ्यनसार में कहा है “दाणं पूजा मुकुं दं सावय धग्मे ण सावया तेण विणा” अथवा दान, पूजा श्रावक धर्म में प्रमुख है और दान, पूजा के बिना कोई श्रावक नहीं होता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्द कुन्द देव ने कहा है कि वैद्यावृत्य श्रावक के मुख्य कर्तव्य है तथा साधुओं के गौण कर्तव्य है तथापि उनमें साधुओं की शुभ-क्रिया में वैद्यावृत्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण बताया है।

**उपकुण्डि जो विणिच्चं चादुव्यण्णस्त् समणसंघस्त्,।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से॥**

कुंदकुंद देव ने इस गाथा में सिद्ध किया है कि जो चतुर्विध संघ का उपकार करता है वह धर्मानुरागी में श्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर छह गुण स्थानवर्ती श्रमण तक का कर्तव्य धर्मात्मा का उपकार करना है।

सेज्जागासणिसेज्जां उवधी पटिलेहणाउवगगहिदे।

आहारोसहवायणविकिं चणुव्यतणादीसु॥

सोने के स्थान, बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखना करना योग्य आहार योग्य औषधि का देना स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैद्यावृत्य है।

अद्वाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।

वज्जावच्चं उत्तं सगहसारक्खणोवेदं॥

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना। जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी को रोकने वालों से और भारी रोगसे जो पीड़ित हैं, विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्मिश्र में फँसे हैं उन्हें सुभिक्ष देश में लाना “आप न डरें” इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य बंधाना तथा उनका संरक्षण करने को वैद्यावृत्य कहा है।

अविगुहिदवलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।

जणिदकरेदि समत्थोसंतोहोदिणिद्धम्मो॥

अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैद्यावृत्य नहीं करता है तो वह धर्म से बहिष्कृत हो जाता है।

तिथ्यराणाकोवो सुदधम्मविधारणा अणायारो।

अप्पारोपवयणं च तेणणिज्जूहिंद होदि॥

वैद्यावृत्य न करने से तीर्थकरों की आज्ञा का भंग होता है। शास्त्र में कहे गये धर्म का नाश होता है। आचार का लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति में उपकार से मुनिवर्ग का त्याग होता है और शास्त्र आचरण न करने से आगम का त्याग होता है।

गुणपरिणामो सङ्कटा वच्छल्लं मत्तिलंभो या।

संघाणं तव पूया अव्योचित्ती समाधी य॥

वैद्यावृत्य करने का पहला गुण है गुण परिणाम अर्थात् जो वैद्यावृत्य करता है उसकी पीड़ित साधु के गुणों में वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ और जिस साधु की वैद्यावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणों में विशेष प्रवृत्ति होती है। इसके सिवाय श्रद्धा वात्सल्य भक्ति पात्र का लाभ सन्धान अपने में गुण पूजा, छूट गये हैं इनका पुनः आरोपण तप, धर्म, तीर्थ की परम्परा का विच्छेद, न होना तथा समाधि में गुण है।

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिषा॥

वेज्जावच्चस्त् गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि॥

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैद्यावृत्य करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता

है। आज्ञा पालन से आज्ञा संयम होता है। वैद्यावृत्य करने वालेका उपकार होता है। निर्देष रलत्रय का दान होता है। संयम से सहायता होती है। विचिकित्सा / ग्लानि दूर होती है। धर्म प्रभावना होती है। और कार्य का निर्वाह होता है। जिसका परिणाम दृढ़ होता है वह साधु की वैद्यावृत्य करता है। वैद्यावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यति में जो गुण हैं यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो यह गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्त में विचारता है वह उन गुणों में परिणित होता है। और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणित होती है। अर्थात् वैद्यावृत्य करने वाला स्वयं गुणों से च्युत नहीं होता।

जह जह गुणपरिणामों तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढ़ि।

वद्वद्वदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसङ्घटावि॥

जैसे—जैसे गुण परिणाम होते हैं वैसे—वैसे चारित्ररूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है, और जिनेन्द्र के मार्ग में नई—नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्द से गुणों को विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है जैसे—जैसे यति के गुणों को भूल जाता है वह उसमें प्रवल नहीं करता उनके गुणों का स्मरण करने से उनमें रुचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणों के अनुरागी होते हैं। संसार से भय और श्रद्धा यति को रलत्रय में दृढ़ करती है। इस से श्रद्धा गुण का कथन किया। आगे कहते हैं कि गुणों के स्मरण से उनमें रुचि होती है। रुचि बढ़ने पर सम्पादर्शन का वात्सल्य नामक गुण होता है।

पंचमहव्ययगुतो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो।

लद्भमि दु पत्तभूदो णाणासुदरयणविधिभुदो॥

वैद्यावृत्य करने पाँच महाव्रतों के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने वाला; कषाय वेदना का निग्रह करने वाला; कषाय आत्मा को संतप्त करता है इसे वेदना कहा है। दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं; वस्तु तत्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शान्त होता है। इससे दन्त कहा है तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रूलों की निधि है, नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैद्यावृत्य करने वाले को वैद्यावृत्य के लिए ऐसे सत्पात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ।

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव॥

किसी निमित्त से सम्पादर्शन आदि में कोई त्रुटि हो गई हो तो वैद्यावृत्य करने से सम्पादर्शन, सम्पाज्ञान, सम्प्रकृतप, और सम्प्रकृचारित्र में पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैद्यावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैद्यावृत्य करता है उसकी रलत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे ढोनों का ही लाभ है।

जिणा सिद्धसाहुधम्मा अणगदातीदवद्वमाणगदा।

विविहेण सुद्धमदिणा सबे अभिपूझ्या होंति॥

शुद्धचित्त से वैद्यावृत्य करने वाले के द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल के सब तीर्थकर, सिद्ध, साधु और धर्म, मन-वचन-काय से पूजित होते हैं। तीर्थकरों की आज्ञा के पालन से सभी तीर्थकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं। तथा दस प्रकार के धर्मों में एक तप धर्म भी है और वैद्यावृत्य उसका एक भेद है। अतः वैद्यावृत्य में आदर भाव रखने तथा वैद्यावृत्य करने से धर्म पूजित होता है।

वैद्यावृत्यप्रवृत्तो या शासनार्थतिभावितः।

न स शक्यः सुरै शेष्वधुं किं पुनः क्षुद्रजन्तुभिः॥

जो जिन शासन के अर्थ को उत्कट भावना करता हुआ वैद्यावृत्य करने में प्रवृत्त रहता है उसे देव भी रोकने के लिए समर्थ नहीं है फिर श्रुद्र जीवों की तो बात ही क्या है।

यह नन्दिषेण मुनि ऐसे ही उत्तम मुनि हैं इस प्रकार सौधर्मन्द द्वारा स्तुति किये जाने पर सब देवों ने उनकी प्रशंसा की और परोक्ष नमस्कार किया। उन्हीं देवों में एक देव, मुनि के धैर्य की परीक्षा के लिए मुनि का रूप रख नन्दिषेण मुनिराज के पास पहुँचा और इस प्रकार कहने लगा—‘है! वैद्यावृत्य में महान् आनन्द धारण करने वाले नन्दिषेण मुनिश! मेरा शरीर व्याधि से पीड़ित हो रहा है इसलिए मुझे कुछ औषधि दीजिए। उसके इस प्रकार कहने पर नन्दिषेण मुनि ने अपनी अखण्ड अनुकम्पा से कहा कि ‘हे साधो! मैं औषधि देता हूँ परन्तु यह बताओ कि तुम्हारी किस भोजन में रुचि है?’ मुनि रूपधारी देव ने कहा—‘पूर्वदेश के भात, पाश्चिम का शुभ तपाद्या हुआ थी। कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन यदि मिल जाये तो अच्छा हो, क्योंकि मेरी श्रद्धा इन्हीं चीजों से अधिक है।’ इस प्रकार कहने पर मैं अभी लाता हूँ यह कहकर नन्दिषेण मुनि बड़ी श्रद्धा के साथ उक्त आहार लेने के लिए चल दिए। विरुद्ध देश की वस्तुओं की चाह होने पर भी उनके मन में कुछ भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ और गोचरी

वेला में जाकर तथा उक्त सब आहार लाकर उन्होंने शीघ्र ही उस कृत्रिम मुनि को दे दिया। कृत्रिम मुनि के उस आहार पानी को प्रहण किया परन्तु रात्रि में शरीर के अन्तर्गत मल से उसका समर्त शरीर मलिन हो गया और नन्दिषेण मुनि ने बिना किसी ग्लानि के उसे अपने हाथों से धोया। तदनन्तर जिनका उत्साह भग्न नहीं हुआ था, तथा जो बराबर वैयावृत्य कर रहे थे ऐसे प्रशंसनीय नन्दिषेण मुनि को देखकर दिव्य रूप को धारण करने वाले देव ने कहा कि हे ऋषे ! देवों की सभा में इन्द्र ने आपकी जिस प्रकार स्तुति की थी मैं देख रहा हूँ कि आप उसी तरह वैव्यावृत्य करने में उद्यत हैं। अहो आपकी ऋषि, आपका धैर्य, आपकी ग्लानि जीतने की क्षमता और संशय रहित आपका शासन वात्सल्य सभी आश्चर्यकारी हैं। आप उत्तम मुनिराज हैं। यदि तप करते समय अन्य बुद्धिमान मनुष्यों की भी इसी प्रकार विकाल में वैयावृत्य करने की बुद्धि हो जावे तो उसे उनकी शासन भक्ति समझना चाहिए। इस प्रकार वह देव, मुनिराज की स्तुति कर तथा सम्प्रदर्शन प्राप्त कर जिन शासन की प्रभावना करता हुआ स्वर्ग को चला गया।

अत्यन्त धीर बुद्धि को धारण करने वाले नन्दिषेण मुनि के तपश्चर्या द्वारा पैतीस हजार वर्ष बिताकर अन्तिम समय छह माह का प्रायोपागगम सन्यास ले लिया। उन्होंने शरीर और आहार का त्याग कर दिया वे अपने शरीर की वैय्यावृत्ति न स्वयं करते थे न दूसरे से कराते थे किन्तु इतना होने पर भी मोह की तीव्रता से उन्होंने “मैं अग्रिम नव में लक्ष्मीवान् सौभाग्यवान्, होऊँ” इस निदान से अपनी आत्मा को बद्ध कर लिया। यदि वे मुनि इस समय यह निन्दित निदान नहीं करते तो अपनी सामर्थ्य से अवश्य ही तीर्थकर प्रकृति का बंध करते। तदनन्तर वह आराधनाओं की आराधना कर महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र तुल्य देव हुआ और वहाँ साढ़े सोलह सागर तक सुख से विद्यमान रहा। हे राजन् वही पुत्र देवों के सुख भोगकर अन्त में वहाँ से च्युत हो तेरी सुभद्रा रानी से पृथ्वी का अधिपति वसुदेव नाम का पुत्र हुआ है।

उपर्युक्त प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि एक रोगी साधु के लिए अन्य एक साधु आहार-औषधि आदि की व्यवस्था केवल कर ही सकता है ऐसी बात नहीं है। परन्तु यह साधु का एक धार्मिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी होता है। पहले वर्णन किया गया था कि समाधिस्थ मुनि के लिए भोजन लाने के लिए अनेक साधु जाते हैं और उनके योग्य भोजन श्रावक के घर से योग्य भोजनादिक एक रोगी

या समाधिस्थ साधु के लिए ला सकते हैं तब क्या एक रोगी या जिनके अनेक अन्तराय आते हैं ऐसे साधु के लिए अन्य साधु श्रावक के यहाँ जाकर उनके योग्य भोजन, औषधि आदि नहीं दिला सकते हैं ? अवश्य दिला सकते हैं ! केवल दिला ही नहीं सकते हैं, दिलवाना उनका परम कर्तव्य भी हो जाता है। देखने में एवं सुनने में आता है कि कुछ गृहस्थ एवं साधु यदि रोगी या अन्तराय वाले साधु की आहार व्यवस्था के लिए कोई साधु या आर्यिकाएँ जाती हैं तो इसे अयोग्य मानते हैं और निन्दा करते हैं। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त अधार्मिक, कूर, हृदयहीन, कठोर निन्दक, छिद्रान्वेषणकारी, आगम तथा जैन धर्म बात्य हैं।

“शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्” धर्म साधना के लिए शरीर सर्वश्रेष्ठ एवं प्रथम साधन है। योग्य शरीर से धर्म साधन विशेष होता है आहार के बिना शरीर दुर्बल हो जाता है। शरीर रक्षा के लिए आहार चाहिए। आहार के बिना शरीर स्थिर नहीं रह सकता है। क्षुधा एक भवंकर रोग है। क्षुधारूप रोग से सम्पूर्ण शरीर जलने लगता है, शरीर दुर्बल हो जाता है, इन्द्रिय – मन एवं अवयव शिथिल पड़ जाते हैं, जिसके कारण धर्म साधन विशेष नहीं हो पाता है, इसलिए क्षुधा रूपी रोग को दूर करने के लिए भोजन रूपी औषधि की नितान्त आवश्यकता है। सर्व आरम्भ, परिग्रह त्यागी साधु केवल भिक्षा से प्राप्त अन्न से ही उदर – पोषण करते हैं जिससे उनकी धर्म साधना उत्तम रीति से चलती रहे। इसलिए सद्-गृहस्थों का पवित्र, श्रेष्ठ कर्तव्य है कि ऐसे धर्मात्मा साधु पुरुषों को शुद्ध आहार दान दें, उनकी रक्षा करें जिससे धर्म की भी रक्षा होगी। धर्म की रक्षा से विश्व में सुख-शान्ति फैलेगी।

रोगिभ्यो भैषजं देयं रोगो देह विनाशकः।

देहे नाशे कुतो ज्ञानं, ज्ञानाभावे न निवृत्तिः॥

रोगियों को औषधि देना चाहिए। क्योंकि रोग शरीर का नाशक है। शरीर का नाश होने पर ज्ञान कैसे हो सकता है। और ज्ञान के बिना निर्वाण कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसलिए जो औषधि दान देता है वह शरीर को बचाता है तथा ज्ञान एवं निर्वाण प्राप्ति के लिए सहकारी कारण बनता है।

गुरुओं को, धार्मिक जनों को रोगियों को अहिंसात्मक प्रासुक शुद्ध औषधि देना औषधि दान है तथा शुद्ध औषधालय खोलना रोगियों की सेवा, चिकित्सा करना उनको सांत्वना देना, प्रिय वचन बोलना साहस दिलवाना आदि औषधि

यो ज्ञान दानं कुरुते मुनीनां सदेवलोकस्य सुखानि भुक्ते।

गच्छ च सत्केवलबोधत्वित्य लक्ष्यां स्वयं मुक्तिपदं लभेत्।

जो मुनियों के लिए ज्ञानदान करता है, वह स्वयं स्वर्ग लोक के सुख भोग कर राज्य को प्राप्त करता है और केवल ज्ञान को प्राप्त कर मोक्षपद को प्राप्त करता है। मुनियों को शास्त्र, ज्ञान उपकरण जैसे कागज, कलम आदि देना ज्ञान-दान कहा जाता है। सत्साहित्यों का प्रकाशन-वितरण करना भी ज्ञान-दान है। स्वयं दृसरों को पढ़ाना, धार्मिक उपदेश करना धार्मिक शिविर लगाना, धार्मिक खूल खोलना, उसके लिए अर्थिक सहयोग देना भी ज्ञान-दान है॥

प्रत्येक जीव की रक्षा करना, गुरुओं का उपसर्ग परीषह दूर करना, योग्य वसतिका (निवास गृह) पिच्छी - कमण्डलादि उपकरण देना अभ्यदान व वसतिका दान में गर्भित है। जीव की रक्षा करना, उनको किसी प्रकार के कष्ट नहीं पहुँचाना बहुत बड़ा दान हैं क्योंकि उससे जीव की रक्षा हुई; जीव की रक्षा से वह धार्मिक कार्य कर सकता है।

अर्हतभवित्त

12

श्रद्धा सहित भवित ही परमात्मा के अमृत द्वारा को खोलती है

धर्मसभा को संबोधित करते हुए आचार्यरत्नश्री कनकनंदीजी गुरुदेवने 'अरहन्त भवित' भावना के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालते हुए बताया कि अरहन्तभवित किसे कहते हैं? अरहन्त भवित कैसे की जाती है, क्यों की जाती है? इसके करने से कैसे फल की प्राप्ति होती है? इन सभी बातों की जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है। पहले समझेंगे कि अरहन्त किसे कहते हैं? और अरहन्त का स्वरूप क्या है? अरहन्त श्रमण परम्परा के परम आराध्य देव हैं। अरहन्त का प्राकृतरूप अरहन्त है। इसका संस्कृत रूप अर्हन् है। अर्ह पूजायाम् अर्थात् पूजार्थक अर्ह धातु से शत्रृङ् प्रत्यय होकर अर्हत् शब्द निष्पन्न होता है। प्राकृतभाषा में 'न्त'प्रत्यय होकर 'अरहन्त' रूप बनता है। प्राकृत व्याकरण के सूत्रानुसार र ह के मध्यम इकार का आगम होकर 'अरहन्त' तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार अकार का आगम होकर अरहन्त रूप बनता है। आचार्यश्री कुंद कुंद देवने प्राकृत भाषा में 'अरुह' प्रयोग

भी किया है। अरहंत शब्द के विभिन्न भाषाओं में अनेक रूप हैं। जैसे - संस्कृत में अर्हत्, प्राकृत में - अर्हत्, अरहंत, अरिहंत। पाली में अरहंत। जैन शौरसेनी में - अरुह। मागधी में अलहंत, अपञ्चश में - अलहतु, अलिहंतु। कन्नड़ में अरुह, अरुहंत। धबला ग्रंथ के अनुसार अरहन्त का स्वरूप आचार्य वीरसेन स्वामी ने इस प्रकार बताया है कि-

अरिहंति वंदणणमंसाणि अरिहंति पूय सक्कारं।

अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति॥

अर्थात् जो नमस्कार करने योग्य हैं पूजा के योग्य हैं देवों में उत्तम हैं वे अरहंत हैं।

अरिहननादिरहन्ता रजोहननादा अरिहंत रहस्याभावद्वा अरिहन्ता। 'अरि' अर्थात् शत्रुओं का नाश करने से अरिहंत यह संज्ञा प्राप्त होती है। समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को अरि कहते हैं। अथवा रज, आवरण कर्मों का नाश करने से अरिहन्त यह संज्ञा प्राप्त होती है।

अरहंत

जरवाहिजम्मरणं चउगडगमणं च पुण्णपावं च।

हंतूण दोसकम्मे हुअ णाणमयं च अरहंतो॥

(वोधपाहुड)

जरा और व्याधि - जन्म - मरण, चार गतियों में गमन, पुण्य-पाप इन दोषों के उपजाने वाले कर्म हैं। इनका नाश कर जो केवलज्ञानमय हो गये हैं वे अरहंत हैं।

रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे।

जिदकोहमाणमाया जिदलोहातेण ते जिणा होति॥

अरि अर्थात् मोहकर्म, रज अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म चार घातिकर्म के हनन करने वाले हैं। अतः अरि का प्रथमाक्षर 'अ' 'रज' का प्रथमाक्षर 'र' लेकर उसके आगे हनन करने वाले वाचक 'हन्त' शब्द जोड़ देने पर अरहन्त बनता है। वे अरहन्त क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लेने के कारण 'जिन' हैं। कर्मशत्रु व संसार के नाशक होने के कारण 'अरहन्त' कहलाते हैं।

अरुह - 'न रोहन्ति इति अरुह' अर्थात् कर्मरुपी, बीज के दग्ध हो जाने से जो पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होते वे 'अरुह' हैं। जिस प्रकार मिथ्री को किसी 'भी साइड से खाइये, कैसे भी खाइये मीठी व आनंददायी ही लगेगी उसी प्रकार

अर्हन्त भगवान् का नाम कैसे भी जपो—चाहे अरिहन्त कहो, अरहन्त कहो अरुहन्त कहो, अरुह कहो वह सब कर्मकथ्य के ही कारण है। शब्द भेद होने पर भी यहाँ अर्थभेद नहीं है, गुणों की अपेक्षा समानता है।

इस प्रकार जैन वाङ्मय में प्राचीन अरहन्त शब्द प्राचीन इतिहास “अनादिनिधनता” में तो समाहित है ही परन्तु वैदिक बौद्ध एवं संस्कृत वाङ्मय में भी इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है।

वैदिक वाङ्मय में अर्हत् शब्द—विनोबा भावे ने ऋग्वेद के मंत्र का उदाहरण देते हुए जैनधर्म की व अर्हत् शब्द की प्राचीनता सिद्ध की है।

“अर्हत् विभर्विसायकानि, धन्वार्हन्निष्कं यजत् विश्वरूपम्।

अर्हन्निदं दयसे विश्वमस्वं, न वा ओ जीओ रुद्र त्वदन्यदस्ति॥”

अर्थात् हे अर्हत् ! तुम इस तुच्छ दुनियाँ पर दया करते हो। इसके अलावा वराहमिहिर संहिता, योग वशिष्ठ, वायु पुराण, ब्रह्मसूत्र, शंकराभाष्य, में भी ‘अर्हत्’ शब्द का उल्लेख मिला है। संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास ने अपने काव्य व नाटकों में अनेक स्थानों पर ‘अर्हत्’ शब्द का प्रयोग किया है। शाश्वतकोष तथा शारदीय नाम-माला में ‘अर्हत्’ शब्द ‘जिन्’ का पर्यायवाची कहा गया है।

आचार्य हेमचंद्र ‘अर्हत्’ को पदार्थ का यथार्थ वर्णन करनेवाला परमेश्वर कहते हैं।

बौद्ध वाङ्मय में अरहन्त शब्द महात्मा बुद्ध के लिए प्रयुक्त है। अरहन्त के जो गुण पाली में कहे गए हैं वे बहुशः जैन अरहन्तों के गुणों से समानता रखते हैं।

जैनागम में अरहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला एक मंगलमय परमेष्ठी पद है। उन्होंने बाह्य व अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट कर दिया है। बाह्य शत्रुओं को तो हर कोई नष्ट कर सकता है लेकिन अन्तरंग शत्रुओं को नष्ट करना ही वीरता, बहादुरी है। दुनियाँ में ऐसा कौन सा व्यक्ति है जिसके अन्तरंग शत्रु ना हो। जिसके अन्तरंग शत्रु नहीं है उसके बाह्य शत्रु भी नहीं हो सकते। अपने निकट का ही सबसे बड़ा शत्रु होता है। सबसे निकट तो अपना शरीर है उससे भी निकट मन है। ये अपना शरीर, मन मूल शत्रु हैं। इसे सामान्य भाषा में कर्म भी कहते हैं। कर्म के कर्ता धर्ता हम ही हैं दूसरा कोई नहीं है। जो अन्तरंग बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है वही महा वीरतिवीर होता है। इन्द्रिय—मन विजेता ही विश्व विजेता होता है। ऐसे विश्वविजेता, आत्म विजेता कितने बनते हैं ? बहुत कम ? निगोद जीव कितने

हैं उसकी कल्पना नहीं कर सकते फिर भी आचार्यों ने बहुत ही स्थूल उदाहरण दिया है।

एगणिगोदशरीरे जीवा दव्यप्यमाणदो दिट्या।

सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्येण वितीदकालेण॥

एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत काल के द्वारा सिद्ध हुए जीवों से भी अनंत गुणे हैं। जिन्होंने व्रस भाव को नहीं प्राप्त किया है, ऐसे अनंतजीव हैं। फिर दुनियाँ में विश्व विजयी, आत्मजयी की संख्या तो बहुत ही कम है। क्योंकि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना बहुत ही वीरता, बहादुरी का कठिन कार्य है। यहाँ तक कि अरहन्त बनने पर भी अन्तरंग शत्रु पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होते हैं लेकिन वे शत्रु कुछ बिगड़ नहीं कर पाते हैं। जब अन्तरंग शत्रु कुछ नहीं कर पाते तब बाह्य शत्रु क्या कर पायेगे ? स्वयं भगवान् महावीर की मौसी ने नमस्कार नहीं किया गलियाँ दी तो महावीर का क्या बिगड़ा ? पार्श्वनाथ आदि अनेकों ऐसे उदाहरण हैं। भगवान् के अनंतज्ञान, दर्शन आदि चतुष्टय में कुछ कमी नहीं आयी। भावात्मक रूप से सिद्ध भगवान् के भी अनेकों शत्रु होते हैं। क्योंकि उनके शरीर में अनंत निगोद जीव रहते हैं सिद्ध से विपरीत अशुद्ध भाव से युक्त होते हैं तो क्या सिद्ध भगवान् निगोद, स्थावर, मिथ्यादृष्टि, अभव्य हो गये ? इसीलिए कहा है कि जो घाति कर्म विजेता होता है वही विश्व विजेता, आत्म विजेता होता है। जो आत्म पर विजय प्राप्त कर लेता है उसे दुनियाँ का बड़े से बड़ा-प्रबल शत्रु भी परास्त नहीं कर सकता। इसीलिए अरहन्त भगवान् को ताकतवर चार कर्मों के अभाव में कोई भी ताकतवर पहलवान कष्ट नहीं पहुँचा सकता। जैसे अनादिकाल से अंधकार है लेकिन एक दीप जलते ही वह अनादिकालीन अंधकार टिक नहीं सकता उसी प्रकार दुनियाँ के करोड़ों शत्रु होने पर भी अरहन्त का कोई बाल बाँका नहीं कर सकता।

जाको राखै साइयाँ, मार सके ना कोय।

बाल न बाँका कर सके, जो जगबैरी होय॥

ये चार घातिया कर्म बहुत बड़े शत्रु हैं। ये आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं। ये हमारे स्वभाव में भारी क्षति पहुँचाते हैं। इसीलिए चार घातिया कर्म नष्ट हो जाने के बाद अरहन्त को भी मुक्त जीव कहते हैं। या अर्द्धनारीश्वर कहते हैं। इसकी संधि विच्छेद करने पर इसका अर्थ ज्ञात होगा कि अर्द्धनारीश्वर का

वास्तविक रूप क्या है? अर्द्ध + न + अरि + ईश्वर = चार धार्ति कर्म नष्ट करने पर + नहीं + शत्रु + ईश्वर = अर्थात् जिन्होंने चार धार्तिया कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करके ईश्वर पद को प्राप्त कर लिया हैं वे ही अर्द्धनारीश्वर हैं। ईश्वरत्व, प्रभुत्व, शक्ति से संपन्न को ईश्वर कहते हैं। जिन्होंने योग्य, पवित्र, पूज्य, परमपद को प्राप्त कर लिया है, 100 इंद्रों से जो पृजित हैं वे ही अर्हन्त हैं। हमें ऐसे अर्हन्त की पूजा, भक्ति से क्या लाभ? क्योंकि अभी अरहन्त तो प्रत्यक्ष नहीं है केवल पत्थर की मूर्ति हमें क्या लाभ पहुँचा सकती है? इसीलिए हम क्यों भक्ति करें? इन प्रश्नों के पीछे हमें सही रहरय को समझना होगा कि सबसे पहले तो भगवान् से कुछ पाने की आकांक्षा ही मृढ़ता है। भगवान् तो वीतरागी है, न लेते हैं, न देते हैं, न निंदा से नाराज होते हैं, न प्रशंसा से खुश होते हैं, वे तो माध्यस्थ भाव से सिद्धालय में विराजमान हैं। अरिहंतावरथा में भी कमल से अधर विराजमान है उनको उस कमल के प्रति भी राग-द्रेष नहीं तो फिर दुनियाँ के अन्य पदार्थों से क्या लेन-देन? लेकिन फिर भी जो भाव सहित भक्ति करता है उसे तीव्र पुण्यासाव होता है। मन निर्मल होता है, पाप कट जाते हैं यहाँ तक कि धवलाग्रंथ के अंदर वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि भक्ति करने से निःघटित-निःकांचित् कर्म भी कट जाते हैं। लेकिन कब कटते हैं ये कर्म? जब भक्त भगवान् के सामने उपासक बनकर जाता है याचक बनकर नहीं। पुजारी बनकर जाता है भिखारी बनकर नहीं। वह भगवान् के पास किसान की भाँति श्रद्धा की धान लेकर जाता है और परमार्थ की भूमि पर मोक्ष रूपी चावल की प्राप्ति हेतु छोड़ देता है। कुछ समय बाद जो फसल आयी उसमें चावल भी होता है और भूसा भी होता है। उसी प्रकार भक्त का लक्ष्य भौतिक संपदा का नहीं आत्मिक संपदा की प्राप्ति का होता है। लक्ष्य सदैव गुणों की प्राप्ति का होना चाहिए विभूति की प्राप्ति का नहीं होना चाहिए। सांसारिक कामना को लेकर की गयी भक्ति संसारका ही कारण है तथा आत्मज्ञान की इच्छा से की गयी भक्ति मुक्ति का कारण है। अतः भगवान् के समीप कभी भी कामना, इच्छा, आकांक्षा लेकर मत जाना। परमार्थ प्राप्ति की भावना से भरकर ही जाना। क्योंकि यह निश्चित है कि भावशून्य क्रियायें फलीभूत नहीं होती हैं।

आकर्णितोऽपि महितोऽपिनिरीक्षतोऽपि।

नूनं न चेतसिमया विधृतोऽसि भवत्या॥

जतोऽस्मि तेन जन वान्धव! दुःखपात्र।

यस्मात् क्रिया प्रति फलन्ति न भावशून्याः॥

हे भगवन्! मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की। दर्शन भी किए फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ रहे, उसका कारण यही मालूम होता है कि मैंने भक्तिपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया। केवल बाह्य आडम्बर, ढोंग दिखायें को लेकर ही ये कार्य किए, भावपूर्वक, सच्ची श्रद्धा आस्था के साथ नहीं किए। यदि भावपूर्वक करता तो दुःख नहीं उठाने पड़ते।

धर्म में जो कुछ प्रणालियाँ बतायी हैं, आगम-श्रुत में जो कुछ लिखा है वह झूठ, मिथ्या, रुद्धिवादी नहीं है। बल्कि पूर्ण सत्य, शोध-बोध, आविष्कार से सहित है। क्या भक्ति करना दास कार्य है? या ऐसे ही आलतू-फालतू कार्य है नहीं। भक्ति का अर्थ, महत्व, उद्देश्य को समझें कि भक्ति माने क्या? “पूज्यानां गुणेष्वनुरागो भक्तिः” पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग ही भक्ति है। भक्ति यानि तन्मयता, पूर्ण समर्पणता।

यह भवसमुद्र अपार तारण के निमित्त सु विधि ठई।

अतिदृढ़ परम पावन यथारथ भक्तिवर नौका सही॥

यथारथ में सम्प्रकृदृष्टि की भक्ति भगवान् के यथारथ स्वरूप का परिज्ञान कराकर भक्त को कर्मक्षय का मार्ग प्रशस्त कराती है। आचार्य कुंद-कुंद स्वामी ने प्रवचनसार में यही भाव दूसरें शब्दों में लिखा है—

जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्तगुणत्पञ्जयतेहि।

सो जाणदि अप्याणं मोहो खलु जादि तस्सलयं॥

जो द्रव्य गुण पर्याय के द्वारा अरहन्त को जानता है, वह आत्मा को जानता है, उसका मोह नियम से विलय को प्राप्त होता है। भक्ति की व्याख्या अलग ढंग से करते हुए लिखा है कि—

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वयनीचाः।

भक्तिनोंचेदनवधि सुखा वज्चिका कञ्चुकेयम्॥

शक्योदधाटं भवति हि कथम् मुक्ति कामस्य पुंसो।

मुक्तिं द्वारं परिदृढ़ महामोह-मुद्रा कवाटम्॥

अर्थात्— निर्दोष ज्ञान और चारित्र के रहते हुए भी यदि अनंत सुखों को प्राप्त कराने वाली यह भक्ति रूपी कुन्जी नहीं है तो मुक्ति के अभिलाषी पुरुष का वह मुक्तिं द्वार जिस पर कि महामोह के सुदृढ़ किवाड़ लगे हुए हैं, कैसे खोले जा

सकते हैं? अर्थात् नहीं खोले जा सकते।

इसीलिए अपने उपास्य के स्वरूप में एकाकार होना भक्ति ही सही, सार्थक, श्रेष्ठ उपलब्धि है। उपास्य के स्वरूप और गुणसाम्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील न होने पर भक्ति अपूर्ण है। ऐसी अपूर्ण भक्ति से अनंत सुख, वथार्थ सुख की उपलब्धि कैसे हो सकती है?

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है क्योंकि सुख आत्मा का स्वभाव है। सुख से शारीरिक-मानसिक, आध्यात्मिक नैतिक ऊर्जा मिलती है। मन अशांत दुःखी है तो ये ऊर्जायें नहीं मिलती बल्कि तनाव, चिड़चिड़ापन, क्रोधरूप विभाव परिणाम बनते हैं। विभाव से हमारी प्रकृति, स्वारथ्य, आदि की क्षति होती है। इसीलिए दुःख से पीड़ित व्यक्ति ही आत्म हत्यायें करते हैं। यहाँ तक कि मादक नशीले पदार्थ शराब, बीड़ी सिगरेट भी तनाव से मुक्त होने के लिए पीते हैं। प्रत्येक जीव सुख-शांति समृद्धि उन्नति-प्रगति चाहता है। क्या भौतिक सत्ता संपत्ति, विभूति से सुख शांति, समृद्धि मिलेगी? नहीं। क्योंकि ये आत्माका, धर्म का, प्रकृति का स्वभाव नहीं है। पहले के (मध्यकाल के) लोग कम पढ़े-लिखे, सत्य तथ्यों से अनभिज्ञ थे। इसीलिए धर्म के नाम पर रुद्धियों को, मिथ्या मान्यताओं को मानते थे। लेकिन आधुनिक लोग धर्म का एवं हर तथ्य का सत्य विश्लेषण, परिज्ञान करके ही स्वीकार करते हैं। आज विदेशी लोग भी धर्म करना चाहते हैं।

यह प्राणी दुःखी क्यों है? जबकि ज्ञान, दर्शन, सुखवीर्य सबके पास भी है। आत्मा के इन सभी गुणों पर कर्मों का कवर (आवरण) पड़ा हुआ है। राग द्वेष, विषय वासना, कषाय आदि का आवरण हटते ही ये गुण प्रगट हो जाते हैं। जिस प्रकार घनी भूत बादलों के बीच सूर्य का प्रकाश उद्घाटित नहीं होता है, बादल हटते ही सूर्य प्रकाशित हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के गुणों को प्रगट करने के लिए कर्मों के आवरण को हटाना होगा। वह आवरण 10 धर्मों से, 16 कारण भावनाओं से, मन को निर्मल पवित्र रखने से, भगवान् की भक्ति से आदि कारणों के द्वारा कर्मरूपी आवरण को हटाकर ज्ञान-दर्शन-सुख का सूर्य प्रगट करना होगा। जैसे खान में सोना है लेकिन जब तक उसे खोदकर नहीं निकालेंगे तो क्या सोना मिल जायेगा? नहीं इसी प्रकार हमारे पास ही वैभव है लेकिन हमें उसके होने का ज्ञान ही नहीं है। एक कुछ रोगी भिखारी पूरी जिन्दगी भीख माँगता रहा, दो चार पैसों के लिए हाथ फैलाता रहा। एकदिन जब वह मर गया तो लोगों ने

सोचा पूरी जिन्दगी यह भिखारी यही पर रहा इसीलिए इस स्थान को थोड़ा खोदकर साफ कर देना चाहिए। जब खुदाई की तो उस स्थान पर अपार संपदा हाथ लगी। इसी प्रकार सभी के अंदर अनंत चतुष्प्रय रूपी संपदा है लेकिन उस संपदा से अद्वात है। 'सभी के पास लाल है गाँठ खोल देखी नहीं।'

हमारे पास सब कुछ है लेकिन उसे प्रगट करने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। बिना गुरु के ज्ञान नहीं हो सकता। एक व्यक्ति सोना बनाने की विधि सीखने गया लेकिन घमण्ड के कारण आधी ही विधि सीखकर आ गया कि मुझे तो सब कुछ आ गया, नहीं भी आयेगा तो किताब से सीख लूँगा। घर आकर उसने सोना बनाया लेकिन सोना बना ही नहीं। अंत में थककर गुरु के पास पहुँचा कि सोना नहीं बन रहा है मैंने विधि ठीक-ठीक की है। गुरु ने कहा मेरे सामने बनाओ। जैसे ही उसने नीबू काटने के लिए चाकू प्रयोग किया गुरु ने हाथ पकड़ लिया कि बस यही गलती है। नीबू का रस तो उसमें पड़ेगा लेकिन चाकू से काटकर नहीं क्योंकि उस सोना बनाने के लिए जो रासायनिक प्रक्रिया चाहिए वह चाकू लगने से रसायनिक प्रक्रिया का असर उस रूप न होकर बदल जाता है इसीलिए हाथ से तोड़कर ही उसमें रस डालो। सोना बन गया। इसीप्रकार आगम तो है लेकिन उस आगम को पढ़कर हम भगवान् नहीं सकते। अगर गुरु की कोई महत्ता नहीं होती तो इतने विद्यालय - गुरुकुलों की क्या आवश्यकता थी? हमारा यह जैन धर्म बहुत ही गूढ़, सूक्ष्म, महान्, कठिन है। स्वयं गणधर देव भी अपने मन से कुछ नहीं बोलते। केवल अरहन्त भगवान् ही क्षायिक केवलज्ञान होने पर उसका अनंतवाँ माग 718 भाषाओं के माध्यम से 7 पन्द्रितियों के द्वारा एक कोटि वर्ष पूर्व तक प्रतिपादित करते हैं वह भी अनंतवाँ भाग है। उसके बाद गणधर देव सुनते हैं तो वे उसका अनंतवाँ भाग लिपिबद्ध कर पाते हैं। केवली का ज्ञान अनंत है। गणधर का असंख्यात। उस अनंत की कितनी संख्या है यह हमारी कल्पना से बाहर की बात है। जैसे कि एक सेकेण्ड में हम बहुत सी चीज देख सकते हैं लेकिन उसका लिखित रूप में वर्णन कितनी देर में कर पाते हैं। आज विज्ञान ने भी सिन्धु कर दिया है कि हमारे मरितिष्क का 5% प्रयोग कर पाते हैं। हमारे भारत देश में इतना साहित्य था कि विदेशी आक्रान्तों ने दिन रात महीनों तक होली जलायी, बड़े-बड़े जहाज भरकर अच्छा-अच्छा साहित्य विदेश ले गये फिर भी वह आगम समाप्त नहीं हो पाया। विदेशी आक्रान्ताओं ने धन सम्पत्ति, की

अपेक्षा साहित्य की अधिक लूट का और क्षति पहुँचायी। आज हमारे पास जो कुछ भी उद्धार्दे रहा है वह सिन्धु की बृंद के बराबर है। वह बिन्दु ही बहुत शक्तिशाली है। उस बिन्दु में भी पानी के असंख्यात परमाणु के समान असंख्यात सिन्धान्त भरे हुए हैं। क्या ऐसे परम उपकारी ज्ञान-विज्ञान प्रदाता, मोक्षमार्ग के आविष्कार कर्ता, अनंतगुणों के धारी भगवान् का विनय सम्मान बहुमान नहीं करेंगे? फिर हमसे ज्यादा कृतज्ञी और कौन होगा? 'नहि उपकार विसमरिन्त साधवा:' वे महान् होते हैं जो थोड़ा सा किया हुआ उपकार भी नहीं भूलते हैं।

भगवान् का बताया हुआ मार्ग ही प्रशंसन ठीक मार्ग है। अपनी मंजिल तक पहुँचने का यही मार्ग सम्यक् सीधा है। लेकिन हर किसी के लिए नहीं। जो सम्यक् दृष्टि हो जिसका भाव यथार्थ, पवित्र, निर्मल हो उसी के लिए है।

एक व्यक्ति आकाशगामिनी विद्या की सिन्धु कर रहा था। वह बार-बार ऊपर नीचे उतरता लेकिन विद्या की सिन्धु नहीं हो रही थी। उधर से एक चोर ढौङता-ढौङता आया और पूछने लगा तुम यह क्या कर रहे हो? उसने बताया आकाशगामिनी विद्या सिन्धु कर रहा हूँ। लेकिन हो नहीं रही है। इस छोंकें में बैठकर उस छोंकें की सारी रसियाँ काटनी है। तब यह विद्या सिन्धु होगी लेकिन मुझे डर लगता है कि ये जो नीचे तीखे धार वाले अत्र-शस्त्र लगे हुए हैं। डोरियाँ कटने पर इनके ऊपर गिर जाऊँगा तो मर नहीं जाऊँ। यह चोर बोला— इसका मंत्र मुझे सिखा दो मुझे तो मरना ही है।

उस व्यक्ति ने णमोकार सिखाया लेकिन इससे पहले उसने कभी णमोकार भी नहीं सुना था और उसे डर भी था कि शत्रु मुझे पकड़ न ले जल्दी-जल्दी में बस इतना ही कहकर कि “आणं ताणं कछु नहि जाणं सेठवचन परमाणं” सभी डोरियाँ एक साथ काट डाली। डोरियाँ कटते ही उसे आकाशगामिनी विद्या सिन्धु हो गयी। वह चोर था लेकिन उसे श्रद्धा थी, विश्वास आस्था थी कि दिग्म्बर जैन साधु कभी झूठ नहीं बोलते इस समर्पण, विश्वास के बल पर उसे विद्या सिन्धु हो गयी जबकि उसका मंत्र भी अशुद्ध था वह एक चोर था। इसीलिए कहा भगवान् की भक्ति सेठ जैसी नहीं बल्कि उस चोर जैसी होनी चाहिए। शाश्वत धाम की प्राप्ति हेतु कामना रहित विनम्रता से किया गया प्रणाम ही पापरूपी मैल को साफ करने के लिए स्वच्छ जल के समान है।

एकापि समर्थं जिन भक्ति दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

एकमात्र जिनेन्द्र की भक्ति ही उसको नरक तिर्यन्च रूप अशुभ गतियों से बचाने के लिए, तीर्थकर, चक्रवर्ती जैसे महापुण्यों को पूर्ण करने तथा मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में पर्याप्त है। फिर क्या जो अष्ट द्रव्य के साथ भक्ति पूर्वक श्रद्धा सहित भगवान् का स्मरण करे क्या उसके कर्म नष्ट नहीं होंगे? भगवान् के दर्शन की महिमा का गुणगान करते हुए रविषेणाचार्य आदि ने लिखा है कि—

जब चिन्तों तब सहसफल लक्खा गमन करेय।

कोडाकोडी अनंत फल जब जिनवर दरशेय॥

अर्थात् देव दर्शन का मात्र मन में विचार करने से दो उपवास का, तैयारी करने से तीन उपवास का, आरम्भ करने से चार उपवास का, घर से दर्शन हेतु निकलने से पाँच उपवास का, कुछ दूर पहुँचने पर पन्द्रह उपवास का, मंदिर व घर के मध्य पहुँचने पर तीस उपवास का, मंदिर के दर्शन से छःह माह के उपवास का, मंदिर के द्वार पर प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का, वेदी की तीन प्रदक्षिणा देने पर हजार उपवास का, जिन भगवान् का मुखावलोकन करके भक्ति करने से करोड़ उपवास का फल मिलता है। पूरी जिन्दगी इतने उपवास कर भी नहीं सकते लेकिन एक बार के दर्शन मात्र से इतने उपवासों का फल मिलता है। सच ही है हजारों वर्षों के अंधकार को दूर करने के लिए एक दीपक ही काफी है। हजारों वर्षों की कर्म कल्पसता को दूर करने के लिए जिन भगवान् का दर्शन ही काफी है। करोड़ों उपवासों के पुण्य की प्राप्ति सामान्य भावों से दर्शन करने से नहीं होती अपितु श्रद्धा, समर्पण की भावना से, वीतरागता की प्राप्ति की भावना से किया गया जिनेन्द्र दर्शन ही तीव्र पुण्य बंध कराने में कारण है।

धर्म के नाम पर गौतम गणधर पहले पशुबलि— नरबलि तक करता था, घोर मिथ्यादृष्टि था लेकिन समवशरण के देखते ही सम्यक्दृष्टि हो गया। अंतर्मुहूर्त बाद भगवान् के श्रीचरणों में पहुँचते ही मुनि बन गये, गणधर बनकर क्षायिक सम्यादृष्टि ६४ ऋद्धियों के स्वामी बन गये। ऐसा कैसे हो गया? हमारे आत्म तत्व अणुबम के समान हैं। अणुबम का विस्फोट होने पर बलशाली-शक्तिशाली चोट प्रवाहित होती है जबकि अणुबम कितना छोटा होता है। इसीप्रकार भगवान् का दर्शन देखने में सामान्य लगता है लेकिन उसका फल अपार है। परमात्मा के समीप जाने के लिए कैसे भाव होने चाहिए

सुश्रद्धा मम् ते मते सृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,
हस्तांवंजलये कथा श्रुतिरतः कर्णोऽक्षिं सम्प्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनति परं सेवेदृशी येन मे,
तेजस्यी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजः पते॥

हे जिनेन्द्र! हे तेजपुंज के अधिपति! आपकी श्रद्धा में डूबा रहूँ, तेरी अर्चना मात्र याद रहे, शेष सभी बातें मैं भूल जाऊँ मेरे हाथ अंजलिबन्ध होकर तुम्हारे समक्ष मेरी अकिञ्चन भक्ति का नैवेद्य लिये रहे, कानों में आपकी पवित्र कथा सुनायी देती रहे, आँखें अनिमेष वृत्ति से तुम्हारे ही दर्शन का लाभ लेती हुई इन्द्र के सहस्रलोचन निरीक्षण को मंद कर दे। हे देव! मुझे कोई व्यसन न हो और अगर कोई व्यसन हो तो मुझे आपकी स्तुतिकरने का व्यसन रहे। यह मरतक आपकी गुरु भार श्रद्धा से निरन्तर भक्ति परायण रहे पूजा के नारिकेल सम तुम्हारे चरणमूल में रखा रहे, मैं आपकी कृपा प्रसाद से प्राप्त इस अमृत जीवन को जीकर तेजस्यी सुजन पुण्यवान रहूँ।

तवपादौ मम् हृदये, मम् हृदयं तव पदद्वये तीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्यावन्निर्वाण संप्राप्तिः॥

हे भगवान्! मुझे जबतक निर्वाण पद की प्राप्ति हो तब तक आपके दोनों चरण कमल मेरे हृदय में स्थित हो, तथा मेरा हृदय भी आपके चरण कमलों में समर्पित रहे। ऐसे ही हृदय वालों के हृदयमें भगवान् आते हैं।

भक्ति से मुक्ति है। मुक्ति तथा भुक्ति के लिए जिन चरणारविन्द का भ्रमर होना अनिवार्य है। भगवान् जिनेन्द्र देवने तो अपने समस्त दोषों को शांत कर दिया है इसीलिए उन्हें आत्मशान्ति प्राप्त है। सिद्ध है कि जिसे जो वस्तु प्राप्त है उसमें से वह दूसरों को भी बाँट सकता है। भगवान् निकम्मे बने हुए हैं उनके लिए कोई काम करना शेष नहीं है इसीलिए चिंतामुक्त होकर शांतभाव से हाथ पर हाथ रखे बैठे हैं इसीलिए हम भी उनका अनुसरण करके उनसे निकम्मे बनने की कोशिश कर रहे हैं क्योंकि जो जैसी संगति में रहेगा वह वैसा ही तो बनेगा। जिनेन्द्र भगवान् में वे अनंत दिव्य, अलौकिक गुण हैं कि अन्य देवी देवता में वे गुण पास होकर भी नहीं निकले हैं। इसीलिए उस गुणों के स्वरण मात्र से ही कर्मरूपी बड़े-बड़े शक्तिशाली पहाड़ चूर-चूर हो जाते हैं।

भक्त और भगवान् में, जीव और जिनेन्द्र में, Dog और God में ज्यादा अंतर नहीं है। परमात्मा पहले व्यक्ति था, साधना के मार्ग पर चलकर वह स्वयं शक्ति बन गया। उस शक्ति को समझने के लिए प्रतिमा बनायी जाती है। प्रतिमा केवल अस्तित्व की बाह्य रेखा है। प्रतिमा परिविष्ट है केन्द्र नहीं है। परमात्मा का कोई नाम या आकार नहीं मात्र जानने समझने के लिए आकार रूप में प्रतिमा बनायी गई है। ईशारे को पकड़ने वाला ईश्वर नहीं बनता, बल्कि ईशारे को समझकर उस दिशा की ओर बढ़नेवाला ही परमात्मा बन पाता है। सामान्य मनुष्य के अंदर भक्ति की भावना जागृत होती है तो वह परमात्मा के अभाव को दूर करने के लिए पाषाण में उपचार से परमात्मा का आरोपण कर लेता है। साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की अत्यन्त आवश्यकता होती है। लेकिन साधन को साधन के रूप में ही स्वीकार किया जाये अन्यथा साधन परमात्मा बनने में बाधक भी हो सकता है। भगवान् की नग्न प्रतिमा हमें शिक्षा देती है कि तुम भी ऐसे ही निर्दोष हो जाओ जैसे मैं हूँ। जैसे बालक निर्विकार नंगा रहता है उसके मन में स्त्री पुरुष का भेद नहीं रहता, न ही स्वयं को छुपाने का भाव होता है क्योंकि छिपाने का भाव छल कपट है, वासना है, अहंकार है, सदोषता है। जब व्यक्ति बालक की भाँति नग्न निर्दोष निर्विकार हो जायेगा उस दिन वह स्वयं परमात्मा हो जाएगा।

शास्त्र को पढ़ने व समझने के लिए विद्या अध्ययन आवश्यक है लेकिन परमात्मा के दर्शन के लिए श्रद्धालु भक्त बनना आवश्यक है। भीतर की श्रद्धा परमात्मा के अमृत द्वारा को खोल देती है। संसार में श्रद्धा के वशीभूत होकर ही मनुष्य परमात्मा का मंदिर बनाता है और उत्साहपूर्वक परमात्मा की प्रतिमा स्थापित कर उसकी भक्ति आराधना करता है। श्रद्धालु की आँख परमात्मा के सही रूप का ही अवलोकन करती है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों को पाकर कमल विकास को प्राप्त हो जाता है, खिल जाता है उसी प्रकार प्रतिमा के दर्शन पाकर भक्त का मन भी प्रसन्नचित हो जाता है।

जिन प्रतिमा स्वयं को निहारने का दिव्य दर्पण है। जिन दर्शन ही निज दर्शन है। क्योंकि द्रव्य दृष्टि से, गुण दृष्टि से हमारे में और भगवान् में अंतर नहीं है केवल पर्याय दृष्टि से अंतर है। जिस प्रकार कि बीज और विकसित वृक्ष में अंतर है हालांकि बीज की पर्याय ही वृक्ष है। इसीप्रकार हमारे स्वरूप, दोषों के कारण एवं भगवान् के वे पाप दोष होने के कारण दोनों में अंतर हैं। जब सोऽहंस्य

विकल्प भी हट जाता है, तब अहंरूप अविनाशी, अविकारी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह ही भक्ति का उत्कृष्ट फल है।

दासोऽहं रट्ता प्रभो! आया जब तुम पास।
 ‘द’ दर्शत हट गयो, सोऽहं रहो प्रकाश॥
 सोऽहं सोऽहं ध्यावतो रह न सको सकार।
 दीप ‘अहं’ मय हो गयो अविनाशी अविकार॥

जब भक्त भगवान् के पास आता है तब वह स्वयं को दास (पूजक) एवं भगवान् को प्रभु (पूज्य) मानता है। जब भगवान् का दर्शन करके भगवान् का स्वरूप एवं स्वरूप का तुलनात्मक विश्लेषण करता है तब वह पूज्य के गुणों का अनुकरण करके आध्यात्मिक साधना करता है तो उस साधना के फलस्वरूप निर्विकल्प अवश्य को प्राप्त करता है। भक्ति से ही भगवान् बना जा सकता है। लेकिन जो कहते हैं ‘भक्त नहीं भगवान् बनेगे’ वह तो ऐसे हैं जैसे कि बिना शिष्य के गुरु बनना, बीज के बिना वृक्ष, बिना बालक के प्रौढ़, बिना सीढ़ी के छत पर जाना। कोई भी अरहन्त सिद्ध बिना भक्त बने, बिना भक्ति किये, बिना गुरु के उपदेश सुने, सम्यक् दृष्टि बने क्या? सिद्ध बने क्या? भक्ति का अवलंबन लेना ही पड़ेगा। अशुभोपयोग से शुभोपयोग में, शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में प्रवेश किया जाता है। पुण्य को हेय बताते हैं विष्णा बताते हैं। जबकि ‘पुण्यफला अरहंता’ क्या अरहन्त हेय हो गये विष्णा स्वरूप हो गये?

भक्ति कर्म निर्जरा का कारण है, मोक्ष पथ की ओर बढ़ते हुए कदम हैं, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह रूप पाँच पापों का प्रायश्चित्त है। आत्मज्ञान को प्रक्षालित करने का पवित्र नीर है, भगवान् के चरणों में पहुँचने का अनुमति पत्र है अतः इस दुर्लभ मनुष्यभव में जिसे जिनेन्द्र भक्ति मिली उसे कुछ अन्य प्राप्त करने के लिए शेष नहीं रहा। उसने दान का फल पा लिया, उग्र तपश्चर्या कर ली। भक्ति से निश्चित ही परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसीलिए श्रद्धा, समर्पण, आरथा विश्वास के साथ हमें भक्ति करनी चाहिए।



आचार्य भक्ति

स्वर्य के आचरण से दूसरों को आचरित
करते हैं- आचार्य परमेष्ठी

धर्मसभा को संबोधित करते हुए आचार्य रत्न श्री कनकनंदीजी गुरुदेव ने आचार्य भक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालते हुए बताया कि जिस प्रकार प्रजा का स्वामी संसार में राजा होता है उसी तरह मुनिसंघ के नायक आचार्य होते हैं। उन आचार्यों का स्वरूप क्या है?

आयारं पंचविंहं चरिदं चरावेदि जो णिरदिचारं।
 उवदिसदि य आयारं एसो आयारं णाम॥

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं, दूसरे साधुओं से आचरण करवाते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं॥

“आचरन्ति तस्माद् ब्रतानीत्याचार्या:” अर्थात् जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाते हैं।

प्रवचन रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के पूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गयी, जो निर्दोष रीति से छः ह आवश्यकों का पालन करते हैं, देश, कुल जाति से शुद्ध है, सौम्यमूर्ति है अन्तरंग, बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, जो मेरु पर्वत के समान निष्कंप हैं, शूरवीर है, जो शेर के समान निर्भीक हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

अर्हत् भक्ति के बाद सिद्ध भक्ति को क्यों नहीं लिया जबकि आचार्य से बहुत ही महान् होते हैं सिद्ध परमेष्ठी। आचार्यों के अभी एक भी कर्म नाश को प्राप्त नहीं हुए इसी संसार में हैं संज्वलन कषाय से भी सहित 6-7 गुणस्थानवर्ती हैं फिर भी अरहन्त के बाद 16 कारण भावनाओं में आचार्य भक्ति को लिया क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्व दिया जाता है। अन्य मतावलम्बियों की अपेक्षा जैन साहित्य में भी गुरु को भगवान् से बढ़कर माना है।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय।
 बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो वताय॥
 गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।
 गुरु साक्षाद् परम ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

इस प्रकार जो ज्ञान में, विवेक में, शिक्षा-दीक्षा में, क्षमा में दक्षता आदि गुणों में भारी हो, ज्येष्ठ हो, त्रेष्ठ हो वही सद्गुरु है। अज्ञानरूपी अंधकार से बन्द ज्ञानरूपी घन्द्र को वे ज्ञान काजलरूपी शलाई से खोलते हैं जबकि सिद्ध भगवान् तो सिद्ध शिला पर विराजमान हैं उन्हें डूबते-उबरते संसारी प्राणियों से कुछ भी लेन-देन, रग द्वेष नहीं है। इसीलिए गुरु को तरण-तारण कहा। गुरु स्वयं तो सत्यथ पर चलते ही हैं, दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाले का काम अधिक कठिन / महत्वपूर्ण है। रास्ता दूसरों को तारता है इसीलिए तारण कहलाता है, इसी प्रकार पुल भी लाखों व्यक्तियों को पार कराता है लेकिन स्वयं वही खड़ा रहता है इसीलिए इनका महत्व नहीं। लेकिन आचार्य स्वयं भी तरते हैं दूसरें शिष्यों को भी तारते हैं इसीलिए गुरु का महत्व शब्दातित है। आचार्य नौका के समान तैरते हैं जो स्वयं नदी के उस पार जाती है, अपने साथ अन्यों को भी पार ज्ञारती है।

आचार्य परमेष्ठी 12 प्रकार के तपों से युक्त, पट् आवश्यक कर्मों के कर्ता, पूर्णश्रुतज्ञान के धारक, बाईंस परिषदों के विजेता, प्रायश्चित्त सूत्र के ज्ञाता, दीक्षा-शिक्षा की विधि में पूर्ण निष्णात, दया-क्षमा के सागर, परम हितैषी, ऐसे आचार्य परमेष्ठी की भक्ति जो विनय, श्रद्धा, आरथा विश्वास, समर्पण के साथ करता है, अष्टद्रव्य से पूजा करता है, नवधा भक्ति से आहार देता है वह महान पुण्य का संचय करता है। इनकी भक्ति, सेवा निकट भव्य जीवों को ही प्राप्त होती है।

आचार्य परमेष्ठी अनेक गुणों से विभूषित होते हैं। 36 मूलगुणों के धारक एवं 8 विशेष गुणों के पालक एवं अन्य गुणों से परिपूर्ण होते हैं। आचार्य परमेष्ठी की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे स्वयं आचारवान् होते हैं एवं अन्य भव्य जीवों को धारण करवाते हैं।

आचार्य का प्रथम गुण है तत्त्व श्रद्धा जीवादि सात तत्वों का वीतराग सर्वज्ञ देव ने जैसा वर्णन किया है वह वैसा ही है ऐसी अटूट श्रद्धारूप परिणति का होना दर्शनाचार है।

स्व एवं पर तत्वों को आगम एवं अपने आत्मानुभव से जानना सो ज्ञानाचार है। हिंसादि पांच पापों का अभावरूप निष्पाप जीव की प्रवृत्ति करना चारित्राचार हैं।

परीषहादि आने पर अपनी शक्ति को न छिपाकर वीरता - धीरता पूर्वक परीषह तथा उपसर्ग को सहन करना बीर्याचार है। अन्तरंग और बहिरंग तप में प्रवृत्ति करना तपाचार है।

वर्दि संघ के आचार्य आचरणवान् न हो हीन आचरण वाले हो तो शिष्य को शुद्ध चारित्र का आचरण नहीं करवा सकते। शुद्ध आचरण के बजाय शिष्यों को हीन आचरण की ही शिक्षा देंगे जिससे शिष्य भी भ्रामक-मिथ्यात्मी बनकर गलत आचरण प्रचार-प्रसार करेंगे।

दूसरा गुण आचार्यों का आधारवान् है। आचार्य गुरुवर जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रसूपित द्वादशांग रूप श्रुत का आधार होते हैं। स्याद्वाद विद्या के पारगामी, व्याकरण, न्याय सिद्धान्त, काव्य शास्त्र के पूर्णज्ञाता, प्रमाण, नव, निक्षेप वस्तुके सत्य स्वरूप के वक्ता, सम्पूर्ण शास्त्रों के जानने में पारगामी होते हैं। यदि गुरु मंद ज्ञानी है, पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता नहीं हैं तो शिष्यों का संशय, भ्रम, एकान्तरूप हठ, मिथ्या, रूढ़िगत मान्यताओं का निराकरण नहीं कर सकते हैं जिससे जिनर्धम की प्रभावना नहीं हो सकती है और शिष्यों का भी कल्याण के स्थान पर अकल्याण हो सकता है। जिस प्रकार मकान नींव के आधार पर होता है जितनी नींव मजबूत होगी मकान उतना ही सुदृढ़ एवं अधिक समय तक ठहरेगा उसी प्रकार धर्म भी बहुश्रुतज्ञ गुरु के आधार पर ठहरता है। यदि गुरु वादी-प्रतिवादी के प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ है, नियुण है तो वही धर्म की, शिष्यों के ज्ञान की वृद्धि कर सकता है। सम्यक् ज्ञान के द्वारा जगत् का संताप दूर करने में समर्थ होता है। ऐसे पूर्ण श्रुतज्ञान के धारी, आधारवान् गुणों के धारक आचार्य परमेष्ठी ही धर्म की ध्वजा को शिष्यों को सम्यक्ज्ञानी बनाकर चारों तरफ फहरा सकते हैं।

आचार्यों का तीसरा गुण व्यवहारवान् है। इसका अर्थ है आचार्य गुरुवर प्रायश्चित्त सूत्र के ज्ञाता होते हैं। प्रायश्चित्त ग्रंथ जो आचार्य होने योग्य होते हैं उन्हीं को पढ़ाया जाता है। प्रायश्चित्त ग्रंथ हर किसी सामान्य साधु को नहीं पढ़ाया जाता। जिसमें प्रायश्चित्त देने की ऐसी योग्यता हो, प्रवीणता हो कि जो प्रायश्चित्त जिसको देवे उसके संहनन की हीनता अधिकता, छल कपट की मंदता-तीव्रता, युवा-वृद्धवस्था, बहुज्ञानी-मंदज्ञानी, पुरुषार्थी-निरुष्यमी, उत्साही-अनुत्साही रोगी-निरोगी आदि अवस्था देखकर तथा ग्रीष्म, शीत, वर्षा कालादि देखकर, बहुत काल का दीक्षित, अल्पकाल का दीक्षित देखकर आदि समस्त परिस्थितियों का परिज्ञान करके ऐसा प्रायश्चित्त देते हैं कि जिससे दोष का अभाव, परिणामों की उज्ज्वलता, व्रत-तपों में दृढ़ता हो, शिष्यों का कल्याण हो, धर्म की वृद्धि हो इस योग्यता का नाम ही व्यवहारवान् है। आचार्य में इन योग्य गुणों की आवश्यकता होती है। यदि

बिना सोचे समझे चाहे जैसा प्राचीश्चत्तदे दिया जावे और शिष्य उसका निर्वाह न कर सके तो धर्म मार्ग बिंगड़ता है। इसीलिए आचार्य का व्यवहारकुशल होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस देश में धर्म का निर्वाह न हो सके उस क्षेत्र में संघ नहीं ले जाते, जहाँ का शासक जैन धर्म का विरोधी हो, जिस क्षेत्र में शीत, ऊण अधिक हो उस क्षेत्र में संघ को नहीं ले जाकर उचित देश, क्षेत्र में संघ सहित विहार करने की जिसमें प्रवीणता हो एवं दुर्जन, दुष्ट, दुरुचारी, पापी जीवों के उपसर्ग से संघ को बचाने वाले व्यवहारवान गुण के धारक आचार्य होते हैं।

चौथा गुण प्रकर्ता है। इसका यह अर्थ है कि जिसमें स्वयं उत्कृष्ट तप तपने की योग्यता हो, उत्कृष्ट वैय्यावृत्य करने की योग्यता हो, परम उत्कृष्ट संयम पालने की योग्यता हो, घोर उपसर्ग सहन करने की योग्यता हो वे प्रकर्ता गुण के धारी होते हैं।

पाँचवा गुण अपरिश्रावी है। इसका यह अर्थ है कि आचार्य को शिष्य अपना दोष तब कहे जब उसको यह निश्चय हो कि गुरु किसी दूसरे से नहीं कहेगा। यदि शिष्य को यह ज्ञात हो कि यह गुरु मेरे दोष को संघ में दूसरों को कह देगा तो अपयश के डर से कोई शिष्य गुरु को अपना दोष नहीं कहेगा और दोषों की संख्या में वृद्धि होती रहेगी।

छठा गुण अवपीडक है। जिस तरह सिंह को देखकर स्याल खाया हुआ भोजन उगल देता है उसी तरह आचार्य गुरुवर को देखकर शिष्य अपने दोष उगल देते हैं। यदि शिष्य नहीं भी कहे तो फिर कड़े वचन कहकर दोष को कहला लेते हैं। निष्कर्ष के रूप में यही कहेंगे कि शिष्य के दोष की सही—सही कहलावाने की योग्यता आचार्य की ही होती है। इन गुणों के अलावा ध्वला ग्रंथ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने अन्य गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है।

सिंह गज वृषभ मृग पशु, मारुत सूयोदधि मन्दरेन्दु मणयः।

क्षिति उरगाम्बर सदृशा परमपदं विमार्गका साधवः॥

आचार्य सिंह के समान निर्भयी, धीरवीर धैर्यवान होने चाहिए। धर्म के ऊपर आपति-विपत्ति, संघ के ऊपर संकट हो उस समय किसी से नहीं डरते बल्कि दृढ़तापूर्वक सामना करते हैं। लेकिन हिसक नहीं होते। गज के समान बलवान होते हैं। बड़े-बड़े आतापन, अभ्रावकाश आदि तप करते हैं। वृषभ के समान भद्र होते हैं; प्रत्येक प्राणी के साथ सद्व्यवहार करते हैं। मृग के समान सरल सीधे,

जिस प्रकार मृग किसी का बिगड़ नहीं करता यहाँ तक कि खाने वाली धास को भी ऊपर-ऊपर से ही खाता है उसी प्रकार साधु दूसरों को किसी प्रकार की पीड़ा न हो जाये इस प्रकार मन, वचन काय को सरल मृदु-क्रजु रखते हैं। हवा के समान निसंग, सभी स्थानों पर बिना रोक-टोक के विहार करते हैं किसी की आज्ञा के वश में नहीं चलते, अपना एवं पर का हित-अहित देखते हुए स्वाभिमान पूर्वक विहार करते हैं। सूर्य के समान तेजवान, दैटीप्यमान परंतु भौंदू कायर नहीं होते अपने ज्ञान, चारित्र, संयम-तप त्याग से सूर्य की तरह ज्योर्तिमान होते हैं। उद्धिक के समान गम्भीर जिस प्रकार उद्धिक में अनेक रल होते हैं इसीलिए उद्धिक का दूसरा नाम रलाकर है इसी प्रकार साधु के अंदर अनेकों गुणों का भंडार होता है। क्षमा, दया, करुणा, वात्सल्यता, सहिष्णुता, संवेदना, वीरता-धीरता आदि अनेकों गुण होते हैं। सम्यक्कृदर्शन, संवेदना, वीरता-धीरता आदि अनेकों गुण होते हैं। सम्यक्कृदर्शन, सम्यक्क्वारित्र ऐसे रल हैं कि इसके सामने भौतिक रल की कुछ भी कीमत नहीं। भारत में एक कोहीनूर रल था उस रल के कारण अनेकों राजा-महाराजाओं में युद्ध हुये अनेकों लोग मारे गये। उस काँचके पीछे ये रलत्रय रूपी ऐसे रल हैं कि इन रलों के होने पर प्राणी संसार के अनेकों दुःखों से छूटकर अनंत सुख को प्राप्त कर लेता है।

चन्द्रमा के समान शीतल-साधु को अगर कोई गाली दे या मारपीट भी करे तब भी शीतल शांत रहते हैं। उसके विपरीत अभद्र, क्रोध जनक प्रक्रिया नहीं करते।

संस्कृत के कवि भवभूति ने 'उत्तर रामचरित'में कहा है—

वज्रादपिकटोराणि मृदुनि कुसुमादपि।

लोकोत्तराणि चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

साधु वज्र के समान कठोर होते हैं, चारित्र में बड़े कठोर होते हैं परन्तु दूसरों को कष्ट नहीं देते, दूसरों के लिए वे मृदु कमल के समान कोमल होते हैं। दूसरों के दुःखों में दुःखी हो जाते हैं। उनका ध्यान रहता है कि उनके मन-वचन-काय के द्वारा एकेन्द्रिय प्राणी को भी पीड़ा ना हो। मणि के समान प्रकाशमान दैटीप्यमान—जैसे मणि चाहे कीचड़ में पड़ा रहे फिर भी उसमें जंग नहीं लगता। इसीप्रकार साधु 'जल से भिन्न कमल' की तरह रहते हैं। द्रेषी-रागियों के बीच रहते हुए भी मध्यरथ रहते हैं। धरती के समान सहनशील, सर्प के समान निश्चित घर बनाने

वाले नहीं एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करते हैं। अगर विहार नहीं करेंगे तो एक जगह रहने से वहाँ के गृहरथों के प्रति, घर, मोहल्ला धर्मशाला आदि के प्रति राग-द्वेष होगा। इसीलिए साधु को 'बहता पानी रमता जोगी' की उपमा ही है। जिस प्रकार पानी एक जगह रुका रहे आगे नहीं बहे तो एक जगह रहने से सङ्ग जाता है उसीप्रकार साधु एक जगह अधिक दिन रुकने से उसमें विकास की संभावनायें विकसित नहीं हो पाती हैं। चातुर्मास आदि के अवसर पर भले ही वे चार महीने एक स्थान पर रहते हैं परन्तु वहाँ भी घर नहीं बनाते, भक्तों में लिप्त नहीं होते, उनमें आसक्त नहीं होते क्योंकि आसक्ति बहुत बड़ा बंधन है। एक आदमी बछड़े को लिए जा रहा था। उस बछड़े के पीछे उसकी माँ (गाय) चली आ रही थी। शिष्यने गुरु से पूछा—गाय बँधी है या खुली? गुरुने कहा—गाय बँधी है, बछड़े के प्रेमवाश में, मोहपाश में तभी तो किसी बाह्य बंधन के न होते हुए भी वह पीछे-पीछे चली आ रही है। मोह का बंधन सभी बंधनों से बड़ा मजबूत शक्तिशाली बंधन है। साधु पक्षी के समान स्वतंत्र होते हैं। साधु किसी के आधीन नहीं होते। वे भक्ति करने वाले को आशीर्वाद दे और शरव मारने वाले को श्राप दे ऐसा नहीं करते। वह तो सभी को समान भाव से आशीर्वाद देते हैं। काँटा हो या फूल, शत्रु हो या मित्र, शमशान हो या महल सभी के बीच समता परिणाम रखते हैं। इसीलिए तो इन्हें श्रमण कहते हैं। गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि शत्रु-मित्र में जो साम्य भाव रखता है वह मेरा प्रिय है। अम्बर जैसे व्यापक निष्कलंक होता है। आकाश के उदर में सब समा जाते हैं वैसे ही साधु के हृदय में सम्पूर्ण विश्व कुटुम्ब के समान समा जाता है।

अयं निजः परो वेति भावना लघुचेतसाम्।

उदार पुरुषाणां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

ना किसी से बैर ना किसी से मैत्री ऐसे ही लोग मोक्ष मार्ग के लिए आत्मसाधना में लीन होकर अपने लक्ष्य को पाने में कामयाब होते हैं।

भारत में जितने भी आविष्कार हुए वे सब साधुओं के द्वारा ही हुए हैं भले ही वह जैन परम्परा के न हों वैदिक हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई सभी धर्म संप्रदायों में महान् आत्मायें तो हुई हैं और उन्होंने हर क्षेत्र में आध्यात्मिक नैतिक, चारित्रिक, बौद्धिक हर प्रकार का विकास किया। ब्रात्मभट्ट, पतंजलि, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, जैमिनि, विवेकानंद, सुभाषचंद्र बोस, वीर सावरकर, महात्मा गांधी,

श्रीराम शर्मा आदि साधुके रूप में ही थे।

अगर हम साधुओं के योगदान को भूल जायेंगे तो पतन के गढ़े में चले जायेंगे। भारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही रहा कि गुरुओं ने हमें धर्म का उपदेश दिया लेकिन हमने उसे आत्मसात् नहीं किया। ज्ञान-विज्ञान का देश भारत आज जीरो हो रहा है जबकि उस ज्ञान-विज्ञान का लाभ अन्य देश लेकर हीरो हो रहे हैं। हमारे यहाँ ज्ञानवान् का विनय, आदर सत्कार नहीं होता। जो गद्दार, छलकपटी, धृत, व्यसनी, ढोंगी होते हैं उनका आदर-बहुमान होता है। इसीलिए भारतवासियों का विनाश दिन-प्रतिदिन तीव्रगति के साथ हो रहा है। इस विनाश को रोकने के हेतु सर्वप्रथम गुरुओं की पहिचान करें कि जो गुरु है वह स्वयं आचरणवान् विवेकवान्, क्रियावान् आदि गुणों से युक्त है या नहीं। क्योंकि आज वर्तमान रिति शिष्यों की अपेक्षा गुरुओं की ज्यादा खराब है। रक्कूल-कॉलेजों में पढ़ाई नहीं है, पढ़ाई में भी गलत, भ्रामक पढ़ाते हैं जो सही लिखता है उसे गलत करते हैं। शिक्षा केवल पेट-प्रजनन, पेटी का केन्द्र हो गयी है—कहाँ तक विनाश की क्रियाओं का वर्णन करें!

14

बहुश्रुतभवित

प्रज्ञापूर्ज के अनूठे साधक - उपाध्याय परमेष्ठी

धर्मसभा को संबोधित करते हुए आचार्यश्री ने बहुश्रुत भक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालते हुए बताया कि बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी से है। उपाध्याय शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है। उप + अधि + आय अर्थात् उप = निकट, पास, समीप। अधि = बहुत समीप सन्निकट। आय = आना अर्थात् जिनके जीवन का संबंध अपने शुद्ध गुण, पर्याय से है जो अपने शुद्ध, गुण, पर्याय के साथ अपना जीवन चला रहे हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं।

आचार्य कुंद-कुंद ख्यामी ने उपाध्याय के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया है:-

रथणत्तय संजुत्ता जिणकहियपयत्थेसया सूरा।

णिक्कंखभाव सहिया उवज्ञाया एरिसा होंति॥

(नियमसार)

रत्नवय से संयुक्त, जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और निःकांकाभाव से सहित ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। उपाध्याय शब्द की उत्पत्ति अर्थ शब्दकोश के अनुसार इस प्रकार है – उपाध्याय : उपेत्य अर्धीयते उपसात्। उप उपसर्ग यानी सर्वीप, अध्येति यानि प्राप्त होता है अर्थात् जो अपनी आत्मा को प्राप्त होता है उसे ही उपाध्याय कहते हैं। जो सम्यकर्दशन, सम्यकज्ञान, सम्यक्चारित्र से संयुक्त हो, जिनेन्द्रियेव द्वारा कहे हुए चतुर्दश विद्यास्थानों के व्याख्यान करने वाले, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, षट्ट्रव्य, पंचारितकाय, छःह लेश्याओं के शूरवीर अर्थात् निर्भीकता से व्याख्यान करने वाले हों, तत्वों के व्याख्याता हों, कांक्षाभाव से रहित हों, सांसारिक पदार्थों में तनिक भी इच्छा न रखते हों ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

अलग-अलग आचार्यों ने अलग-अलग शब्दों में उपाध्याय परमेष्ठी की व्याख्यायें, परिभाषायें लिखी हैं।

जो रमणतयजुत्तोषिण्चं धर्मोवएसणेणिरदो
स उवज्ञाओ अप्पा जदिवरसहो णमो तस्स॥

जो रत्नवय सहित और हमेशा धर्मोपदेश देने में लवलीन हैं वह मुनीश्वरों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय परमेष्ठी हैं। ज्ञान, ध्यान, अध्ययन में निरन्तर लीन रहनेवाले मुनि उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

मूलाचार ग्रन्थ की ५११ वीं गाथा में कहा है कि –

वारसांग जिणक्खादं सज्जायं कथितं बुधे।
उवदेसइ सज्जायं तेणूवज्जाया उच्चदि॥
चोदसपुव्य महोपहिमहिगम्मशिवत्थिओ सिवत्थीण।
सीलं धरणं वत्ता होइ मुणीसो उवज्ञाओ॥३२॥

(ध्वला ८१/८१/३२/४०)

अर्थात् जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में रिथत हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनिवरों को उपाध्याय कहते हैं।

विनयेनोपेत्य यस्माद् ब्रतशील भावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते इत्युपाध्यायः॥

(राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि)

जिन ब्रतशील भावनाशाली महानुभाव के पास जाकर भव्य जन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं।

उपाध्याय शंका समाधान करनेवाले, सुवक्ता, वामव्रत्म, सर्वद्वा अर्थात् सिद्धान्त शास्त्र और यावत् आगमों का पारगामी, वार्तिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थके द्वारा सिद्ध करने वाला होने से कवि, अर्थ में मधुरता का व्योतक तथा वक्तृत्व के मार्ग का अग्रणी होता है। उपाध्यायपने में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है। क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही गुरु उपाध्याय है। उपाध्याय में ब्रतादि के पालन करने की शेष सर्व विधि मुनियों के समान है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में आचार्यकल्प पंडित टोडरमल जी कहते हैं कि –

जो बहुत से जैनशास्त्रों के ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं तथा जिसकी समता शास्त्रों का सार आत्मद्रव्य में एकाग्रता है, अधिकतर तो उसी में लीन रहते हैं, कभी-कभी कषायांश के उदय से यदि उपवोग वहाँ रिथर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं वे उपाध्याय हैं। ये मुख्यतः द्वादशांग के पाठी होते हैं।

आचार सूत्रकृतं, स्थानं समवायनामधेयं च।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने॥
वन्देऽन्तकदशमनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम्।
प्रश्नव्याकरणं हि, विपाकसूत्रं च विनमामि॥
परिकर्मं च सूत्रं च, स्तौमि प्रथमानुयोग पूर्वगते।
सार्वचूलिकयापि च, पञ्चविधं दृष्टिवादं च॥
पूर्वगतं तु चतुर्दश, धोदितमुत्पाद पूर्वमाध्यमहम्।
आग्रायणीयमीडे, पुरुषीर्यानुप्रवादं च॥
कर्मप्रवाद मीडेऽथ प्रव्याख्यान - नामधेयं च।
दशमं विद्यधारं पृथुविद्यानुप्रवादं च॥
कल्याण - नामधेयं, प्राणवायं क्रियाविशाल च।
अथ लोक विन्दुसारं वन्दे लोकाग्रसारपदम्॥

(श्रुतभक्ति)

(१) आचारांग – यह श्रुतज्ञान का पहला अंग है तथा इसमें आचार धर्म

का निरूपण किया गया है। इसमें मुनिचर्या का वर्णन है तथा गुप्ति, समिति, शुद्धियों आदि का वर्णन है।

- (2) **सूत्रकृतांग** – ज्ञानविनय, ऐदोपरथापना व्यवहार धर्म की क्रिया का इसमें वर्णन है।
- (3) **स्थानांग** – इसमें अनेक स्थानों में रहनेवाले पदार्थों का वर्णन है।
- (4) **समवायांग** – इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों का समवाय बताया जाता है यथा – धर्म, अर्थम्, लोक, एक जीव इनके समान प्रदेश हैं। जंबूद्वीप, सर्वार्थ सिंहि, अप्रतिष्ठान नरक, नन्दीश्वर द्वीप की बावड़ियाँ इन में क्षेत्र समान हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका काल समान है। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन यथाव्यात् चारित्र के भाव समान है।
- (5) **व्याख्याप्रज्ञप्ति** – इस में साठ हजार व्याकरण पद तथा अस्तिनास्तिरूप कथन का वर्णन है।
- (6) **ज्ञात्र कथांग** – इसमें अनेक प्रकार की कथाओं का वर्णन किया गया है।
- (7) **उपासकाध्ययनांग** – यह श्रावकों की क्रिया ब्रतादि का वर्णन करता है।
- (8) **अंतःकृद्धशांग** – प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थ में 10–10 मुनि घोर उपसर्ग सहनकर मोक्ष पधारे उनका वर्णन करता है।
- (9) **अनुत्तरोपपादिकदशांग** – प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थ में 10–10 मुनि घोर उपसर्ग सहनकर विज्यादिक विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन करता है।
- (10) **प्रश्न व्याकरणांग** – आक्षेप, विक्षेप, हेतु, नय इनके आश्रित उत्पन्न होने वाले प्रश्नों का व्याकरण बताया गया है।
- (11) **विपाकसूत्रांग** – इसमें पुण्य पाप का उदय बतलाया गया है।
- (12) **टृष्णिवादांग** – यह अनेक मत – मतान्तरों तथा ३६३ मिथ्यामतों का वर्णन करता है। इसके ५ भेद हैं। उनमें भी पूर्वगत के १४ भेद हैं जो निम्न प्रकार हैं :-

 - (1) **उत्पाद पूर्व** – इस में काल, पुद्गलादि, जीवादि द्रव्यों की पर्यायों का वर्णन है।
 - (2) **अग्रायणी पूर्व** – क्रियावादियों की प्रक्रिया का इसमें वर्णन है।

- (3) **वीर्यप्रवाद** – छद्मस्थकेवली, इन्द्रप्रतीन्द्रादि के बल का वर्णन इस पूर्व में है।
- (4) **अस्तिनास्तिप्रवाद** – इसमें समस्त पदार्थों का अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक अंगों का वर्णन है।
- (5) **ज्ञान प्रवाद** – ज्ञान-अज्ञान के विषयों का वर्णन करता है।
- (6) **सत्यप्रवाद** – अनेक भाषाओं तथा 10 प्रकार के सत्यों का वर्णन इसमें है।
- (7) **आत्मप्रवाद** – इसमें आत्मा के अस्तित्व नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व का वर्णन है।
- (8) **कर्मप्रवाद** – इसमें कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि का वर्णन है।
- (9) **प्रत्याख्यान** – ब्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, जप आदि की विराधना – आराधना शुद्धि का वर्णन करता है।
- (10) **विद्यानुवाद** – समस्त विद्या, महानिमित्त विद्या आदि का वर्णन करता है।
- (11) **कल्याणवाद** – इसमें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र आदि की गतियों का वर्णन है।
- (12) **प्राणानुवाद** – इसमें अनेक औषधियों का वर्णन है।
- (13) **क्रियाविशाल** – इसमें पुरुषों की 72 कला और स्त्रियों की 64 कलाओं का वर्णन है।
- (14) **लोकविन्दुसार** – इसमें आठ प्रकार के व्यवहार, चार प्रकार के बीज आदि का वर्णन है।

उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप में प्रमुखतया उपाध्याय का कार्य अपने संघ के साधुओं को पठन-पाठन कराना व उनके विद्यमान अज्ञान तिमिर को दूर करना है। जैसा कि शब्दकोष में भी निरूपित किया है कि उपाध्याय का कार्य वेदांगों का अध्यापन करना है। इसी प्रकार जिनमत में भी द्वादशांग जिनवाणी का अध्ययन – अध्यापन मुख्य कार्य है। उपाध्याय परमेष्ठी में आचार्य एवं सर्व साधु के सम्पूर्ण मूलगुणों की गरिमा विद्यमान है। ज्ञान को स्वतन्त्र से स्वच्छन्दता की ओर नहीं जाने दिया बल्कि उस पर भी सम्यग्चारित्र का नियन्त्रण रखा जाये। अर्थात् जिसके पाँच इन्द्रिय रूपी चञ्चल घोड़े वश में नहीं हैं उसके सारे ब्रत, जप, तप, संयम व्यर्थ चले जाते हैं। जिस प्रकार हाथी स्नान करने के बाद अपने ऊपर पुनः धूल डाल लेता है उसी प्रकार विषयासक्त चित्त वाले मनुष्य के सभी कार्य व्यर्थ हैं। जैसा कि कहा है – “विषयाशक्त चित्तानां

गुणः को वा न नश्यति ॥

जिस प्रकार विध्वा स्त्री को आभृत्युपण पहनना शोभा नहीं देते उसी प्रकार सम्यग्चारित्र रूप क्रिया के बिना ज्ञान भार स्वरूप है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ में मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए कहा है— “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र तीनों मिलकर के मोक्ष के मार्ग हैं। ज्ञान के साथ चारित्र सोने में सुहागे का काम करता है। अतः ज्ञान बिना क्रिया और क्रिया बिना ज्ञान दोनों ही अपूर्ण हैं एवं कार्यकारी नहीं हैं।

जिस प्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार उक्त मूलगुणों के अभाव में परमेष्ठी पद अर्थात् परमपद में स्थित नहीं हो सकते। अतः इन्हीं गुणों की महानता के कारण अरहन्त परमेष्ठी के 46 मूलगुण, सिद्ध परमेष्ठी के 8 मूलगुण, आचार्य के 36, उपाध्याय के 25, साधु के 28 मूलगुण जिनागम में कहे गये हैं। उपाध्याय के 25 मूलगुणों में 11 अंग तथा 14 पूर्व मिलाकर 25 मूलगुण होते हैं। ‘ज्ञानं पवासणं’ नहि ज्ञानेन सदृश्यं – पवित्रमिहविद्यते ‘Knowledge is power’ विद्या विहिनं पशु, ज्ञानं अमृतमश्नुते, ज्ञानामृतम्, तमसो मा ज्योतिर्गमय, पठम् ज्ञानं तदोदया आदि उक्तियों के द्वारा ज्ञान की श्रेष्ठता / ज्येष्ठता / पवित्रता / शक्ति / उपयोगिता के बारे में प्रकाश डाला गया है। इसीलिए तो मानव सतत् ज्ञान पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। जो ज्ञानदान देता है उसे गुरु, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, परमब्रह्मा रूपी सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। ज्ञान प्राप्ति, ज्ञानदान, ज्ञान के प्रचार-प्रसार तथा उसके साधन ग्रंथ, विद्यालय, गुरुकुल, लेखनी, अक्षर वर्णमाला आदि को भी पवित्र, पूजनीय माना जाता है। चक्रवर्ती का बेटा भी सामान्य विद्यार्थी के समान गुरु की सेवादि करके विद्या अध्ययन करता है। महान् ज्ञान से युक्त गुरु इतना महान् होता है कि चक्रवर्ती का बेटा या चक्रवर्ती भी गुरु के सामने विनम्र नतमस्तक होकर सामान्य व्यक्तिके समान वेषभूषा धारणकर गुरु के पास विद्या अध्ययन करते हैं।

सामान्य रूप से ज्ञान दो प्रकार का है— (1) धार्मिक या आध्यात्मिक, (2) लौकिक। लौकिक ज्ञान से आध्यात्मिक ज्ञान का महत्व अधिक है क्योंकि लौकिक ज्ञान से तो इस लोक संवंधी एवं शारीरिक ज्ञान ही मिलता है लेकिन धार्मिक से इहलोक एवं परलोक संबंधी ज्ञान मिलता है जिससे जीव सर्वत्र सख, शांति

को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा का मुख्यतत्व है मोक्षसुख—अनंतसुख को प्राप्त करने के लिए असत्य, मलीनता, दुष्टता, कषाय को त्याग करके सत्य, न्याय, सदाचार, क्षमा, मृदुता, सरलता, सहजता, पवित्रता, दया, करुणा, परोपकार, सहिष्णुता, संवेदना आदि गुण ग्रहण करना। परंतु पुराण व इतिहास के अध्ययन से एवं प्रायोगिक अनुभव से सिद्ध होता है कि धार्मिक पढ़ाई करनेवाले उपर्युक्त सद्गुणों से विपरीत हठी, दराग्रही, पाखण्डी, ईर्ष्याल पाये जाते हैं।

लौकिक शिक्षा भी मनुष्य को शिक्षित, सुसम्भ्य, स्वावलम्बी, परोपकारी, सामाजिक समायोजक, राष्ट्रभक्त, कर्तव्यनिष्ठ स्वअधिकार के प्रति जागरुक बनाती हैं। लेकिन आधुनिक लौकिक शिक्षा में अनेकों विकृतियाँ आ गयी हैं। ज्ञानाराधना एक भव में नहीं हो जाती। तीर्थकर चक्रवर्ती जैसे महान् पुरुषों ने भी 10-12 भवों तक सम्यक् साधना करके ज्ञान को प्राप्त किया। सम्यक् साधना, सतत् साधना से ही ज्ञान की प्राप्ति हो पाती है। विश्व उसी के सामने झुकता है जो सम्यक् सतत् साधना करते हैं। महात्मा गांधी के तन पर पूरे वस्त्र भी नहीं थे; दुबला-पतला शरीर या फिर भी आज भी दुनिया झुकती है। आलसी प्रमाणी अज्ञानी मूर्ख के सामने कौन झुकेगा? झुकती है दुनियाँ झुकाने वाला चाहिए। जो केवल बड़े भाषण कर देता है लेकिन आचरण रूप में, क्रियारूप में कुछ नहीं करता उसके सामने एक बालक भी झुकने को तैयार नहीं होगा।

तीर्थकर जन्म से ही मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान के धारक होते हैं, क्षायिक सम्प्रकृष्टि होते हैं, 100 बड़े-बड़े इंद्रों से वंदित होते हैं क्या यह सब एक जन्म की साधना का फल है? नहीं। 10-15 भवों की कठोर, सतत् साधना का फल है। हमलोग बिना किये करोड़पति बनना चाहते हैं इसीलिए खाकपति बन रहे हैं। जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि देश हमारे देश से बहुत छोटे हैं लेकिन भारत हर दृष्टिकोण से उनसे पीछे हैं। जापान सबसे छोटा देश लेकिन विकास में सबसे अग्रणी। विश्वबाजार में उसकी तुलना कोई नहीं कर सकता। भारत के दुर्भाग्य का यही कारण है कि हम महापुरुषों के बताये हुए उपदेश के अनुसार नहीं चले। हम अच्छे आचरण, रीति रिवाज को अपनाना नहीं चाहते। अपने घर से किसी को मुनि-आर्यिका नहीं बनने देंगे अगर कोई दूसरा बनता भी है उल्टा अर्थ लगाते हैं जबकि जानते हैं कि यह धार्मिक क्रिया है, महान् कार्य है फिर भी नहीं करते न ही अनुमोदना करते। बुरे कार्यों के लिए प्रोत्साहन देंगे। हीरो-

हीरोड़न बनने की शिक्षा देगें। सीता कोई बनाना नहीं चाहता, सूर्पणनखा बनाना चाहते हैं। गुणवान् बनने के लिए विनय की महती आवश्यकता है।

'विद्याददाति विनयं विनियात् यात् पात्रताम्'

विद्या से विनय आता है, विनय से पात्रता, योग्यता आती है। अगर कोई विनय के साथ अध्ययन करता है, लेकिन ज्ञानावरणी कर्म के उदय के कारण यदि नहीं होता लेकिन फिर भी अगले भव में वह ज्ञान उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है।

**विणयेण सुदम धीदं जदिवि पमादेष होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि॥**

विनय से जो शास्त्र पढ़ा गया है, प्रमाद से यदि उसका विस्मरण भी हो जावे तो अन्य जन्म में यह सूत्र ग्रंथ उपस्थित हो जाता है, स्मरण में आ जाता है। और वह पढ़ा हुआ शास्त्र केवलज्ञान को भी प्राप्त करा देता है। एक नागश्री नामक कन्या थी। उसे पूर्व भवमें पढ़ने के बाद भी कुछ भी याद नहीं था। अगले भव में एक मुनि महाराज से उसने व्रत लिए उसके पिता को बहुत क्रोध आया और वह व्रत वापिस देने मुनिराज के पास पहुँचा। मुनिराज ने कहा— ये तुम्हारी पुत्री नहीं ये मेरी पुत्री है। यह बात सुनकर उसे और अधिक क्रोध आता है कि तुम तो दिग्गम्बर मुनि हो फिर यह कन्या आपकी कैसे? मुनिराज ने कन्या को संबोधन किया कि पिछले भव में मैंने तुम्हें जो जो पढ़ाया था उसका पाठ करो। कन्या कंठस्थ सभी सूत्रग्रंथ सुना देती है। उसके पिता को आश्चर्य होता है और वह गुरुदेव से क्षमा प्रार्थना करता है।

तोता रटन्त वाला बहुश्रुतज्ञ नहीं होता बल्कि विनय सहित कम पढ़ने वाला भी उस अविनयी-अविवेकी अधिक पढ़े से श्रेष्ठ हैं। पढ़ाने वाले, उपदेश देने वाले गुरु के अंदर कई प्रकार के गुण होने चाहिए जिससे विद्यार्थी या शिष्य गुरु की बातों से गुणों से प्रभावित हो सके।

प्राज्ञः प्राप्त समस्तशास्त्र हृदयः प्रव्यक्तलोक स्थितिः।

प्राप्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।

प्राय प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया

ब्रूयाद्वर्मकथा गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टभिष्यक्षरः॥

**श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने
परिणतिरुद्योगो मार्गं प्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा।
यतिप्रतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम्॥**

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित हो, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुके हो, लोकव्यवहार से परिचित हो, अर्थलाभ पूजा-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित हो, नवीन-नवीन कल्पना की शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यता रूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शांत हो, प्रश्न करने के पूर्व में ही वैसे प्रश्न होने की संभावना से उसके उत्तर से पहले ही परिचित हो, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाले हो अर्थात् न तो उनसे धबराते हैं न ही उत्तेजित होते हैं, श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाले हैं, श्रोताओं के मन को आकर्षित करने वाले हैं, उनके मनोगत भावों को जानने वाले हैं तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों के स्थानभूत हैं ऐसे अनेकों गुणों से युक्त उपाध्याय परमेष्ठी स्पष्ट एवं हित-मित-प्रिय शब्दों में धर्मोपदेश देने के अधिकारी हैं।

जिनके परिपूर्ण श्रुत हैं अर्थात् जो समस्त सिद्धान्तके जानकार हैं, जिनका चारित्र अथवा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण हैं, मोक्षमार्ग के प्रचार रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील हैं, जिनकी अन्य विद्वान् भी स्तुति करते हैं, उन्हें नमस्कार आदि करते हैं, जो अभिमान से रहित हैं, लोकमर्यादा के जानकार हैं, सरल परिणामी हैं, इस लोकसंबंधी इच्छा से रहित हैं तथा हेयोपदेय, विवेकज्ञान के अभिलाषी ऐसे ही शिष्यों के गुरु होते हैं।

सामान्यतः हित मित प्रिय वचन बोलने को कहा है परन्तु गुरु के लिए मित या प्रिय वचन की अनिवार्यता नहीं है। उनके लिए हित वचन की ही अनिवार्यता है। क्योंकि मार्ग भ्रष्ट शिष्य को गुरु कठोर अनुशासनात्मक वचन बोलते हैं तथापि यह वचन असत्य नहीं है, हिंसात्मक नहीं है। क्योंकि इसमें गुरु का भाव रहता है कि शिष्य कुमार्ग से हटकर सुमार्ग पर चलें। ऐसी स्थिति में गुरु के भाव अशुभ न होकर शुभ होते हैं। जो गुरु अपने शिष्यों के दोषों को छिपाता है वह गुरु नहीं बल्कि शत्रु है। एक बालक रकूल से पहले दिन पेन्सिल चुराकर ले आया उसकी माँ ने कुछ नहीं कहा। बालक को धीरे-धीरे चोरी की आदत बन गयी और आगे

15

प्रवचन भवित

प्रामाणिक-प्रकृष्ट वचन ही प्रवचन है

धर्मसभा को संबोधित करते हुए अभीक्षणज्ञानोपयोगी संत वैज्ञानिक धर्माचार्य पूज्य कनकनंदी जी गुरुदेव ने प्रवचन भवित भावना के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालते हुए कहा कि प्रवचन शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। प्र + वचन। 'प्र' यानि प्रकृष्ट, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, गणिष्ठ। वचन यानि शब्द, कथन, उपदेश, प्रवचन होता है। यह उत्कृष्ट / प्रकृष्ट वचन किसका होता है? तो आचार्यों ने कहा है— इस प्रकार का प्रकृष्ट / उत्कृष्ट / ज्येष्ठ / श्रेष्ठ वचन आप्त / भगवान् का ही होता है। उस आप्त का स्वरूप क्या है? जो समस्त विकार, विषय वासनाओं, संकीर्णताओं, कमजोरियों से रहित, अन्तरंग बहिरंग शत्रुओं से रहित हो वह आप्त हैं।

परमेष्ठी परं ज्योतिर्वीरागो विमलः कृति।

सर्वज्ञोऽनादि मध्यान्तः, सार्वः शास्त्रोपलाल्यते॥

जो परमपद में स्थित हो, केवलज्ञान ज्योति से युक्त हों, राग से रहित—वीतरागी हो, कर्ममल से रहित हो, कृत्य—कृत्य हों त्रिकालवर्ती—समस्त पदार्थों के युगपत् जानने वाले हों, आदि—मध्य—अंत से रहित हों, तीन लोक के प्राणियों का हित करने वाले हों वे सच्चे देव आप्त होते हैं।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्म भू भृताम्।

ज्ञातारं विश्व तत्वानां वन्दे तदूगुणलब्ध्ये�॥

अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता है कर्मरूपी पर्वतों के भेदने वाले हैं, विश्वतत्व के ज्ञाता है। मुझे उनके गुणों की प्राप्ति हों।

सामाजिक नेता बनने के लिए नैतिक, आध्यात्मिक, लौकिक सभी ज्ञान की आवश्यकता होती है तो विश्व नेता बनने के लिए कितना ज्ञान चाहिए? विश्व के सम्पूर्ण तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है। वह सम्पूर्ण ज्ञान तीर्थकर को ही होता है। इतना ज्ञान गणधर का भी नहीं होता। गणधर के ज्ञान को भी छढ़मस्थ बताया है। तीर्थकर का ज्ञान अनंत है, गणधर का असंख्यात। गणधर का वचन भी प्रवचन नहीं है। तो क्या गणधर फिर झूठ बोलते हैं? नहीं। लेकिन वे अनंत ज्ञेय, सत्य—तथ्यों का साक्षात् अवलोकन नहीं करते। अरहन्त का अनंतवाँ भाग

चलकर वह एक बड़ा डाकू बन गया। एक दिन उसे फाँसी की सजा मिली तो जज ने उससे अन्तिम इच्छा व्यक्त करने को कहा तो चोरने कहा — मेरी माँ को बुला दो। माँ आयी। अपने बेटे से मिली तो बेटे ने माँ की नाक काट ली। सभी दंग रह गये कि बेटे ने माँ को मिलने बुलाया और इसने नाक काट ली। तब बेटे ने कहा— जब मैं छोटा था तब से मैं चोरी करने लगा लेकिन माँ ने मेरी यह गलत आदत में सुधार नहीं किया। अगर माँ मेरा वचन से सुधार करती तो आज मेरी दुर्दशा नहीं होती। डाकू बनाने में मेरी माँ ही कारण है।

इसीलिए नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

माता शत्रु पिता बैरी येन वालोन न पाठिता।

न शोभन्ते सभा मध्ये हंस मध्ये वको यथा॥

यहाँ पर पाठिता का अर्थ संस्कार, शिक्षा से है। गुरु को शिष्य को अच्छी शिक्षा से संस्कारित करना चाहिए। संस्कारवान शिष्य वही तैयार कर सकता है जो स्वयं संस्कारित हो। प्रभाव केवल आचरण का ही पड़ता है, वचनों का नहीं। इसीलिए शिष्य को चाहिए कि अपने को श्रेष्ठ बनाना है तो गुरु का चुनाव सोच समझकर विवेकपूर्वक करें।

‘पानी पीवे छानकर, गुरु बनावे जानकर।’ गुरु ठीक होगा तो हमारा (शिष्य) जीवन भी सार्थक श्रेष्ठ निश्चित बनेगा।

मुक्ति का मार्ग ही सच्चा मार्ग है। अन्य मार्ग तो भटकाने वाले हैं। उपाध्याय परमेष्ठी ही मुक्ति के मार्ग का उपदेश देते हैं। क्योंकि वे स्वयं ही उस मार्ग के अड़िग पथिक हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी और आचार्य परमेष्ठी में एक अंतर यही है कि आचार्य परमेष्ठी शासन भी करते हैं लेकिन उपाध्याय परमेष्ठी जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दृढ़ पिलाती है वैसे ही अपने संघर्ष शिष्यों को पढ़ाते हैं।

यथा दिवान्ध्य को सुर्य तक दिखाई नहीं देता है, तथा धर्मान्ध्य, स्वार्थान्ध्य, कामान्ध्य, कषायान्ध्य को सत्य, न्याय, सदाचारादि दिखाई नहीं देते हैं।

• •
जो गुणों से भारी होता है वह गुरु है। इसलिए अन्य सब गुरु की तुलना में हल्के हैं।

आ. कनकनंदीजी गुरुदेव

गणधर समझते हैं, उसका अनंतवाँ भाग लिपिबन्दू करते हैं। ऋद्धिधारी ऋषिगण भी छड़मरथ होते हैं। बस केवलज्ञान ही महान् है। इसीलिए केवली भगवान् के वचनों को ही प्रवचन कहा है।

वचन और प्रवचन में बड़ा अंतर है। जो साधारण शब्द हम बोलते हैं वे वचन हैं। प्रवचन वे विशेष शब्द हैं जिनका संबंध केवल सांसारिक पदार्थों से न होकर उस अनमोल निधि से है जो कि हमारे अंदर है। अनंतज्ञान प्राप्त करके जो शब्द खिरते हैं या बोले जाते हैं वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं। अतः जो भी वचन खिर गये वे सरस्वती बन गये, श्रुत बन गये। इस श्रुत की आराधना-उपासना करना एक महान् कार्य है।

श्रुत के दो भेद हैं द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। शाब्दिक वचन द्रव्यश्रुत है और अंदर की पुकार परिणति भावश्रुत है। आजतक हमने द्रव्यश्रुत के महत्व को नहीं समझा। द्रव्यश्रुत तो तभी है जब हम इसके सहारे से अपनी अलौकिक आत्मनिधि को प्राप्त कर लें। दूध में धी है किन्तु हाथ डालने मात्र से ही मिलने का नहीं। धी प्राप्ति के लिए मंथन करना पड़ेगा। इसी तरह भावश्रुत की उपलब्धि के लिए द्रव्यश्रुत की सहायता से मंथन करना होगा।

सरस्वती को दीपक की उपमा दी गई है जो हमारे सम्यक् मार्ग को प्रशस्त करता है। लेकिन खेद तब होता है जब हमारे हाथ में दीपक है फिर भी हम गढ़े में गिर रहे हैं। सर्प को जान बूझकर रसी मान रहे हैं। कषायों के कारण इन्द्रिय-विषय भोगों के अधीन होने के कारण हमारी ये दशा हो रही है। शास्त्र-शस्त्र बन गया है। हमारे वचन तलवार का काम कर रहे हैं। हमारे वचन यदि दूसरों के प्रति कृतज्ञता, उदारता प्रगट न कर सके तो उन वचनों की क्या उपयोगिता है? हम केवल दो चार शास्त्र पढ़ लेते हैं या दो चार पूजा पाठ कर लिये, थोड़ा सा दान आदि दे दिया बस समझ लेते हैं हमने बहुत बड़ा धर्म कर लिया। यह वास्तविक धर्म है क्या? धर्म कागज में नहीं, शास्त्र में नहीं किताब-पोथी पढ़ने में नहीं, प्रवचन सुनने में नहीं बल्कि सत् चारित्र-आचरण करने में धर्म है। इसीलिए कहा 'चारित्र खलु धम्मो' यहाँ खलु शब्द इस बात का प्रतीक है कि निश्चय से चारित्र ही धर्म है। लेकिन वर्तमान भारतीय लोगों का धर्म कागज में हो गया है। पहले प्रायोगिक जीवन में था। इसीलिए भारत विश्वगुरु था। तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि-आदि महान् पुरुषों ने प्रायोगिक धर्म किया। शास्त्र पढ़ने वाले तो वास्तव

में धर्म को ही गढ़े में डालते हैं। ऐसे निपिक्ष धर्म से ना तो कुछ हुआ और न होगा और न ही हो रहा है। तीर्थकर भी करोड़ों वर्षों तक संसार में रहते हैं क्योंकि प्रवचन को समग्रता से आत्मसात् नहीं करते। जब समग्रता के साथ आत्मसात् कर लेते हैं तब ज्ञान ले लेते हैं और एक ध्यान में ही मनः पर्यय ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं।

आज हमारा ज्ञान के क्षेत्र में विकास क्यों नहीं हो रहा है क्योंकि थोड़े ज्ञान के बाद हम घमण्डी बन जाते हैं। मध्यकाल में विनाश का कारण यही था कि पहले के पंडितों ने दो-चार अक्षर पढ़कर अपनी कुरतक-बुन्दि से अर्थ के अनर्थ लगाकर स्वयं को पतित भ्रमित किया एवं दूसरों को भी किया। इसीलिए मध्यकाल का युग सबसे अंधकार का युग था। मध्यकाल में कुछ भी विकास नहीं हुआ। बल्कि हर दृष्टि से हर क्षेत्र में विनाश ही हुआ।

इसीलिए आचार्यों ने सर्वप्रथम श्रद्धा / रुचि को रखा। जैसे कि भोजन बहुत ही स्वादिष्ट-सुंदर है लेकिन भोजन के प्रति हमारी रुचि / श्रद्धा नहीं है तो हमें वह सुंदर स्वादिष्ट भोजन नीरस-अरुचिकर लगेगा। यहाँ तक कि वमन भी हो जाता है। बीच में ज्ञान / विवेक को रखा। केवल श्रद्धा होने पर भी काम नहीं चलेगा। जब तक विवेक नहीं तो वह श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा भी हो सकती है। विवेक के द्वारा ही हेय-उपादेय का ज्ञान कर सकते हैं। जब श्रद्धा विवेक हो जाता है तब हमें सत्य के ग्रहण करने की इच्छा होती है कि क्या ग्रहण किया जाये क्या छोड़ा जाये? जो हमें निःसार लगता है उसे हम छोड़ देते हैं एवं सार तत्व को ग्रहण कर लेते हैं। यानि उसका उस रूप में, प्रायोगिक रूप में आचरण करने लग जाते हैं। यही तो 'सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' है। लेकिन जब तक तीनों की एकता में कमी रहती है तो हम उसे सम्यक् नहीं कह सकते। ज्ञान का विकास कराने में एक कारण सुरक्षा सम्बर्द्धन भी है।

ह्युन्सांग अध्ययन करने के बाद जब जहाज भरकर अच्छे-अच्छे ग्रंथ अपने देश लेकर जा रहे थे तब बीच में ही जहाज वजन अधिक होने के कारण ढूँबने लगा। तब गुरुजी बोले कुछ वजन कम करने पर जहाज को ढूँबने से बचाया जा सकता है। अब क्या कम करें? जहाज में केवल तीन वरतुएं थी। शास्त्र, गुरु, शिष्य। तब शिष्य विचार करने लगा गुरु के द्वारा ज्ञान प्रभावना होती है, शास्त्र भी ज्ञान प्रभावना का माध्यम है। जब शास्त्र और गुरु नहीं हो तब ज्ञान प्रभावना

हो नहीं सकती। कुछ प्राप्त करने के लिए कुछ तो खोना ही पड़ता है। इसीलिए मेरा कूदना ही श्रेष्ठ रहेगा। यह सोचकर शिष्यने सागर में कूदकर गुरु एवं शास्त्र की रक्षा की। सुरक्षा, सम्बर्द्धन होना चाहिए लेकिन कैसा? शास्त्रों को सुंदर सुंदर अल्मारियों में सजा दो, केवल उनका अष्ट द्रव्य से भक्ति भाव से दर्शन भक्ति कर लो तो क्या ऐसी क्रिया करने से हमारा ज्ञान के क्षेत्र में विकास होगा? पहले के समय में यहाँ हुआ। मृदृवत्री में धवला—महाधवला, जयधवला आदि बड़े—बड़े सैन्धान्तिक ग्रंथ थे लेकिन उन ग्रंथों का दूर से ही पूजन—दर्शन किया जाता था क्या हमें कुछ ज्ञान हासिल हो पाया? बाद में उन ग्रंथों को खोला गया पढ़ा गया तब ज्ञान प्राप्त करके इतने ठोस प्रामाणिक शास्त्रों की रचना हुई है। पंडित लोगों ने शास्त्र लिखे लेकिन इतने प्रामाणिक ठोस सत्य—तथ्य से युक्त नहीं हैं क्योंकि उन्होंने धवला आदि महान् सैन्धान्तिक ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था। बाद में आचार्य श्री शांतिसागर जी गुरुदेवने परंपरा चलायी। विदेशी लोग हमारे ग्रंथ ले जाकर पढ़े और हर क्षेत्र में विकास / उन्नति करें। विदेशी लायब्रेरियों में आज भी हमारे भारतीय जैन दर्शन के बड़े—बड़े महान् रहस्यात्मक ग्रंथ बड़ी मात्रा में है। हम लोग तो केवल पूजा—पाठ, रुढ़ि, बाह्य क्रिया काण्डों में ही धर्म मानकर बैठ गये। लेकिन सत्य तथ्यों को विवेक पूर्वक आत्मसात् क्रियारूप में परिणत नहीं किया। विनय करो, सुरक्षा करो इस बात के लिए मैं मना नहीं कर रहा लेकिन विवेक के साथ हर कार्य करो। नये—नये शास्त्रों का प्रकाशन करवाना जिनवाणी, श्रुत का प्रचार—प्रसार करना इसीसे तो ज्ञान का विकास होता है।

हमारे यहाँ घार दान बताये हैं। लेकिन कन्यादान, वरदान, टी.वी. दान, बीची दान, दहेज दान आदि तो नहीं कहे हैं। लेकिन हम ज्ञानदान, आहारदान आदि तो नहीं करते ये कन्यादान आदि भोग साधन के दान अवश्य करते हैं। और कहते हैं कि अधिक शास्त्र छपाना तो पाप है— अधिक शास्त्र छपेंगे फटेंगे इससे अविनय होगा, पाप लगेगा। शादी करेंगे तो उसमें जिनवाणी या शास्त्र नहीं बौंटेंगे बल्कि बर्तन, कपड़ा ऐसी वस्तुएं बौंटेंगे। शादी में लड़की को लाखों का दहेज तो देंगे लेकिन 20 रु. की जिनवाणी नहीं देंगे। जैसे माँ—बाप वैसे ही बच्चे। आजकल के बच्चे भी कौन सा स्वाध्याय या धार्मिक ग्रंथ पढ़ते हैं? बच्चों में परिवार माँ बाप के ही संरक्षार हैं। यह गंदी परम्परा जैन समाज में ही है। बाईंबिल के मुख्य पृष्ठ पर लिखा है “गिफ्ट दी बाईंबिल कार वर्थ डे” और हमारे यहाँ तो ग्रन्त

का उद्यापन या विधान आदि कार्यक्रमों में भी शास्त्र, धार्मिक पुस्तकें नहीं बौंटेंगे बल्कि वहाँ भी बर्तन (भाँड़) बौंटेंगे। भाँड़ यानि झगड़ने का प्रतीक। पात्र दान का अर्थ बर्तन आदि से लगाकर अनर्थ कर दिया। क्योंकि अनर्थ को स्वीकार करना हमारी पुरानी आदत बनी हुई है। हम कहाँ से कहाँ चले गये। पात्र पहले ही परिग्रह है। उसमें फिर नाम लिखवाकर देते हो। वह उन बर्तनों का प्रयोग न मालूम कहाँ कैसे करें रात्रि को खाना खाये—बनाये तो इसका दोष किसको लगेगा? जो जैसा देता है उसे उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। एक ग्वाले ने एक मुनि को शास्त्र दिये तो अगले भव में वह जीव शास्त्रदान के प्रभाव से कुंद—कुंद महान् विद्वान्, ज्ञानवान् आचार्य हुए। इसीलिए बताया है कि जो श्रुत की आराधना प्रभावना करता है वह साक्षात् जीवन्त भगवान् की पूजा करता है। क्योंकि जो जिनवाणी है, सिद्धान्त है वह जिनेन्द्र देव का दिया हुआ प्रवचन ही तो है। व्यक्ति ख्व सिद्धान्त से ही जीता है न कि दूसरों से। यह जिनवाणी आगम भगवान् का व्यक्तित्व है, वचन है। भगवान् का व्यक्तित्व ही तो प्रवचन है, सिद्धान्त है, जिनवाणी। जो जिनवाणी का प्रचार प्रसार प्रभावना नहीं करता है वह जीवित होते हुए भी मरणासन्न है। तीर्थकर भगवान् या जो भी धर्म प्रचारक हैं वे अपने धर्म का प्रचार—प्रसार कैसे करते हैं? शास्त्रों के माध्यम से। इसीलिए हर धर्म में ग्रंथ तो ही ही। जिनेन्द्र देव के वचनों को महा औषधि कहा। जो भगवान् की वाणीरूपी औषधि का पान करेगा उसे विषय वासनाओं की उल्टी हो जाएगी। जिस प्रकार प्रकाश के आगे अंधकार टिक नहीं सकता उसी प्रकार जिसके अंदर सम्यक्ज्ञान का प्रकाश आ गया उसके पास मिथ्या अंधकार रह नहीं सकता। यह सम्यक्ज्ञान जन्म—जरा—मृत्यु का नाश करनेवाला है। गौतम गणधर पहले महा हिंसक, मायावी, घमण्डी आदि दुर्गुणों से युक्त था। लेकिन जैसे ही भगवान् के शब्द सुने, सम्पर्क में आये कि गणधर बन गए। यह किसका प्रभाव है? जितने भी तीर्थकर, अरहन्त, सिद्ध बने उन्होंने पहले जिनवाणी व गुरु का उपदेश सुना।

श्रुतरूपी विशाल वृक्ष से इस चंचल मन को ज्ञान की डोरी से बाँधना चाहिए तभी कल्याण होगा। क्योंकि अभी का द्रव्य—क्षेत्र, काल, भाव, संहनन आदि सुदृढ़ नहीं हैं। ध्यान साधना उच्चकोटि की हो नहीं पाती केवल स्वाध्याय से ही मन को एकाग्र किया जा सकता है इसीलिए स्वाध्याय को परम तप बताया है। स्वाध्याय करने से पुण्यास्रव होता है अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है, मन की कुप्रवृत्ति हटकर

सत्-प्रवृत्ति की तरफ अग्रासित होती है इसीलिए श्रुत की रक्षा-सुरक्षा पठन-पाठन प्रकाशन-प्रभावना अवश्य करनी चाहिए। अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनका उपदिष्ट सिद्धान्त गुरु-शिष्य परंपरा से लगभग 500 वर्ष तक मौखिक पठन-पाठन द्वारा चलता रहा तदन्तर गुणधर आचार्य ने 'कषाय पाहुड़' ग्रंथ की रचना की। जिसकी विस्तृत टीका श्री वीरसेन आचार्य ने 'महाध्वला' के नाम से की। श्री धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदंत भूतबली ने मिलकर 'षटखण्डागम' लिखा। जिसके पहले 5 खण्डों की व्याख्या 'ध्वला' के नाम से और अन्तिम छठे महाबंध की व्याख्या 'महाध्वला' के नाम से श्री वीरसेन आचार्य ने लिखी है। तीनों टीकाओं का प्रमाण लगभग पौने दो लाख श्लोकों के बराबर है। तदन्तर ग्रंथ लिखने की परंपरा चल पड़ी और आचार्यों ने अपनी स्मृति के आधार पर प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़, तमिल, हिन्दी आदि भाषाओं में भिन्न-भिन्न अनुयोगों पर अनेक ग्रंथ लिखे। वे सभी ग्रंथ आप्त की वाणी रूप सत्य आगम ग्रंथ हैं। जैसा जनता का महान् उपकार तीर्थकर की दिव्यवाणी द्वारा हुआ वैसा ही महा उपकार आचार्यों के उन ग्रंथों द्वारा जनता का हुआ।

जिस तरह सूर्य अस्त हो जाने पर दीपक का प्रकाश यथा शक्ति अंधकार का नाश करता है, उसी प्रकार अरहन्त भगवान् के अस्त(निर्वाण) हो जाने के बाद श्रुत केवली आदि के न रहने पर शास्त्रों के रूप में गुण्ठी हुई जिनवाणी जनता का उपकार करती है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र का लालन-पालन हित की भावना से युक्त होकर करती है, उसी प्रकार जिनवाणी भी विश्व के समस्त प्राणियों का हित साधन करती है। इसीलिए जिनवाणी को जगत् माता या जिनवाणी माँ कहते हैं।

जिनवाणी का पद गुरु से भी उच्च माना गया है। अतएव देव के बाद शास्त्र का नाम आता है। हमें जिनवाणी माँ की विनय रक्षा सुरक्षा करनी चाहिए। शास्त्रों का बहुत ही आदर व सूचि के साथ अध्ययन, पठन-पाठन, स्वाध्याय करना, उनका जन साधारण तक प्रचार-प्रसार करना, शास्त्रों की रक्षा-सुरक्षा करना, उनको उच्च स्थान पर विराजमान करना, उनका हाथ जोड़कर सिर झुकाकर विनय-बहुमान करना, खड़े होकर स्वागत करना, शुद्ध शरीर व स्वच्छ वस्त्रों में ही उनका रप्त करना, शुद्ध पाठ करना आदि क्रियायें प्रवचन भक्ति हैं।

संसार इस समय सत्य तथ्य को जानने के लिए उत्सुक है, उनकी उत्सुकता

शांत करने के लिए जैन शास्त्रों को प्रचलित विवाद भाषाओंमें अनुवाद कराकर, प्रकाशित कराकर, प्रचार-प्रसार करना चाहिए संसार के कोने -कोने तक पहुँचाना चाहिए। इन ग्रंथोंमें अमूल्य आत्मज्ञान की निधि छिपी हुई है। इस निधिकी सुरक्षा हमें जब तक घट में प्राण है तब तक अंतिम समय तक करनी चाहिए। धर्म के लिए, सत्य के लिए संकीर्णता, कृपमण्डूकता को त्वाग करके सतत् पुरुषार्थ के माध्यम से आगे बढ़ाना चाहिए। हमारे बड़े-बड़े महान् आचार्यों ने बड़े-बड़े संकट, कष्ट, परेशानियों को सहन करके भी धर्म की, शास्त्र की, गुरु की रक्षा की।

अकलंक निकलंक स्वामी के समय में जैन धर्म का हास हो रहा था। ऐसी परिस्थिति देखकर दोनों भाई शादी नहीं करते और पहले जैनधर्मका गहन अध्ययन करने के बाद बौद्ध धर्म का चोरी छिपे अध्ययन करते हैं लेकिन एकदिन रहस्य खुल जाने से पकड़ लिए जाते हैं उसमें छोटा भाई धर्म की रक्षाहेतु स्वयं को बलिदान करके बड़े भाई की रक्षा इस हेतु से करता है कि बड़े भाई को एकबार पढ़ने से याद होता था व स्वयं को दो बार पढ़ने पर। इसीलिए धर्म की रक्षा-सुरक्षा प्रभावना बड़े भाई से अधिक होगी। आगे चलकर अकलंक देव ने बौद्ध धर्म के बड़े-बड़े पंडितों से विवाद-शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया अपनी पराजय होती देख शास्त्रार्थ पर्दे की ओट में तारादेवी को घट में स्थापित करके 6 महीने तक शास्त्रार्थ किया। जब देखा इतने दिन हुए। आखिर रहस्य क्या है? तब रात को सपना आया कि अनेकांत स्याद्वाद सिद्धान्त के आगे तो कोई मानव टिक नहीं सकता; वह देवी है। अगले दिन उन्होंने देवी से प्रश्न करके प्रतिप्रश्न किया देवताओं की विशेषता होती है कि एकबात को वापिस दुबारा नहीं बोल सकते। जब प्रति प्रश्न का जवाब नहीं आया तब सभी के सामने अकलंक देव ने घट में लात मारी तो उसमें से साक्षात् रूप में तारादेवी प्रगट होकर क्षमायाचना करने लगी। चारों तरफ से जैनधर्म की जय-जयकार होने लगी। इस प्रकार इतनी विषम परिस्थितियों के बीच अनेकों संघर्षों को पार करते हुए अपने धर्म की रक्षा करके प्रभावना की। इस प्रकार अनेकों उदाहरण हैं कि जब-जब धर्म-शास्त्र-गुरु पर किसी ने आक्रमण या विव्यंश किया तब-तब महान् बड़े-बड़े आचार्य आदि ने धर्म की रक्षा सुरक्षा करके उसकी प्रभावना की।

इंग्लैण्ड की सभा में एक बार सभी से प्रश्न पूछा गया कि एक जगह साहित्य एवं धन सम्पत्ति रखी है अगर वहाँ आग लग जाती है तो आप पहले सुरक्षा किसकी

करेंगे? उसमें से एक व्यक्ति ने जवाब दिया पहले साहित्य की सुरक्षा करेंगे क्योंकि साहित्य को पढ़कर ज्ञान होगा उस ज्ञान के बल पर धन सम्पत्ति पैदा कर सकते हैं लेकिन जब हमारे पास ज्ञान ही नहीं होगा तब क्या करेंगे? कुछ नहीं कर पायेंगे इसीलिए धन सम्पत्ति से भी श्रेष्ठ शास्त्र है। बिना ज्ञान के प्राणी पशु से भी हीन-दीन है। मनुष्य की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, ज्ञान विवेक के कारण ही है जितना ज्ञान मानव के पास है उतना ज्ञान देवों के पास भी नहीं। इस ज्ञान की उपलब्धि जितना हम ज्ञान का प्रचार-प्रसार करेंगे उतनी ही वृद्धिंगत होकर विस्तृत होगी।

गायत्री परिवार में ज्ञान का प्रचार-प्रसार झौला पुस्तकालय से करते हैं। घर-घर जाकर निःशुल्क साहित्य बाँटते हैं। और हमारे यहाँ साहित्य देने पर लेने में ही शर्म का अनुभव करते हैं। यह मेरा प्रायोगिक जीवन्त अनुभव है। जब मैं साहित्य देता हूँ तो उसे छिपाकर कागज आदि से लपेटकर ऐसे ले जाते हैं जैसे कि कोई खराब वस्तु ले जा रहे हैं। मंदिरों की अल्मारियों को देखों शास्त्रों की इतनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था हो रही है कि उस जिनवाणी माँ की दुर्दशा को देखकर हृदय में गहरी पीड़ा होती है। हम फैशन में गप-शप बाजी में घंटों-घंटों व्यतीत कर देते हैं अपने घर की, बच्चों की रक्षा-सुरक्षा कितनी अच्छी करते हैं लेकिन कुछ समय निकालकर क्या शास्त्रों की दशा नहीं सुधार सकते। जिनवाणी की रक्षा-सुरक्षा विनय करने से भी ज्ञान का विकास होता है, आत्मा का उन्नार होता है।

इसीलिए प्रवचन भक्ति से हमें यही शिक्षा लेनी चाहिए कि ज्ञानावरण कर्म का समूल क्षय करने से अर्हन्त भगवान् यथार्थ ज्ञाता होते हैं, और मोहनीय कर्म के क्षय कर देने से पूर्ण वीतरण हैं, इसी कारण उनका उपदिष्ट सिद्धान्त पूर्ण सत्य एवं प्रामाणिक है। कथन में अप्रमाणिकता दो कारणों से ही होती है एक तो अपूर्ण ज्ञान यानी अज्ञानता के कारण, दूसरें राग-द्वेष-कषाय भावों के कारण। अर्हन्त भगवान् में ये दोनों ही कारण नहीं हैं अतः उनका वचन ही सत्य-यथार्थ प्रामाणिक है ऐसे वचनों की रक्षा-सुरक्षा-प्रभावना, प्रचार-प्रसार हम तन-मन-धन से करेंगे, करवायेंगे, करते हुए की अनुमोदना करेंगे ताकि हमारी जिनवाणी माँ का अत्यधिक प्रचार-प्रसार होकर जैनधर्म की सत्यता, वास्तविकता, महानता का ज्ञान जन-जन को हो सके।



आवश्यकापरिहाणि

अपने आवश्यक कर्तव्य पालन करने से ही नैतिक अधिकार प्राप्त होता है

धर्मसभा को संबोधित करते हुए आचार्य रत्न श्री कनकनंदीजी गुरुदेव ने आवश्यक अपरिहाणि भावना के परिप्रेक्ष्य में प्रकाश डालते हुए बताया कि बिना साधना सिद्धि होती नहीं है। साधना के बिना, धर्म के बिना, कर्तव्य के बिना मोक्ष की प्राप्ति हो नहीं सकती। जिस प्रकार जादूगर के लड्डू से पेट नहीं भरता इसीप्रकार जो कुछ कार्य होता है वह वास्तविकता के धरातल पर, सत्य-तथ्य के धरातल पर ही सिद्ध होता है। जो विश्व नेता बनता है उसके लिए दस-दस भवों की सतत साधना साधकर सिद्धि की जाती है।

आज आवश्यक अपरिहाणि भावना के बारे में हम विचार करेंगे कि आवश्यक अपरिहार्य माने क्या?

ज्ञवसो अवसो अवसस्कम्भभावस्संयंति वोधवा।

जुत्तिति उवायति य णिरवयवा होदि॥ 515 गाथा॥

मूलाचार में कुंद-कुंद देव ने कहा है कि “न वशोः इति अवशोः”

अर्थात् जो दूसरों के वश में नहीं हो, जो दूसरों के अधीन न हो, जो दूसरों का गुलाम न हो, जो दूसरों के इशारे व निर्देश पर न चलता हो वह है अवश। नवश्यः पापादेव वश्यो यदेन्द्रिय कषाय ईषत्कथाय रागदेषादिभिरनात्मीय कृतस्तस्यावश्यकस्य यत्कर्मानुष्ठानं तदावश्यक मिति बोद्धव्यं ज्ञातव्यं।

दूसरें व्यक्ति के आदेश निर्देश पर नहीं हो तथा पाप के अनुसार असत्य गलत मार्ग पर भी न चलता हो। क्योंकि संसारी प्राणी की प्रवृत्ति गलत मार्ग पर चलते हुए भी चाह सुख की होती है। भले ही वह सुख का मार्ग अपनायेगा नहीं।

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं न कुर्वन्ति मानवाः।

पापस्य फल नेच्छन्तिपाप कुर्वन्ति यत्ततः॥

संसार में हर प्राणी पुण्य व धर्म का फल सुख चाहता है। चाहे वह सम्यकदृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, ज्ञानी हो या अज्ञानी। पुण्य नहीं करेंगे पुण्य फल की इच्छा तो अवश्य ही करेंगे। पाप का फल दुःख को कोई नहीं चाहता लेकिन यत्पूर्वक

पाप करते हैं दूसरों को प्रेरित करते हैं, उपदेश देते हैं, करते हुए की प्रशंसा करते हैं। जैसे दूसरों के बच्चों की शारी होती है आप उसमें खुश होते हो, उत्सव मनाते हो, गीत गान करते हो, शराब पीकर अश्लील नृत्य गान तक करते हो। कोई पाप से पैसा कमाये तो उसे श्रेष्ठ, अच्छा समझते हो। अगर संतान भी पाप से धन कमाये तो उसे महान् मानते हैं। अगर वह अधिक धन नहीं कमाता सत्य न्याय मार्ग का अनुसरण करता है तो उसे पाप कार्यों की तरफ प्रेरित करके अनुचित तरीके से धन कमाने की प्रेरणा, शिक्षा देते हैं। इसीलिए कहा जो पापप्रवृत्ति के अनुसार कार्य न करता हो। क्योंकि मन की प्रवृत्ति अधोगामी होती है। क्योंकि ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति के लिए सतत् साधना की आवश्यकता होती है। इसीलिए अधिकांश व्यक्तियों की प्रवृत्ति अधोगामी ही होती है। जिस प्रकार पानी स्वभावतः अधोगामी होता है ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ता है। इसीलिए इस पाप प्रवृत्ति को काटना होगा। पाप की प्रवृत्ति काटने के लिए इन्द्रियों व मन को वश करना होगा। जो इन्द्रियों का गुलाम होगा वह सभी का दास होगा। जो अन्तरंग गुलाम होगा वह निश्चित ही बाह्य गुलाम होगा। साधु इन्द्रिय, मन विजेता होते हैं इसीलिए चक्रवर्ती, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के आगे भी नहीं झुकते। जो इन्द्रिय—मन की दासता स्वीकार करता है वह हर किसी के आगे झुक भी जाता है। वह दुनियाँ का दास होता है। जिस प्रकार तीर्थकर साधु—संतों की किसी के प्रति कोई इच्छा—कामना नहीं होती इसीलिए दुनियाँ उनके चरणों में झुकती है। अगर संसारी प्राणी की बातों में आकर उनकी एक भी बात मान ली तो जीवन का सर्वनाश हो जाता है क्योंकि संसारी प्राणी की परिणति भोग विलासों की तरफ ही होती है अतः वह उसी बात को करने के लिए प्रेरित करते हैं।

एक साधु थे उनके भक्तों ने कहा— हम इतने धनी संपन्न आपके भक्त हैं आप एक लंगोटी पहन लें। साधु ने भक्तों की बात मान ली और एक लंगोटी पहन ली। अब दूसरी लंगोटी की आवश्यकता हुई क्योंकि एक लंगोटी गंदी हो जाये तो धोने सुखाने तक के लिए दूसरी चाहिए। दूसरी लंगोटी भी रख ली तो एक दिन चूहा काट गया। चूहा से रक्षा हेतु एक बिल्ली रखी। बिल्ली भूखी कैसी रहे तो दूध के लिए एक गाय रखी। गाय की रक्षा के लिए घास चाहिए, घास के लिए खेती चाहिए, खेती का काम करने के लिए स्त्री चाहिए। साधु ने स्त्री रखी। स्त्री आने पर बच्चे—बच्ची भी पैदा हुए। देखो एक दासता के कारण वह

सभी का दास बन गया। क्योंकि एक इच्छा अनेकों इच्छाओं को जन्म देती है, एक कामना अनेकों कामनाओं को जन्म देती है, एक बीज से अनेकों फल, पुष्प पैदा होते हैं। इसीलिए कहा इंद्रियों के वश में भी नहीं होना चाहिए। जो इंद्रियों के गुलाम होते हैं वे इस जन्म में क्या अगले जन्म में भी दुःख उठाते हैं। एक—एक इंद्रिय के गुलाम बनकर एक—एक प्राणी अपने प्राण दे देते हैं। मछुली जिक्का इंद्रिय के कारण काँट में फँसकर प्राण दे देती है। भोंरा जो कि काष्ठ जैसे कठोर पदार्थ को भी काट देता है लेकिन कमल जैसे मुलायम पदार्थ को घाण इंद्रिय के वशीभूत होकर काट नहीं पाता और अपने प्राण दे देता है। इसप्रकार ये सभी प्राणी केवल एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर ही अपने प्राण दे देते हैं फिर मनुष्य तो पाँचों ही इन्द्रियों का दास है इसकी क्या दुर्दशा होगी ?

एक रानी थी वह प्रतिदिन सुगन्धित फूलों की सेज पर सोती थी, उस सुगन्धित फूलों की सेज को एक दासी तैयार करती थी। एकदिन दासी ने सोचा इस सेज पर 10 मिनट मैं भी सोकर देखूँ। वह 5 मिनट फूल की सेज पर लेटी तो मुलायम व सुगन्धित सेज होने के कारण उसे तुरन्त ही नींद आ गयी। जब रानी आयी तो उसने देखा मेरी सेज पर यह दासी सो रही है वह उसे जगाकर कोड़े मरवाती है। दासी पहले दो कोड़े लगने पर रोयी लेकिन बाद में हँसने लगी। रानी ने इसका कारण पूछा कि आप रोयी और हँसी क्यों ? दासी कहने लगी देखो मैं थोड़ी देर ही सेज पर सोयी तो मुझे इतने कोड़े खाने पड़े और आप तो हररोज इस सेज पर सोती है आपको कितनी सजा मिलेगी। इसीलिए मुझे रोना और हँसना दोनों बातों का विचार आया।

अब आप लोग विचार करो हम लोग कितने विषय भोगों में आकंठ मग्न हो रहे हैं ? हमारा क्या हाल होगा ? हमारा हाल नहीं बेहाल ही हो रहा है। लेकिन हमें उस बेहाल का परिज्ञान होते हुए बेहाल का अहसास नहीं हो रहा है। इंद्रिय विषय भोगों में हमें सुख का अहसास नहीं होता फिर भी विषय भोगों को भोगने में सुख मान रहे हैं।

एक व्यक्ति घोर जंगल में रास्ता भटक गया। वह सही रास्ते की ओर ज़ारी कर रहा था कि इतने में पीछे से हाथी उसके पीछे लग गया। वह हाथी से बचने हेतु दोड़ते—दोड़ते एक विशाल चट घृक की जो शाखायें लटक रही थीं उन शाखाओं को पकड़कर लटक गया। लेकिन जैसे ही उसकी दृष्टि नीचे गयी कि उस शाखा

के नीचे एक गहरा कुँआ था और उस कुएँ में चार सर्प एवं बड़ा अजगर मुँह ऊपर करके उस व्यक्ति को खाने की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। वह व्यक्ति यह दृश्य देखकर एकउम घबरा गया और अपनी रक्षा हेतु उसकी दृष्टि ऊपर गयी तो देखा कि जिस शाखा को उसने पकड़ा है उसी शाखा को दो चूहे काट रहे हैं। अब क्या करे? रक्षा का कोई उपाय नहीं। इधर हाथी आकर वृक्ष को हिलाता है कि उस पेड़ पर मधुमक्खियों का बड़ा छाता था उसकी सारी मक्खियाँ उड़कर उस व्यक्ति को धायल करती हैं। वह अति वेदना के कारण दुःखी होकर चिल्लाता है। तभी भाग्य से एक विद्याधर विद्याधरी उधर आ जाते हैं। विद्याधरी उस व्यक्तिको इतना दुःखी देखकर विद्याधर से कहती है इसको अपने विमान में बिठाकर इसके घर छोड़ दो। वह विद्याधर उसे आवाज लगता है कि हम आपको आपके घर छोड़ देंगे लेकिन तभी उसके मुँह में मधु के छाते की बूँद गिर जाती है। वह उसका मीठा टेस्ट लेकर कहता है थोड़ा रुको एक बूँद आ जाने के बाद चलूँगा। लेकिन तीन-चार बार बुलाने के बाद भी वह उस बूँद के चक्कर में अपनी सारी वेदनायें भूल जाता है और आने को तैयार नहीं होता। इसप्रकार इंतजार करके वह विद्याधर-विद्याधरी चले जाते हैं। यही दशा आप सभी लोगों की है। उस व्यक्ति की कहानी सुनकर क्यों घबराते हो? तुम्हारे जीवन में भी तो यही कहानी घटित हो रही है। नित्यप्रति प्रवचन सुनते हो संसार की असारता का, विषय भोगों की दुर्दशा का फिर भी परिवार बच्चों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। नरक निगोद से निकलकर मोक्ष की यात्रा तय करने आये थे लेकिन मोक्ष यात्रा को विषय कषाय भोगों में फँसकर भूल गये। इन विषय वासनाओं इंद्रिय भोगों के दासत्व से रहित होकर जो आत्म अवलम्बन लेकर विवेक पूर्वक क्रियायें कर्तव्य करता है वह है आवश्यकापरिहारिणी भावना। लेकिन जो समाज के दबाव से लोकलाज के भय से मंदिर जाता है, प्रवचन सुनता है, दान, पूजा, पाठ व्रत-नियम करता है वह आवश्यकापरिहारिणी नहीं है। इसीलिए कहा है जो स्वतन्त्रता पूर्वक, आत्म अवलम्बन पूर्वक, विवेक के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करता है वही आवश्यक परिहारिणी व्रत है। जो स्वकल्याण के साथ विश्वकल्याण करे वही तो सार्थक कर्तव्य है। ये आवश्यक कर्तव्य गृहस्थों के षट्कर्तव्य हैं। ये आवश्यक कर्तव्य गृहस्थों व मुनियों के अलग-अलग हैं। गृहस्थओं के षट्कर्तव्य इस प्रकार आचार्यों ने बताये हैं—

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्याय संयमः तपः।
दानं चेति गृहस्थाणं षट् कर्मणि दिने-दिने॥

गृहस्थों के कर्तव्यों को अणुव्रत या आंशिक व्रत कहते हैं। इसी प्रकार मुनियों के महाव्रत सकल व्रत बताये हैं। ये आवश्यक हैं। इसे सतत पालन करने चाहिए। ऐसा नहीं कभी किये कभी नहीं किये, आज किये तो कल नहीं करेंगे या एक दो कर लिये बाकी नहीं किये। जो व्रत को वृन्दिंगत नहीं करते उनके व्रत ऊर्जावान, प्रखर, जीवन्त नहीं बन पाते। वह तो केवल कोल्ह के बैल की तरह, यांत्रिक बनकर रह जाते हैं। इन व्रतों को भावपूर्वक विवेकपूर्वक ही ऊर्जावान, तेजस्ववान् बनाया जाता है।

जो अपने व्रतों में प्रमादवश अतीचार या दूषण लगता है उसके व्रत स्थायी रूप से सुदृढ़ ठीक प्रकार से टिक नहीं पाते। इसीलिए व्रतों में जहाँ तक बने प्रमादवश अतीचार आदि दोष नहीं तगाना चाहिए कि हाँ मैंने तो बहुत बड़े-बड़े व्रत कर लिए अब क्या करूँगा? या मुझ तो व्रत नियम होते ही नहीं यह जीवन तो खाने-पीने के लिए भोग विलास करने के लिए मिला है, कौन करे व्रत नियम, संयम उपवास आदि। इसीलिए शक्ति के अनुसार तप करने को कहा। कम भी नहीं करना। आलस्य प्रमाद के वशीभूत होकर सब कुछ भूल जाना। और शक्ति से अधिक भी मत करना कि फिर थोड़ा भी ना हो सके। अपनी शक्ति के अनुसार सतत करते रहना। जिस प्रकार एक खरगोश था एक कछुआ था। दोनों में दौड़ प्रतियोगिता दृष्टि। खरगोश को अपनी शीघ्रता पर घमण्ड था कि मैं तो इतना शीघ्र चलने वाला हूँ इसीलिए थोड़ा चलकर सो गया। लेकिन कछुआ अपनी शक्ति अनुसार सतत धीमे-धीमे चलता रहा और खरगोश से आगे निकल गया। इसीलिए आलस्य प्रमाद का त्याग करके अपने कर्तव्यों के प्रति अपनी शक्त्यानुसार सतत अभ्यास करते रहो एकदिन अवश्यमेव अणुव्रत से महाव्रत धारण करके अपने लक्ष्य पर पहुँच जाओगे।

जो अपना करणीय कर्तव्य है उसे प्राण कंठगत होने पर भी मत छोड़ना। क्योंकि व्रत पूरा होने पर मरण होने पर स्वर्ग या मोक्ष मिलता है। इसीलिए कहा है।

कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणकं ठगतेरपि।

अकर्तव्यं नैव कर्तव्यं प्राणकं ठगतेरपि॥

कर्तव्य किये मरना श्रेष्ठ है लेकिन कर्तव्य रहित लाख वर्ष जीना उचित नहीं

है। दीपक प्रकाश से युक्त होने पर एक क्षण को भी ठीक है लेकिन बिना जले हजार वर्ष का दीपक श्रेष्ठ नहीं है। अंधकार धूँआ फैलाता हुआ हजार वर्ष का दीपक भी ठीक नहीं। इसीलिए कर्तव्ययुक्त घोटा जीवन भी श्रेष्ठ जीवन है लेकिन पशुवत् हजार वर्ष का जीवन भी निरर्थक ही है।

पाश्वर्नाथ, महावीर, पाण्डव, गजकुमार आदि महान्-महान् पुरुषों ने कठिनतम उपसर्गों को सहन किया और मोक्ष गये। दो पाण्डवों ने थोड़ा सा विकल्प, प्रमाद ब्रतों में लगा लिया तो मोक्ष रुक गया जबकि समान संहनन, तपस्या उपसर्ग था। बाहुबली को थोड़ा सा संक्लेश था एक वर्ष तक कठिन कायोत्सर्ग मुद्रा होने के बावजूद भी केवल ज्ञान नहीं हुआ। अब आप थोड़ा विचार करो कि इन महा शक्तिशाली महान् ध्यान योगियों को जब रंचमात्र संक्लेश, प्रमाद से इतनी बड़ी हानि हुई तब हम लोग तो कितना संक्लेश, प्रमाद, ईर्ष्या, घमण्ड आदि करते हैं। तो हमारा क्या होगा? क्या ऐसा सोचा कभी? शायद मुझे तो नहीं लगता आप लोग ऐसा चिंतन, विश्लेषण करते होंगे। शायद आपका विश्लेषण, गणित तो ऐसा लगता होगा कि वे तो महापुरुष थे इसीलिए उनके साथ ऐसा हुआ हम लोग तो कम शक्तिशाली है, हीन संहनन वाले हैं ये सब हमारे साथ नहीं होगा। एक राजा के दरबार में एक पंडितजी प्रतिदिन राजा को रामायण की कथा सुनाया करते थे। एकदिन पंडितजी किसी कारणवशात् गाँव से बाहार गये तो अपने पुत्र को अपना काम सौंप गये। पुत्र राज दरबार पहुँच कर राजा को कथा सुनाने लगा और उसमें जो विषय निकला वह भी सुना दिया कि जो एक बृंद भी शराब या एक डली माँस भी खाता है वह नरक जाता है। जैसे ही राजा ने ये सुना उसे पुत्र के ऊपर बहुत गुरसा आया कि तुम्हारे पिता ने आजतक इतनी कथा सुनायी लेकिन उन्होंने कभी नहीं कहा कि जो एक बृंद शराब, एक डाली माँस को खायेगा वह नरक जायेगा। जबकि मैं तो प्रतिदिन बोतल-बोतल शराब प्लेट भर-भर कर माँस खाता हूँ। इसीलिए तुम्हें अगले दिन मृत्यु की सजा दी जायेगी। इधर वह पंडितजी शाम को घर वापिस आये तो मालूम हुआ राजदरबार में पुत्रने ऐसा कहा है और राजा ने उसे फाँसी की सजा दे दी है। पंडितजी दरबार में पहुँचे। राजा ने पुत्र की शिकायत व अपना निर्णय पंडित जी को बताया। पंडितजी बोले - मेरे पुत्र ने राजन! बिल्कुल 100% सत्य कहा है जो एक बृंद शराब, एक डली माँस खाता है वह नरक जाता है लेकिन जो बोतल-बोतल शराब और प्लेट

भरके माँस खाता है वह नरक नहीं जाता। इसीप्रकार हम लोग जीवन भर जमकर प्रमाद, कषाय आदि करते हैं इसीलिए हमें कर्म नहीं सतायेंगे वे हमसे डरकर भाग जायेंगे लेकिन जो थोड़ा करता है उसे निर्बल समझकर कर्म सताते हैं ऐसा ही आप लोगों का मानना है। इसीलिए आप सम्पूर्ण जीवन आकंठ तक जमकर क्रोध-कषाय, ईद्रिय विषय भोग भोगते रहते हो। इन्हें छोड़ने का नाम ही नहीं लेते हो। इसीलिए आचार्यों ने कहा विवेक को जगाओ, विवेकपूर्वक आचरण करो। जो स्व इच्छा से विवेकपूर्वक कषायों का, विषय भोगों का त्याग करके अपने कर्तव्यों में पहला कर्तव्य सामायिक करता है वारस्तव में वह अपने वथार्थ विवेक को जागरूक कर लेता है। यह सामायिक क्या?

जीवियमरणे लाहात्ताहे संजोगविष्पजोगेय।

बंधुअरि सुह दुक्खादो समदा सामाइय णाम॥

जो जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, सम परिस्थिति-विषम परिस्थिति में, शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में सभी में साम्य भाव रखे वही सामायिक है। ऐसे साम्य भाव क्यों रखना? क्या होता है इस प्रकार के साम्य भाव रखने से? तो आचार्यों ने कहा है समता वह श्रेष्ठ गुण है जो शारीरिक मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सुख-शांति समृद्धि को जीवन में प्रवेश दिलाती है एवं आत्म शुद्धि की प्रक्रिया जागृत होकर कर्म बंधन रुकता है। समता नहीं रखने पर मानसिक-शारीरिक, नैतिक, आध्यात्मिक गुणों का पतन होता है एवं दुःख अशांति, क्लेश का वातावरण तैयार होकर अशुभ कर्मों का बंध होता है। स्मरणशक्ति, कार्यक्षमता घटती है। अनेक रोगों को जन्म मिलता है। इसीलिए जीवन में समता, सामायिक का होना अत्यन्त आवश्यक है।

एक बार श्रेणिक राजा ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि मैंने इतने प्रश्न किये, इतना धर्म किया मैं मरकर कहाँ जाऊँगा? तो भगवान् बोले नरक में। मैं नरक जाने से कैसे बच सकता हूँ हे भगवान्! कुछ कारण तो कृपा करके बताइये। तो भगवान् बोले - उस धन्ना श्रावक की एक समय की सामायिक खरीद लो तो नरक नहीं जाओगे। श्रेणिक उस श्रावक के घर गये तो उस समय वह सामायिक कर रहे थे। श्रेणिक ने कहा - आप मुझ से एक लाख रुपया ले लो और मुझे एक समय की अपनी सामायिक दे दो। एक लाख रुपया क्या आप मुझे अपना पूरा राज्य दोंगे फिर भी मैं तुम्हें अपनी सामायिक नहीं बेचूँगा।

इसीलिए सामायिक को जैन शासन में सबसे श्रेष्ठ महत्वपूर्ण धर्म कहा गया है। इस सामायिक के, आगे कार्लमार्कर्स का 'साम्यवाद सिद्धान्त' भी छोटा है। हमारे वहाँ 'सार्वभौम शुद्ध आत्मवाद' है।

"सबे शुद्ध हु सुद्धण्या" इस सिद्धान्त के द्वारा प्रत्येक जीव को शुद्ध कहा गया है। प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, नित्य, निरंजन, सिद्ध भगवान् है। इसीलिए एक सूक्ष्म जीव से लेकर बादर तक प्रत्येक जीव के साथ भगवान् जैसा ही व्यवहार करो।

गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि— जो भक्त में और दुष्ट में, कुत्ता और कुत्ता के खाने वाले में, शत्रु और मित्र में साम्य भाव रखने वाला है वह मेरा परम भक्त है। किसी के प्रति धृष्णा, द्वेष, ईर्ष्या, रूलानि, हेय व्यवहार नहीं करना चाहिए। सभी के प्रति आदर-सम्मान का भाव रखना चाहिए। जो व्यवहार स्वयं को अच्छा न लगे वह व्यवहार दूसरों के साथ भी मत करो। 'सत्वेषु मैत्री' सभी जीवों के प्रति मित्रता का व्यवहार करो। चाहे वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय, निगोद, अभव्य, मिथ्यादृष्टि ही क्यों न हो। जैसा सिद्ध भगवान् के प्रति भाव है वैसा ही उसके साथ रखो। ऐसी भावना होने पर ही पापाचार, भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण अत्याचार, दुःख, अशांति, संक्लेश से मुक्ति मिल सकती है। इस समता को केवल धार्मिक क्षेत्र में ही स्वीकार ना करे बल्कि शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक शिक्षा, राजनीति, अर्थनीति, समाज नीति, कानून सभी के साथ अपनाकर विश्व मैत्री की स्थापना की जा सकती है। समता के अंतर्गत दूसरा तत्व है 'गुणिषु प्रमोद' यानि गुणीजनों के प्रति आनंदित, उत्साहित होना। जो गुणीजनों के गुणों के प्रति आनंदित उत्साही, प्रेम, वात्सल्य नहीं रखता भले ही वह कितना भी जप-तप-दान-पूजा-पाठ, व्रत-नियम, शील, संयम कर ले उसका यह सब बाह्य ढोंग, दिखावा, पाखण्ड ही है। क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकं बिना' जहाँ धार्मिक की नहीं वहाँ धर्म कहाँ होगा? धर्म तो लोगों से ही पालन किया जाता है। लेकिन आज तो हम धर्म को लेकर ही धार्मिक लोग अधिक लड़ते, झगड़ते हैं। जांति-पाँति, ग्रथ, मंदिर, मस्जिद, गुरु, भगवान्, व्रत नियम रीतिरिवाज आदि को लेकर धर्म-धर्म अधिक लड़ते हैं। 'स्वजाति परम बैरी' जिस प्रकार एक गली का कुत्ता दूसरी गली के कुत्ते को देखकर भौंकता है उसे खाने को दोड़ता है, उसे जबतक अपनी गली से निकाल नहीं देता तब तक शांति नहीं लेता इसी प्रकार आज हम भाई-भाई,

बाप-बेटा, सास-बहू, ससुर-जमाई अपने ही परिवार जन, धर्मोजन आपस में लड़-झगड़ रहे हैं। जबकि धर्म में कहा गया है प्रत्येक जीव को भगवान् के रूप में देखो। उसके राई (सरसों) के समान गुणों से भी प्रीति करो और अपने दोषों को खोजो तथा उन्हें दूर करने का सतत पुरुषार्थ करो।

हमारे तीर्थकर महान पुरुषों ने प्राणिमात्र पर दया, करुणा, परोपकार, वात्सल्य भाव रखे। अरहन्त बनने के बाद भी दिव्य ध्वनि के द्वारा ज्ञान दान देकर संसार के दुःखों से मुक्ति दिलायी। मान लो आपकी विचारधारा किसी से नहीं मिलती है तो उसे स्वीकार / ग्रहण मत करो लेकिन उससे ईर्ष्या, झगड़ा द्वेष तो मत करो। तुम जानते हो यह जहर है तो उसे मत पीओ लेकिन जहर से ईर्ष्या, द्वेष करोगे तो क्या मिलेगा? स्वयं को ही नुकसान/हानि होगी। हम जान रहे हैं नुकसान हो रहा है फिर भी जहर ही खा रहे हैं। आज धर्म को लेकर ही सबसे अधिक विषमतायें, फूट क्लेश, लड़ाई झगड़े हो रहे हैं और पहले भी होते थे। विश्व इतिहास इस बात का बहुत बड़ा ज्वलन्त उदाहरण हैं कि जितनी यह वसुन्धरा धन-सम्पदा के खातिर रक्त रंजित नहीं हुई बल्कि धर्म के नाम पर, धार्मिक लोगों के द्वारा हुई है। मंदिर-मस्जिद धर्म आयतनों में प्रायः छोटी-छोटी बातों को लेकर बड़े-बड़े विद्रोह लड़ाई झगड़े होते हैं कि मैंने इतनी पूजा कर ली तुमने इतनी की, मैंने इस भगवान् की पूजा की तुमने उसकी क्यों की? मैंने इतना दान दिया, तुमने क्यों नहीं दिया? वास्तव में क्या धर्म यही सिखाता है। 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' यह सूक्ति उल्टी चरितार्थ होती है कि 'मजहब भी सिखाता है आपस में बैर रखना'। जिन चीजों को मानकर हम धर्म को लेकर बैठे हैं वह तो केवल माध्यम है, साधन है, रास्ता है। लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार लक्ष्य / मंजिल तक पहुँचने के लिए गाड़ी में बैठते हैं लेकिन गाड़ी लक्ष्य नहीं है। लेकिन बिना गाड़ी के लक्ष्य तक पहुँच भी नहीं सकते इसी प्रकार ये सभी बाह्य साधन मोक्ष (लक्ष्य) तक पहुँचने के माध्यम हैं। हम गाड़ी में बैठकर मंजिल तक नहीं पहुँचना चाहते बल्कि गाड़ी के बीच में ही गिरकर मरना चाहते हैं। सच्चा धर्म करते नहीं बल्कि धर्म के नाम पर ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश करके खोटे भावों के द्वारा अशुभ बंध करके नरक निगोद के अपार कष्टों को सहन करते हैं।

इन असत् अनर्गल प्रवृत्तियों का हमें किस प्रकार अहसास हो इसके लिए पुनः कहते हैं कि 24 तीर्थकर भगवान् की वंदना, स्तवन करो। मनुष्य से गलती होना

स्वभाविक है। सामान्य व्यक्ति की, मुनि की बात तो दूर बाल्क 1 1 वें गुणस्थानवर्ती मुनि से भी गलती हो जाती है। इसीलिए वह भी 1 1 वें गुणस्थान से गिरकर 4, 6, 7 वें गुणस्थानों में नीचे आ जाते हैं।

इन गलतियों को सुधारने हेतु प्रतिक्रमण बताया। ऐसा नहीं कि मुनि-आर्यिकाओं के लिए यह वंदना, स्तवन सामयिक, प्रतिक्रमण है श्रावक-श्राविकाओं के लिए नहीं। ऐसा नहीं है। यहाँ तो जिसे अपने दोषों के प्रति ग्लानि है, अपने दोषों से मुक्त होना है वह चाहे मुनि हो या श्रावक सभी अपने कर्तव्यों को करें तभी पाप से बच सकते हैं। ऐसा नहीं है कि दोष श्रावक से ही लगते हो मुनियों से ना लगते हो या मुनियों को ही लगते हों श्रावक को ना लगते हों। संसार में रहते हुए हर प्राणी से गलती होती ही है।

जानन्नप्यात्मनस्तत्वं विविक्तं भावयन्नपि। पूर्व विभ्रमसंस्कारा दृभ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति॥

(स. तंत्र)

आत्मतत्व सत्य-तथ्य को जानते-मानते हुए भी कभी तीव्र कर्म के उदय से गलती, दोष हो जाते हैं लेकिन गलती को गलती मानकर उसकी निंदा-आलोचना गर्हा करके उसे दूर करना, पश्चात्ताप करना यही तो प्रतिक्रमण है यानि अपने दोषों के प्रति आक्रमण है। उन गलतियों को स्थान मत मिलने दो, तुरंत ही उनके ऊपर प्रति आक्रमण कर देना ही तो प्रतिक्रमण है। जिस प्रकार शत्रुओं से रक्षा हेतु सैनिक हमेशा सीमा पर सतर्कता के साथ तैनात रहते हैं उसी प्रकार प्रतिक्रमण में अपने दोषों का सतर्कता के साथ निंदा-आलोचना प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप के द्वारा सफाया किया जाता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म इन प्रबल प्रचण्ड शत्रुओं को प्रतिक्रमण के द्वारा परास्त किया जाता है। किस प्रकार से कैसे भावों को लेकर प्रतिक्रमण करना चाहिए जिससे पापों की निवृत्ति हो। इसके लिए गौतमगणधर ने मुनि प्रतिक्रमण की रचना की है। जीवे प्रमाद जनिताः प्रचुराः प्रदोषाः, यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति। तस्मात् तदर्थं ममलं मुनि वोधनार्थम्, वक्ष्ये विचित्रं भव कर्म विशोधनार्थम्। इस प्रतिक्रमण के द्वारा, जीवों के द्वारा प्रमाद से उत्पन्न होने वाले अनेक दोष क्षय को प्राप्त होते हैं, तथा अनेकों भावों से उपार्जित कर्मों का क्षण मात्र में नाश होता है। इसीलिए मल से रहित निर्मल प्रतिक्रमण को करना चाहिए। इस प्रतिक्रमण को करते समय अंतरात्मा से प्रायश्चित्त की आवाज आनी चाहिए तभी उस

प्रतिक्रमण करने का उद्देश्य, महत्व सफलता को पूर्ण करेगा वरना शब्दों के पढ़ लेने पर पापों की निर्जरा नहीं हो सकती है। अपने दोषों की आलोचना करते समय ये भाव अन्तरंग से उठने ही चाहिए कि हे भगवन!

पापिष्ठेन दुरात्मना जडिध्या मायाविना लोभिना
रागद्वेष मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्-निर्मितम्॥
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र! भवतः श्रीपाद-मूलेऽधुना।
निन्दापूर्वमहं जहामि सततं वर्वतिषुः सत्यथे॥

हे तीन लोक के अधिपति देव! मुझ पापी, दुष्ट, अज्ञानी, मायाचारी लोभी के द्वारा राग-द्वेष रूपी मल से मलीन मन के द्वारा जिन पाप कर्मों का उपार्जन किया गया है, उन पाप कर्मों को मैं अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी से सम्पन्न आपके चरण कमलों में निन्दापूर्वक छोड़ता हूँ। तथा अब सतत निरन्तर ही सत् मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति करता हूँ। जिनेन्द्र देव या गुरुदेव की साक्षीपूर्वक अपने समस्त पाप कर्मों को छोड़ता हूँ। हे जगत् के समस्त प्राणियों मेरा आपसे कोई वैर विरोध नहीं आप सभी मुझे क्षमा करे एवं मैं भी आपको क्षमा करता हूँ।

खम्मामि सब्ब जीवाणं सब्बे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सब्ब भूदेसु वैरं मञ्ज्ञं ण केणवि॥

संसार के सभी जीवों से मेरा मित्रता का भाव है। किसी भी जीव के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है। इसीलिए संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मेरा क्षमा भाव एवं समस्त प्राणी भी मुझे क्षमा करें। इस प्रकार अपने दोषों पापों की निंदा-आलोचना अन्तरंग भावों के साथ करते हुए संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, दया, करुणा, परोपकार वात्सल्य के भावों से परिपूर्ण करें। तथा पश्चात्ताप के आँसू आने चाहिए। जो अन्तरंग मन से अपने पापों के प्रति निंदा-आलोचना, ग्लानि करेगा उसकी आँखों से निश्चित ही पानी आ जायेगा। हे भगवन्!

हा ! दुट्टक्यं, हा ! दुट्ट चिंतिय, भासियं च हा ! दुट्टं।
अंतो - अंतोऽज्ञामि पच्छत्तावेण वेदंतो।

हा ! यदि मैंने काय से कोई दुष्ट कार्य किया हो। हा ! यदि मैंने मन से कोई दुष्ट चिन्तन किया हो। और हा ! यदि मैंने कोई दुष्ट वचन बोला हो तो मैं उन मन-वचन-काय की दुष्ट क्रियाओं को दुष्कृत-अशुभ समझता हुआ पश्चात्ताप

से जल रहा हूँ अर्थात् मेरे दुष्कृत मुझे अंतरंग से पीड़ित कर रहे हैं अतः हे जिनेन्द्र देव ! हे गुह्यदेव ! आपके चरणों की साक्षीपूर्वक इन पापों का त्याग करता हूँ।

दब्बे खेते काले भावे च कदावराह - सोहणयं।

णिंदण गरहण - जुत्तो मण-वच कायेण पठिक्कमणं॥

मैं द्रव्य-आहार-शरीर आदि से, क्षेत्र-वस्तिका, मार्ग, जिनालय आदि काल-भूत, भावी, वर्तमान् अथवा पूर्वान्ह, मध्यान्ह, अपरान्ह में किये गये अपने अपराधों की शुद्धि के लिए मन-वचन-काय पूर्वक प्रतिक्रमण करता हूँ। प्रतिक्रमण करने से, मन पूर्वक प्रायश्चित्त पश्चात्ताप करने से समस्त पाप कट जाते हैं। श्रेणिक राजाने इतना बड़ा पाप करके सप्तम नरकायु का बंध कर लिया था लेकिन बाद में अपने पापों के प्रति निंदा, आलोचना, प्रतिक्रमण करके सप्तम नरक की आयु काटकर प्रथम नरक की 84 हजार वर्ष की अल्प आयु व दःखों में सीमित कर लिया। इतना सीमित कर लिया कि एक स्थूल उदाहरण से आप समझें कि 33 बहुत बड़े सागर यानि 33 सागर वर्ष और उस विशाल सागर की 84 बूँद। यानि 84 हजार वर्ष और 33 सागर वर्ष का ये मोटा उदाहरण है।

मनोविज्ञान शास्त्रियों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि जिससे जो अपराध, गलती, दोष हो जाये उसीसे उस गलती अपराध को स्वीकार करवाना। वह स्वयं के अपराधों को जब खुले मन से कहेगा, कबूल करेगा तो उसके अपराध भी कम होंगे एवं उसे जो शारीरिक-मानसिक तनाव के कारण रोग आदि थे वह भी ठीक हो जायेंगे एवं संतुलन होने पर वह फिर इतने अपराध नहीं करेगा। अधिकाँशतः 99% रोग मानसिक तनाव के कारण ही होते हैं। परीक्षण, जाँच सूत्रों के द्वारा यह रिपोर्ट मिलती है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को कम हार्ट अटैक होता है। महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा अन्य रोग भी कम होते हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि महिलायें अधिक संवेदनशील, कोमल मन वाली होती हैं। वह अधिक समय तक किसी बात को अपने अन्दर नहीं रख पाती थोड़ी सी घटना घटित होते ही अपना दुःख रोकर निकाल देती हैं या अन्य किसी के सामने प्रगट करके अपना दुःख कम कर लेती हैं लेकिन यह कार्य पुरुष बहुत कम ही कर पाते हैं। जो विचार होते हैं उन्हें चेतन मन के अंदर स्टोरेज करता रहता है। जब स्टोरेज की जगह फुल हो जाती है उसमें और अधिक आने की गुँजाइश नहीं रहती तब एकदम विस्फोट होता है। यानि रोग के रूप में बाहर निकलते हैं। इसीलिए हमारे

आचार्यों ने यह सब बातें पहले से ही जान ली थीं। उनसे बचने हेतु उन्होंने यह सामायिक-प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त पश्चात्ताप, निंदा-आलोचना का विधान रखा। इसीलिए दोष होने पर दोषों को दूर करना चाहिए। जिस प्रकार तुम्हारा कपड़ा गंदा हो जाता है तुम उसे साबुन-पानी के माध्यम से धोकर साफ करते हो, हार या कोई अलंकार आभूषण आदि टृट जाने पर वापिस उसकी रिपेयरिंग करके ठीक करते हो उसी प्रकार प्रमाद या अज्ञानता वश जो भी दोष, अपराध हो जायें तो उसे दूर करके सुधार करना चाहिए। 'पच्यक्खाण' यानि दोष होने के बाद सावधान रहना आगे नहीं होने देना, सीमाबद्ध कर देना। जिन अपराधों से अशुभ आस्रव बंध हो रहा था उस अशुभ आस्रव-बंध को रोक देना आगे नहीं होने देना।

अंतिम है कायोत्सर्ग यानि काय + उत्सर्ग। काय = शरीर, उत्सर्ग = छोड़ना। अर्थात् शरीर के प्रति मोह, राग, आसक्ति का त्याग करना। यदि शवासन या खड़गासन, पद्मासन आदि आसनों से कायोत्सर्ग करते हो तो उससे खेद, तनाव, थकान, आलस्य, सिरदर्द आदि बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। यह मेरा 15 साल का प्रायोगिक अनुभव है कि जब मैं पढ़ाते-पढ़ाते अध्ययन करते-करते या विहार आदि के कारण थक जाता हूँ तो सामायिक आदि शवासन में करता हूँ तो मेरी थकान, आलस्यता दूर हो जाती है और मैं पुनः पूरी ऊर्जा-शक्ति के साथ अपना कार्य कर लेता हूँ। इसीलिए आप लोगों की जिस प्रकार की शक्ति, ऊर्जा हो उसी प्रकार के कायोत्सर्ग करके शक्ति को बढ़ाना चाहिए। इससे मन की पवित्रता बढ़ती है एवं कर्मों की निर्जरा होती है। शुभ का बंध होता है। इस प्रकार जो भी अपने कर्तव्यों का पालन अक्षुण्ण-सतत् रूप से प्रमाद रहित होकर करता है वह आगे जाकर तीर्थकर बनता है। अतः आज की आवश्यक-अपरिहारिणी भावना से हम सभी को यही शिक्षा लेनी चाहिए कि हम अपने कर्तव्यों का निर्वाह प्रमाद रहित करेंगे क्योंकि प्रमाद आदि लगने से अतिचार, अनाचार का दोष व्रतों में लगता है जिससे पुण्य के बजाय पाप का ही बंध होता है एवं स्व-पर का अकल्याण होता है सभी को मोक्षगति, तीर्थकर पद की प्राप्ति हो ऐसी निर्मल-पवित्र-शुभ भावनाओं के साथ विश्वम लेता हूँ।



17

मार्ग प्रभावना

रत्नग्रय रूपी ज्योति से स्व-पर को भावित
करने का कार्य करो

आत्मा प्रभावनीयो रत्नव्रय तेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥३०॥

(पुस्तकालय, सि. उ.)

निरन्तर रत्नव्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावना युक्त करना चाहिए और दान, तप, जिन पूजन और विद्या के अतिशय से अर्थात् इनकी वृद्धि करके जिन धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

अज्ञान तिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिन शासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्रभावना॥१८॥

(रत्न. श्रा.)

अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार का दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिन शासन के महात्म्य को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

जैसे अन्धकार को हटाने के लिये पहले स्वयं को दीपक जलाना अनिवार्य है वैसे अज्ञान रूप अन्धकार को हटाकर धर्म की प्रभावना करनी है तो पहले अपने अज्ञान रूप अन्धकार को हटाकर स्वयं को प्रकाशित करना चाहिए। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है—

“आद हिंद कादब्दं यदि चेत् परहिंदं कादब्दं”

पहले आत्म कल्याण करना चाहिए, सम्भव हो तो पर का भी कल्याण करना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने भी कहा था—

“आत्म दीपो भव, पर दीपो भव” पहले आत्मा रूपी दीपक को प्रकाशित करो फिर दूसरों को भी प्रकाश दो। इसीलिए धर्म की प्रभावना करनी है तो सर्वप्रथम रत्नव्रय रूपी आध्यात्मिक ज्योति से स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी आध्यात्मिक ज्योति बांटो। धर्म की प्रभावना करने के लिए दान, तपश्चरण, जिनेन्द्र-पूजन, विद्या आदि का अवलम्बन लेना चाहिए। उपरोक्त पढ़तियों से दूसरों को भी धर्मात्मा बनाकर धर्म की प्रभावना की जाती है।

जिस प्रकार वृक्ष की अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं उसी प्रकार सम्पदर्शन

की भी अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं। कुन्दकुन्द देव, अष्टपादुड में आठ गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

णिंदा गरुहा संवेग वेरग्य य उवसम भक्ति।

वत्सल पहावणा अट्टगुणा होदि सम्मते॥

(1) निन्दा, (2) गर्हा, (3) संवेग, (4) वैराग्य, (5) उवसम, (6) भक्ति, (7) वात्सल्य, (8) प्रभावना ये अष्ट गुण सम्पदर्शित के होते हैं।

सम्पदर्शित जीव स्वयं से जो दोष होता है उसकी आलोचना स्व-साक्षीपूर्वक, या देव, गुरु आदि पर साक्षीपूर्वक आलोचना करता है, किन्तु वह स्वयं की तो आलोचना करता है परन्तु दूसरों की आलोचना नहीं करता है क्योंकि वह सोचता है कि “स्वयं की आलोचना करने से कर्मों की निर्जरा होती है एवं आगे के लिए दोषों से निवृत्ति होती है। परन्तु दूसरों की निंदा करने से पाप बन्ध होता है तथा परस्पर में वैरत्व भाव की सृष्टि होती है। इतना ही नहीं मैं स्वयं दोषी होकर दूसरों की समालोचना क्यों करूँ?” और कहा भी है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।

जो दिल खोजा अपना, मुझसे बुरा न कोय॥

जब एक व्यक्ति दूसरों की ओर अँगुली करके संकेत करता है तब तीन अँगुली यह संकेत करती है कि हे पापी! तुम उससे भी तीन गुने अधिक पापी हो।

सम्पदर्शित संवेग, वैराग्य सम्पन्न होने के कारण संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर धर्म में अनुरक्त होता है। उसकी कषायें उपशमित होने के कारण वह थोड़ी-थोड़ी बात में क्षुब्ध होकर कलह-झगड़ा वाद-विवाद नहीं करता है। वह साक्षात् वात्सल्य की जीवन्त-मूर्ति बनकर स्व प्रभावना के साथ-साथ धर्म की भी प्रभावना करता है।

सम्पदर्शन के आठ अंग में विशेष करके—निःशंकित, निःकांकित, निर्विचिकित्सा, अमृद्गदर्शि अंग स्वात्मनिष्ठ हैं तथा उपगृहन, रिथ्तिकरण, वात्सल्य, प्रभावना, समाजनिष्ठ हैं। अर्थात् पहले के चार अंग व्यक्तिगत हैं और अन्त के चार अंग समाजगत हैं। पहले के चार अंगों से स्वयं का निर्माण तथा स्वयं को आदर्श बनाता है तथा अन्त के चारों अंगों के माध्यम से समाज के साथ जुड़कर समाज का निर्माण एवं उसको आदर्श बनाता है।

सम्पदर्शन का भी फल स्व-पर कल्याण करता है। कुन्दकुन्द देव मूलाचार में

सम्पर्जन के कार्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासने॥ 332॥
येन रागाद्विरज्यते येन श्रोयासि रज्यते।
येन मैत्रीं प्रभावयेत् तज्जानं जिनशासने॥

जिससे राग से विरक्त होता है जिससे श्रेय मार्ग में रमण होता है एवं जिससे मैत्री-प्रभावना होती है उसे जिनशासन में ज्ञान कहा है।

जिन शासन में अहिंसा प्रधान होने के कारण एवं अहिंसा के अन्तर्भूत दया, प्रेम, समता, करुणा, साम्यभाव होने के कारण, जैन धर्म सबके साथ प्रेम, मैत्री, सहकार, संगठन के साथ जीना सीखता है। यदि जैन धर्मावलम्बी होने पर भी उपरोक्त गुण नहीं हैं तो वह चर्थार्थ से जैन धर्मावलम्बी नहीं है। फूट डालना, कलह करना झगड़ा करना ये दुर्जनों का कार्य है सज्जनों का काम नहीं है। नीतिकारों ने कहा भी है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां पर पीड़नाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

दुर्जन लोग विद्या प्राप्त करके वाद-विवाद कलह करते हैं धन को प्राप्त कर घमण्डी हो जाते हैं तथा शक्ति प्राप्त कर दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं। परन्तु सज्जन लोग विद्या प्राप्त करके ज्ञानी बनते हैं, धन प्राप्त कर दानी होते हैं, शक्ति प्राप्त कर दूसरों की रक्षा करते हैं।

संगठन से कार्य सम्पादन

एक जंगल में थोड़ी दूर पर दो कुटियाँ थीं। एक समय दैवात् जंगल में आग लग गई। आग भयंकर रूप धारण करके जंगल को जलाती हुई कुटीया की ओर बढ़ रही थी। दोनों कुटियों में अन्धा एवं पंगु दो मनुष्य थे। पहली कुटीया का पंगु आग को देखकर सोचता है कि मेरी मूल्य इस अग्नि से ही हो जायेगी, इसलिए यहाँ से भाग निकलना चाहिए, किन्तु पंगु होने के कारण वहाँ से निकल कर जाने से लिए असर्मर्थ हुआ। इस कारण वह उस अग्नि से जलकर भ्रम हो गया। उस कुटी में स्थित अन्धे ने आत्मरक्षा के लिए इधर-उधर भाग दौड़ की परन्तु अन्धा होने के कारण योग्य मार्ग से निकल नहीं पाया और अग्नि में जलकर जीवन

लीला समाप्त कर दी।

कुछ दूर स्थित कुटी में रहने वाले अन्धे एवं पंगु दोनों विचार करते हैं कि इस अग्नि से बचने का क्या उपाय है। विचार विमर्श के बाद अन्धा पंगु से कहता है— “हे भाई ! मैं देख नहीं पाता, किन्तु चल सकता हूँ तथा आप देख सकते हैं किन्तु चल नहीं सकते हैं। इस अवस्था में हम दोनों अग्नि में भ्रम हो जायेंगे। अतः इससे रक्षण के लिए आप मेरे कन्धे पर बैठिये एवं योग्य मार्ग प्रदर्शन करिए जिससे मैं आपको कन्धे पर लेकर जंगल को पार कर निरापद नगर में प्रवेश कर सकूँ।” इससे पंगु खुश होकर अन्धे के कन्धे पर बैठता है और मार्ग प्रदर्शित करता है, जिससे दोनों जंगल को पार कर सुरक्षित नगर में प्रवेश करते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है—

संजोगमेवेति वंदति तण्णा नेवेक्क चक्केण रहो पयादि।

अंधो य पंगु य वर्णं पविट्ट्या ते संपन्नुता णयरं पविट्ट्या॥ 892॥

संयोग से ही कार्य होता है— ऐसे तज्ज्वलित (उस विषय के विशेष ज्ञानी) कहते हैं। जैसे एक चक्र से रथ प्रयाण नहीं करता है, उस रथ के प्रयाण के लिए एकाधिक चक्र की आवश्यकता होती है। जैसे अन्धा और पंगु जंगल में प्रवेश हुए थे और दोनों परस्पर सहयोग से जंगल से निकलकर नगर में सुखपूर्वक पहुँच गए।

प्रभावना के लिए चार प्रकार के दान देना चाहिए। परन्तु कुछ व्यक्ति उस समय, उस क्षेत्र में दान देंगे जिससे अधिक से अधिक भीड़ हो, अधिक से अधिक अहंभाव को पोषण तत्व मिले और अधिक से अधिक लौकिक लाभ हो। ऐसे व्यक्ति आहारदान, ज्ञानदान में कम खर्च करेंगे परन्तु जब अधिक से अधिक भीड़ रहती है ऐसे सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक मेला, सभा रैली, पंचकल्याक, पूजा, उत्सव, पर्व में बोली लेकर रूपये देंगे। कोई मंदिर में सफेद संगमरमर का एक १०० रूपये का पत्थर लगायेगा तो उसमें परिवार के इतने नाम लिखायेंगे कि जिससे पत्थर ही काला हो जायेगा और पत्थर के लागत मूल्य से कुछ कम वेशी खर्च नाम लिखने में ही लग जायेगा। यदि कोई ट्यूब लाईट दान में देता है तो उसमें काँच में इतनी प्रशस्ति लिखायेगा जिससे प्रकाश ही मन्द पड़ जाता है।

जहाँ विशेष करके ईट, पत्थर, इकड़े किये जाते हैं। ऐसे धर्मशाला, संस्थादि के लिये अनाप-शनाप खर्च करेंगे, क्योंकि इस शिला में अपना शिलालेख अपने

'अहं' को बहुत काल तक संतुष्ट करेगा परन्तु सत्साहित्य, सम्यग्ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये दान नहीं करेंगे क्योंकि इस ज्ञानदान से अपनी अहंवृत्ति की पुष्टि अधिक नहीं होती है। जिस जैन धर्म के अनुसार नौकर, गृहपालित पशु पक्षियों की व्यवस्था, देख-भाल भोजन कराने के बाद गृह स्वामी भोजन करता है उसके कुछ अनुयायी माता-पिता की व्यवस्था सेवा तक भी समुचित रूप से नहीं करते हैं। नौकरों की भी समुचित व्यवस्था नहीं करते तथा योग्य वेतन तक नहीं देते हैं। जिस नौकर को सरकार या अन्य धर्मानुयायी के मालिक जितना वेतन देते हैं उसके अनुपात से ये बहुत कम देते हैं।

प्रकृष्ट/उत्कृष्ट/उदार/निर्मल/पवित्र/साम्य भाव को प्रभावना कहते हैं। प्रभावना पहले स्वयं में होती है, उसके अनन्तर उसका प्रचार-प्रसार विभिन्न माध्यम से किया जाता है। रत्नब्रय रूपी प्रकाश को पहले स्वयं में प्रकाशित करना चाहिए उसके बाद दूसरों को प्रकाशित करना चाहिए। जैसे जो दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होता है वही दीपक दूसरों को प्रकाशित करता है। बुझा हुआ दीपक न स्वयं को प्रकाशित कर सकता है न दूसरों को प्रकाशित कर सकता है। प्रभावना के अनेक कारण / कारक / उपाय होते हैं ? जैसे— दान, पूजा, उपवास, ज्ञान / उत्सव / सांस्कृतिक कार्यक्रम / रथयात्रा/ पंचकल्याणक / वेदी प्रतिष्ठा / तीर्थयात्रा / सत्साहित्य / धार्मिक पत्रिका आदि आदि। परन्तु पवित्र / प्रकृष्ट भावना या महान—उदार उद्देश्य के बिना उपरोक्त कारण / कारण भी वस्तुतः प्रभावना के अंग/उपाय नहीं बन सकते हैं। जैसे— अंकुरोत्पत्ति शक्ति से रहित बीज को कितना भी पानी, खाद, औषध देने पर भी उस बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती है। अन्तरंग अच्छी भावना से रहित बाह्य प्रभावना की शोभा उसी प्रकार है जिस प्रकार शव-यात्रा की शोभा है। नाम बढ़ाई काम के लिए जो दानादि बाह्य प्रभावना करते हैं उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

कुछ व्यक्ति माता-पिता—भाई—बहन सेवा/सुश्रुषा/व्यवस्थाके लिए तो वेपरवाह है, यहां तक कि अपने ग्राम, नगर में आगत उत्तम पात्र स्वरूप मुनि, आर्यिका आदि को दान—मान—समान नहीं देते हैं, ग्राम के मंदिर में पूजा, दर्शनादि नहीं करता है वो भी पंचकल्याणकादि में भीड़ देखकर लाखों रूपयों की बोली लेता है।

देवदर्शन तीर्थयात्रा, पूजा, पंचकल्याणकादि का मुख्य उद्देश्य ख्वदर्शन, अन्तर्यात्रा, स्वकल्याणक के लिए है। अभी अनेक व्यक्ति धर्मकार्य को धनकार्य,

परमार्थ को अर्थापार्जन उपाय रूप में प्रयोग कर रहे हैं। अभी पंचकल्याणक तो पंचों के कल्याण (कमेटी वालों की स्वार्थ सिन्दृ) रूप में हो रहा है। वहाँ विशेषतया, धर्म के नाम पर धन की पूजा, धर्मी के नाम पर धनी की पूजा, प्रभावना के नाम पर बाह्य—आडम्बर, मनमंजन भाव निर्मलके स्थान पर मनोरंजन (बैण्ड पार्टी, संगीत—नाटक कार्यक्रम के अतिरेक) पंचकल्याणक की मूल क्रिया के स्थान पर बोली, धनी व्यक्तियों की मान—सम्मान की क्रिया होती है। धार्मिक कार्य के नाम पर पहले शोषण भी करते हैं और जो यात्री उस कार्यक्रम में आते हैं उनकी व्यवस्था नहीं करते हैं और व्यवस्था धनी की करेंगे तथा साधारण व्यक्ति की करेंगे तो शोषण करने के लिए। उसी प्रकार बड़े—बड़े तीर्थस्थान की भी महिमा है। जो व्यक्ति बोली में लाखों रूपये खर्च करते हैं वे भी सत्साहित्य प्रकाशन प्रचार—प्रसार के लिए धार्मिक विद्यालय—शिविर के लिए 10—20 रूपये भी दान में नहीं देंगे। मंदिर, धर्मशाला, मूर्तिनिर्माण, पंचकल्याण जरूर करना चाहिए परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक है ज्ञान—प्रचार, बच्चों में संस्कार, स्वयं का निर्माण।

आज जैसे लोग करोड़ों, अरबों रूपये निर्जीव मूर्ति को भगवान बनाने में खर्च करते हैं परन्तु हजारों रूपये भी सजीव बच्चों को संस्कार से महामानव या भगवान बनाने में खर्च नहीं करते हैं। मैं मंदिर, मूर्ति, पंचकल्याण का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु व्यर्थ खर्च, बाह्य आडम्बर का अवश्य विरोधी हूँ। कुछ त्यागी—ब्रती, आचार्य, उपाध्याय, साधु—साध्वी और पंडित, प्रतिष्ठाचार्य भी आडम्बर बोली आदि आगम विरुद्ध कार्य को करते, करवाते हैं। उनकी निन्दा जैन पत्रिकाओं तकमें बार—बार आती हैं परन्तु वे वैसे कार्य समाज के लिए करके निन्दा के पात्र बनते हैं। कुछ निहित स्वार्थी व्यक्ति भी अपनी स्वार्थसिन्दृ के लिए साधु का इस्तेमाल करते हैं एवं स्वार्थ सिन्दृ के बाद वे भी उन साधु आदि की निन्दादि करते हैं तथा साधुकी सेवा / व्यवस्था भी नहीं करते हैं।

धर्म की प्रभावना तथा संगठन /प्रेम के लिए संस्था / सभा / समिति, मण्डल, मिलनादि का जन्म हुआ है परन्तु इनके माध्यम से भी समाज में फूट, वैमनस्य, द्वेष, धृणा, ईर्ष्या, वैरत्व अधिक से अधिक बढ़ रहा है। वे अंग्रेजों की नीति “फूट डालो राज करो” को पूर्ण चरितार्थ करते हैं। संगठन की शक्ति ऐसी एक शक्ति है जिससे कष्टसाध्य कार्य भी सुख साध्य हो जाता है। इसलिए कहा है ‘‘संघे शक्ति कलौ युगे’’ अर्थात् कलियुग में संघ / संगठन / एकता में शक्ति है। इसलिए कहा

है— By uniting we stand, by dividing we fall. अर्थात् संगठन से हम उन्नति कर सकते हैं / प्रभावना कर सकते हैं, जीवित रह सकते हैं एवं विघटन से मर जायेंगे, मिट जायेंगे। इसलिए मेरी कृति 'संगठन के सूत्र' में मैंने लिखा है—

संगठन है अमृततत्त्व, जीने और जिलाने का।

विघटन है ऐसा तत्त्व, मरने और मारने का॥

मैंने जो भारत तथा विशेष करके जैन धर्मानुयायियों के दुर्बलबिन्दुओं का अनुभव किया है वह है असंगठन / अप्रेमभाव / फूट / अन्तःकलह है। इसलिए तो कर्नाटक के अजैन बन्धु जैनियों को उलाहना देते हुए कहते हैं— 'डोम्बरु कोडुदिल्ला केढ़रु, जैनरु कोडुदाग के ढूरु'। अर्थात् डोम्ब यदि मिलें नहीं तो खेल नहीं दिखा सकते हैं इसलिए नहीं मिलना, संगठित नहीं होना उनके लिए आपत्ति जनक है परन्तु जैन मिलें तो झगड़ा करते हैं, इसलिए जैनियों को एक साथ नहीं मिलना चाहिए। इसलिए संगठन के लिए मैंने निम्नोक्त एक दोहा बनाया है।

हम सबके, सब हमारे यह ही एकता का नारा है।

आत्मवत् भाव सर्व भूतेषु, यह मंत्र सबसे प्यारा है॥

धर्म की प्रभावना के लिए अनेक जैन पत्रिकायें निकलती हैं परन्तु उसमें विशेषतः स्व की प्रशंसा एवं दूसरों की निन्दा निकलती है तथा विज्ञापन की आड़ में धन प्रभावनार्थ व्यसन प्रभावना करते हैं और आड़बर, चुटकी, गुटका, शीतल पेय जलादि से अलौकिक सुख व ताजगी दिलाना चाहते हैं। किसी से भूल होने पर रिथितिकरण, उपगृहन, वात्सल्य, प्रभावनादि अंग के अनुसार उसकी भूल सुधार करना अवश्य चाहिए परन्तु पत्रिका में नाम देकर निन्दात्मक लेख नहीं निकालना चाहिए। इससे स्वयंकी, दोषी की, धर्म की अप्रभावना होती है। जैसे—माता, पुत्री आदि के गुप्तांग में रोग होने पर उसकी योग्य चिकित्सा एकान्त में करना चाहिए परन्तु सबके सम्मुख खोलकर उस अंग को नहीं दिखलाना चाहिए। सामान्य रूप से नाम दिये बिना गुण दोष की समीक्षा, समाधान पत्रिका में देना चाहिए इससे रचनात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है परन्तु नाम देने से विपरीत प्रभाव पड़ता है।

आत्मकल्याण के लिए व्रत—नियम—दीक्षादि योग्यपात्र को अवश्य देना चाहिए परन्तु अयोग्य पात्रको नहीं देना चाहिए। क्योंकि जैन धर्म, जैन व्रत, जैन दीक्षा 'स्वैराचार विरोधिनी' है। जैसे—आहारादि दान कुपात्र को देने से विपरीत फल मिलता है इस कार्य से उससे भी अधिक भयंकर फल इहलोक में पर लोक में

गुरु, शिष्य समाज को मिलता है। लोभ से शिष्य बनाना भी सचित परिग्रह है एवं परिग्रह पाप कारण है, एवं पाप पतन का कारण है। आचार्य—उपाध्याय, साधु—साध्वी, ध्रुल्लकादि का मुख्य कर्तव्य है कि, ध्यान—अध्ययनादि से आत्मकल्याण करना तथा समयानुसार परोपकार भी करना। परन्तु आत्मकल्याण को छोड़कर ख्यात्म सिद्धिको छोड़कर प्रसिद्धि के लिए संरथा, चंदा, चिद्वा में नहीं लगना चाहिए। क्योंकि इसमें परिग्रह संचय / संरक्षणादि होता है, रागद्वेष होता है, निन्दा प्रशंसादि होती है जो कि आत्म पतन के कारण हैं। इसी प्रकार परिग्रह गाड़ी, चौका, नौकादि नहीं रखना चाहिए। मंत्रादि का प्रयोग स्वार्थ के लिए नहीं करना चाहिए, परन्तु धर्म की प्रभावनार्थ कर सकते हैं।

धर्म की प्रभावना के लिए चरित्रभ्रष्ट राज नेताओं को धार्मिक कार्यक्रम में निमंत्रण देना वर्तमान में आधुनिकता, फैसन, गौरव, स्वार्थसिद्धि, भीड़ इकट्ठा करने का साधन मानने लगे हैं। यदि कोई कार्यक्रम में नेता, अभिनेता, (संगीतकार, नाटककारादि) नहीं आते हैं तो उस कार्यक्रम को फीका मानने लगते हैं। उसके लिए भेड़चालों की भीड़ भी लगती है। सहज रूप से यदि धर्म की भावना लेकर आते हैं उन्हीं हा स्वागत करो, न कि अपनी प्रदर्शनी / प्रसिद्धि / प्रभावना के लिए या आपकी स्वार्थसिद्धि के लिए आते हैं उनका / मेरा भाव यह नहीं है कि पंचकल्याणादि न करें, दानादि न दें परन्तु धर्म भाव से करें। पंचकल्याणादि में जो आवश्यक कार्य, खर्च हैं उसके लिए स्वार्थत्याग / दानभाव / सेवाभाव से स्वशक्ति के अनुसार प्रदर्शन के बिना, तन, मन, धन समय से सहकार करें, योगदान दें। जो जितना अधिक से अधिक योगदान करेगा उसको उतना ही धर्म लाभ/ पुण्यलाभ होगा। यही उसका प्रतिफल है।

साधु आदि के पिछ्छी, कमण्डल, केशलोंच, शास्त्रादि उपकरण की बोली ने स्वयं लगाए, न लगवाएं और न श्रावक को लगाने दें बल्कि जो व्रतादि स्वीकार करेगा उसके हाथों से समर्पण करवाना चाहिए। साधु को अपनी प्रसिद्धि के लिए जन्म जयन्ती नहीं मनवाना चाहिए। साधु विश्व के सर्वश्रेष्ठ आदर्श पुरुष होते हैं उन्हें कलंकित नहीं करना चाहिए। अन्य धर्मात्माओं को भी साधुओं को आदर्श रखना चाहिए एवं नहिं की सेवा करनी चाहिए।

साधु व्रती के बाद पंडित का स्थान महत्वपूर्ण है परन्तु अनेक पंडित जिनवाणी माता को बेचते रहते हैं एवं पंथवाद को उकसाते रहते हैं। 'विद्या ददाति विनयं'

के विपरीत इनका एक मुख्य लक्षण अहंकार है। उनका जीवन साधारण जन से भी पतित, निन्दनीय, अंधकारपूर्ण रहता है। वे उपदेश देते हैं 'टन भर', सुनते हैं 'मन भर', ग्रहण करते हैं 'क्षण भर', चलते हैं न 'कण भर'। नीतिकार ने कहा भी है—

**सुलभा धर्मवक्तारो यथापुस्तक वाचकाः।
ये कुर्वन्ति स्वयं धर्म विरक्तास्ते महीतते॥**

विश्व में पुस्तक पढ़ने के समान धर्म का उपदेश करने वाले सुलभ हैं परन्तु जो स्वयं धर्म का आचरण करते हैं वे दुर्लभ होते हैं। जैन धर्म एक सार्वभौम, स्वातंत्र्य, वैज्ञानिक, गणितीय, 'सर्वजनहिताय सर्व जन सुखाय', त्रिकाल अवधित, वस्तु स्वभावात्मक धर्म है। जैन धर्म में विश्व के समस्त ज्ञान-वैज्ञान, कला-विद्या विभिन्न विधाओं के सूत्र भरे हुए हैं। परन्तु इस वैज्ञानिक, तार्किक, शोध-बोध के युग में भी जैन साधु, साध्वी, श्रावक-पंडितादि कोई विशेष युगानुकूल वैज्ञानिक शोध करके धर्म का प्रचार नहीं कर रहे हैं, रटे-रटैया, घिसे-पिटैया, लकीर के फकीर बनकर रुढ़िवादी बनते हैं। विज्ञान के पास प्राचीन विरासत नहीं होने पर भी, अन्य मत मतान्तर में वैज्ञानिक तथ्य अधिक नहीं होने पर भी उसके अनुयायी जितने आगे बढ़ रहे हैं इसके अनुपात में जैनियों की गति अति ही मंद है और जो इस शोधपूर्ण कार्य को कर रहे हैं उसको भी विशेष सहायता या सराहना नहीं मिल रही है।

वर्तमान में भीड़ को प्रभावना मानते हैं, अच्छी बोली होने पर अच्छा पंचकल्याण मानते हैं, शादी, विवाह, प्रीतिभोज (पार्टी) में मद्यपान, धुम्रपान वेश्यानाच, ब्लू फिल्म देखने को आधुनिकता मानते हैं। हिंसात्मक प्रसाधन यथा—नेलपालिस, लिपरिटक, सेम्पू, चर्म की वस्तुओं का प्रयोग, होटल, बाजार में खड़े होकर खाना, बफर सिस्टम, बाजार में लावारिस के समान धूमने को फैशन मानते हैं, आधुनिक जैनियों के आधुनिक कर्तव्य निम्न प्रकार हो गये हैं—

**पेटपूजा धनोपास्ति सिंगरेट बुटपालिश।
होटलं सिनेमाश्चेति षट्कर्माणि दिने-दिने॥**

अतः उनके उद्देश्य स्वभावादि निम्न प्रकार हैं—

If Character is lost nothing is lost.

If health is lost, some thing is lost.

But if Wealth is lost every thing is lost.

'सत्य, अहिंसा और प्रेम से वस इतना हमारा नाता है।

'दीवारों पर लिखवा लेते हैं; दीवाली पर पुतवा देते हैं।'

वर्तमान काल में अधिकांश व्यक्ति निम्न कारणों से धर्म करते हैं—

भयं दाक्षिण्य कीर्ति च लज्ज्या आशा तथैव च।

पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते॥

पंचम काल में लोग जैन धर्मको (१) लोकभ्य से (२) अपनी योग्यता के प्रदर्शन के लिए (३) कीर्ति के लिये (४) लज्जा से (५) आशा से पालन करेंगे।

परन्तु विशेष ध्यान योग्य विषय यह है कि जैन धर्म की धारा पंचमकाल के अंत तक अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी। अतः स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इस अवधि में भी धार्मिक व्यक्ति होते रहेंगे भले उनकी संख्या एवं मात्र कम क्यों न हो। इस विपरीत काल में भी जो व्यक्ति सच्चे हृदय से धर्मपालन करेंगे वे अत्यन्त महान हैं। क्योंकि अनुकूल स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल है परन्तु प्रतिकूल स्रोत में खेकर ले जाना दुष्कर है। इसलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि चतुर्थ काल की 100 वर्ष की तपस्या के बराबर पंचमकाल की 1 वर्ष की तपस्या है। अर्थात् चतुर्थकाल में जिस धर्म कार्य को करने से जितना फल मिलता था वर्तमान में उस धर्म का एक शतांश करने पर वही फल मिलेगा। इसलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है—

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽयापि काले कलौ।

निस्तीर्थेश्वर के वले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये।

त्रुट्यच्छोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।

श्री जिनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यतम्॥

वर्तमान धोर पंचम कलिकाल में तीर्थकर, केवली, अवधि, मनः पर्यय जैनियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है, विशेष वैभव से रहित दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य हैं। इस प्रकार विपरीत (विषम) कलियुग में भी श्री जिनेन्द्र देव के बचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यंत अभिनंदनीय, अभिवंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

“असतोर्मा सदूगमयः।
तपसोर्मा ज्योतिर्गमयः।
मृत्योर्मा अमृतं गमयः।”

हे करुणामय पतित पावन भगवन् ! मुझे असत् (मिथ्या) से सत् (सम्यक्) की ओर ले चलो। अज्ञान रूपी मोहांधकार से ज्ञान रूपी ज्योति की ओर ले चलो। संसार रूपी मृत्युलोक से मोक्ष रूपी अमृत लोक की ओर ले चलो।

18

प्रवचनवत्सलत्व

वात्सल्य - संगठन है प्रभावना का सूत्र

रक्षाबंधन के अवसर पर आचार्यरत्नश्री कनकनंदी जी गुरुदेव ने धर्मसभा को संबोधित करते हुए कहा कि देश-विदेश में अनेकों प्रकार के पर्व होते हैं। भारत देश धर्म प्रधान देश होने के कारण यहाँ धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक आदि अनेकों प्रकार के पर्व मनाये जाते हैं। आज हम दो पर्व एक साथ मना रहे हैं। यह पर्व राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक पर्व है। वैसे आज का पर्व वस्तुतः गुरु का पर्व है न कि भाई का। लेकिन आज धर्म, कर्म, रीति रिवाज, पर्व-परम्परायें, शिक्षा, कानून आदि सभी में विलोमीकरण हो गया है। इसीलिए विनाश अपनी चरम सीमा के साथ बढ़ रहा है। हम व्यक्तिवाद को अधिक महत्व देते हैं न कि साम्यवाद, समाजवाद को। यही हमारी संकीर्णता कृपमण्डूकता की निशानी है जो कि हर दृष्टि से हरक्षेत्र में हानिकारक है। हम सभी जब तक सामूहिक रूप से संगठित नहीं होंगे तब तक विकास नहीं हो सकता। संगठन में अपार बल है।

पर्व विशेषत: सामूहिक कल्याण हेतु होता है न कि केवल व्यक्तिगत कल्याण हेतु। पर्व का उद्देश्य, महत्व, परिभाषा का ज्ञान होना चाहिए। पर्व क्या ? पोर, गाँठ जिस प्रकार बाँस या गने में गाँठ होती। वह गाँठ दो भागों को जोड़ती है। इसी प्रकार ऋषि, मुनि, साधु संतों ने जो आविष्कार किया उससे उन्होंने सभी को जोड़ा जैसे धर्म में राजनीति तो राजनीति में धर्म, धर्म में कानून, कानून में धर्म, धर्म में विज्ञान, विज्ञान में धर्म, इतिहास में धर्म, धर्म में इतिहास। इस प्रकार सभी विषय एक दूसरे के पूरक होना चाहिए। लेकिन ये सभी पर्व-परम्परायें, रीति-रिवाज आगे चलकर विकृत परम्पराओं में परिणत हो गयी। जैसे दीपावली

को दिवालिया बना दिया, ज्ञान-लक्ष्मी की पूजा के, बजाय भौतिक लक्ष्मी की पूजा करते हैं। ज्ञानरूपी दीपक जलाकर तो प्रकाश नहीं फैलाते बल्कि जुआ खेलकर अंधकार फैलाते हैं। इस प्रकार पहले-पहले ये पर्व-परम्परायें सही रूप में विकसित होते हैं लेकिन धीरे-धीरे विकृतरूप ले लेते हैं। जैसे गंगा जहाँ से निकलती है वहाँ अत्यन्त पवित्र पावन होती है लेकिन जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है अपावन हो जाती है। ऐसे ही पर्व पवित्रता से ही बनता है लेकिन आगे जाकर रुद्धियों में विकृत हो जाते हैं। रक्षाबंधन किसकी रक्षा ? किसका बंधन ? धर्म, श्रमण, साधु साधकों की रक्षा करना कर्तव्य रूपी सूत्रों के द्वारा।

अनेक प्रकार के रेशों से मिलकर जिस प्रकार धागा बनता है उसी प्रकार हम भी संगठन में बंधकर संगठित होते हैं। बंधन कैसा ? आत्मा के ऊपर, अहिंसा, प्रेम का बंधन। नदी के दो तटों से ही नदी की सुरक्षा होती है वरना बाढ़, विप्लव होकर पानी इधर उधर हो जायेगा। इसी प्रकार हम भी प्रेम, सौहार्द, संगठन, एकता के सूत्रों में नहीं बंधेगे तब तक सुरक्षित नहीं रह सकते।

परम्परा, गुण, नियम को धारण करने के लिए सूत्रों की आवश्यकता होती है। आज रक्षाबंधन का दिन है। रक्षा करने का दिन है। भारतवासी हजारों वर्षों से यह पर्व मनाते आ रहे हैं फिर भी भारतवासी, असुरक्षित हैं क्योंकि इस पर्व के महत्व को भूल गये हैं, रक्षा के महत्व को भूल गये हैं। इस बात को देखकर वह पुराना इतिहास याद आता है जब हिन्दू रानी कर्मवती ने मुस्लिम बादशाह हुमायूँ को रक्षासूत्र भेजकर भाई माना। रक्षासूत्र देखकर मुरिलम बादशाह गद-गद हो गया कि एक हिन्दू महिला मुझे भाई माने इससे बढ़कर और सौभाग्य मेरे लिए क्या हो सकता है ? वह उस समय एक युद्ध में संलग्न था विजयश्री उसके समुख थी लेकिन रक्षासूत्र की रक्षा हेतु वह राजस्थान चला आया और बहिन कर्मवती के सतीत्व की रक्षा की यही है उच्च मानवता, रक्षा का संकल्प आज का यह पर्व बहिन ने भाई की कलाई पर दो-चार रूपयों की राखी लाकर बाँध दी उसका नहीं है बल्कि आज का यह पर्व ऊँचे संकल्पों, आदर्शों को हृदय में बसाने का पर्व है।

इस पवित्र पर्व रक्षा बंधन में अहिंसा की भावना, दया, क्षमा, करुणा, वात्सल्य, संवेदनशीलता की भावनायें निहित हैं। राखी के धागे मानवता को जगाने के लिए हैं। जब हमारे सामने किसी की रक्षा का प्रश्न आता है तो उस समय जाति, कुल

आदि का विचार त्यागकर उसकी तन-मन-धन की एकाग्रता पूर्वक रक्षा करनी चाहिए। वैदिक साहित्य एवं जैन साहित्य में इस पर्व की कथा का इतिहास लगभग समान ही है। इस पर्व की परम्परा कब से, कहाँ से, किस प्रकार प्रारम्भ हुई जैन शास्त्रानुसार इसको बताऊँगा। जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में आर्य खण्ड है। उस आर्य खण्ड में हस्तिनापुर नामक नगर है। उस नगर में नीतिनिपुण, प्रजावत्सल महापद्म मेघरत नामक धार्मिक राजा था। इसके पदमावती नाम की रानी सभी गुणों से सुसम्पन्न थी। उसके विष्णुकुमार व पदमराज नामक दो पुत्र थे। वे दोनों ही हर प्रकार के गुणों से सम्पन्न एवं हर विद्या में प्रवीण, पारंगत थे। कुछ दिनों बाद विष्णुकुमार को इस असार संसार से बैराग्य हो गया और उन्होंने श्रुतसागर मुनि से दिग्म्बरी दीक्षा ग्रहण करके कठिन तपस्या करके, विक्रिया ऋषि को प्राप्त कर लिया।

इधर उम्मीनी का राजा, श्री वर्मा, अपनी प्रजा सहित राजसुखों को भोग रहा था। उसके बलि, वृहस्पति, प्रह्लाद, नमुचि ऐसे चार मंत्री थे। ये चारों ही मिथ्यादृष्टि थे। उन चारों के बीच राजा चंदन के समान था क्योंकि राजा के सामने उन चारों मंत्रियों की कुछ नहीं चलती थी। एक दिन अकम्पनाचार्य नामक मुनि अपने 700 मुनि संघ को लेकर नगर के बाहर उद्यान में आ गये। तब वे निमित्तज्ञान से इस नगर की अवस्था हानिकारक है, ऐसा समझकर उन्होंने अपने संघ को कहा तुम इस नगर में किसी के साथ बाद-विवाद मत करना। क्योंकि संघ के ऊपर बड़ी आपत्ति आने की संभावना है। इस प्रकार गुरु की आज्ञा सुनकर सभी शिष्य मौन धारण करके बैठ गये परंतु उसमें श्रुतसागर नामक एक मुनि आहार हेतु नगर में गये थे। गुरु ने नगर में जाने के लिए मना कर दिया था पर उनको मालूम नहीं था। मुनि संघ के आने का समाचार नगर में मालूम होते ही राजा अपने मंत्री तथा परिवार के साथ मुनि के दर्शन करने गया। राजा ने अत्यन्त भक्तिभाव से उन मुनिराजों की तीन प्रदक्षिणा देकर, नमस्कार भक्ति की परंतु सभी मुनि गुरु आज्ञा के अनुसार मौन लेकर अपने ध्यान में मग्न रहे। किसी ने किसी को आशीर्वाद नहीं दिया। राजा ने समझा ये सभी मुनिश्री ध्यान में मग्न हैं, ऐसा समझकर नगर में लौट गया। किंतु रास्ते में मंत्री आदि कहने लगे ये मुनि मूर्ख हैं अपनी मूर्खता छिपाने हेतु मौन का बहाना लेकर बैठे हैं। इस प्रकार उन्होंने मुनियों की एवं धर्म की निंदा की। इधर श्रुतसागर मुनिश्री नगर से आहार करके वापिस आ रहे थे

तो बाल आदि मंत्रियों की नजर उन पर पड़ी। उनको देखकर मंत्री राजा से कहने लगा कि देखो दोंगी साधु बैल के समान आहार लेकर आ रहा है। उनके बचन सुनकर मुनिश्री बोले— हे मंत्री ! तुम अपने ज्ञान की व्यर्थ हो प्रशंसा मत करो, नहीं तो तुम हमारे साथ शास्त्रार्थ करो। तब तुमको मालूम हो जायेगा बैल कौन है ? तत्पश्चात् मुनिश्री और मंत्रियों का बाद-विवाद हुआ। मुनिश्री ने बाद-विवाद में उन मंत्रियों को जीत लिया और स्वाद्वाद अनेकांत सिन्दून्तों की महिमा प्रगट की। उसके सभी लोग विवश और लम्जित होकर लौट गये लेकिन मंत्रियों के मन में और अधिक द्वेष ईर्ष्या की अग्नि भड़क उठी।

इधर श्रुतसागर मुनिश्री ने मार्ग में जो घटना घटी उसकी संपूर्ण जानकारी गुरुदेव को दी। तब गुरुदेव ने कहा — यह तो बहुत बड़ा अनर्थ हो गया। मुनिश्री पश्चात्ताप करने लगे और गुरुदेव से कहा — गुरुदेव ! इस अनर्थ के निवारणार्थ कोई उपाय बताओ, मुझे प्रायश्चित्त दो। गुरुदेव ने कहा — जिस स्थान पर शास्त्रार्थ हुआ था वहीं जाकर तुम ध्यानमग्न खड़े रहो तो शायद पूरे संघ की आपत्ति टल जावें। गुरुदेव की आज्ञा पाते ही मुनिश्री उसी स्थान पर ध्यान मग्न कायोत्सर्ग अवस्था में खड़े हो जाते हैं।

इधर चारों ही मंत्रियों ने अपना बदला लेने हेतु मुनिश्री के प्राणघात करने का विचार किया। इतने में उसी स्थान पर वे ही मुनि ध्यानस्थ खड़े मिल गये। उन चारोंने मुनिश्री का सिर काटने हेतु अपनी तलवारें निकाल लीं और चारों ने मिलकर एकसाथ तलवार का बार किया, लेकिन नगर देवता ने उनके हाथओं को ऐसा का ऐसा ही कील दिया। उनको अपने घोर पाप का फल तुरंत ही मिल गया। प्रातः काल वह समाचार शीघ्र ही सम्पूर्ण नगर में फैल गया। सारी राजा-प्रजा मंत्रियों की दुष्टता प्रत्यक्ष में देखकर उनको धिक्कारने लगी कि ये तो महान् पापी, दुष्ट हैं। जो कि निरापराधी मुनि को मारने हेतु इन्होंने इतना घोर पाप कमाया है।

इतनी दुष्टता, कूरता देखकर राजा ने मंत्रियों को अपने राज्य से निकाल दिया क्योंकि पापी दुष्ट जीवों को कठोर दण्ड मिलना ही चाहिए। उस समय जैनधर्म का अपूर्व, महिमामयी चमत्कार देखकर सभी लो आनंदति होकर जय-जयकार करने लगे। इधर हस्तिनापुर के राजा पदमराज के ऊपर कुम्भपुर के राजा शिवध्वज ने खूब उपद्रव किया इससे राजा बहुत ही दुःखी अशांत रहता था इस उपद्रव की शांति किस प्रकार होगी ? इस बात से वह हमेशा चिन्तित एवं दुःखी बना

रहता था। इधर उन्जैन से निकले वे चारों मंत्री हस्तिनापुर आ गये। वे राजा को कष्टप्रद जानकर उसके कष्ट निवाणार्थ पट्मराज से मिले और अपने बल से शिवधज राजा को परास्त करके राजा पट्मराज के सामने बंदी बनाकर उपस्थित कर दिया। राजा मंत्रियों की वीरता, चतुरता से बहुत ही प्रभावित एवं खुश हुआ और मंत्रियों से कहा—तुमको जो चाहिए वह माँग लो। मंत्रियों ने कहा—जब हमें जस्तर होगी तब माँग लेंगे। राजा—मंत्री सभी सुखपूर्वक राज्य भोगों में निर्मग्न हो गये।

बहुत दिनों बाद वही अकम्पनाचार्य अपने 700 मुनियों सहति विहार करते—करते हस्तिनापुर के उद्यान में आ गये। समाचार सुनकर सभी लोग दर्शन करने गये। उस समय पिछला वैर याद करके वे मंत्री बदला लेने का विचार करने लगे। तब उन चारों ने मंत्रणा करके विचार किया कि राजा के पास अपनी धरोहर रखी है आज हम राजा के वचनानुसार सात दिन का राज्य माँग लेते हैं। उन्होंने राजा को दिये हुए वर की याद दिलाते हुए कहा राजन! आज हम अपने वर की याचना करते हुए आपसे सात दिन का राज्य चाहते हैं। अंत में विवशतावश अपने वचनानुसार राजा ने चारों मंत्रियों को सात दिन का राज्य दे दिया। और स्वयं दीन—अनाथ बनकर राज्य भवन में चुचाप बैठ गया। उन दुष्ट मंत्रियों ने राज्य प्राप्त कर उन सभी मुनियों को जीवित जलाने की योजना बनाई। उन्होंने मुनियों के चारों तरफ बाड़ा लगवाकर गीली लकड़ियों में आग लगा दी। गीली लकड़ियाँ होने के कारण खूब जोरदार धुँआ उठने लगा और उस अग्नि में चर्बी, हड्डी आदि घिनोने पदार्थ भी डोले। इससे मुनियों के नेत्र, गले भी रुँध गये। उन्हें असाध्य वेदना होने लगी। लेकिन सभी मुनि अपने ऊपर उपसर्ग आया मानकर आत्मध्यान में तीन हो गये। मुनियों के ऊपर ऐसा प्राण घातक उपसर्ग होता देख राजा पट्मरथ को बहुत ही दुःख हुआ लेकिन वचन बन्दू होने के कारण उपसर्ग दूर करने में असमर्थ रहा। समस्त जनता में हाहकार मच गया किंतु राजसन्ता प्राप्त मंत्रियों को कोई कुछ नहीं बोल सकता था।

विष्णुकुमार मुनिश्री के गुरु मिथिलानगरी में ठहरे हुए थे। उन्होंने रात्रि में त्रिवण नक्षत्र को काँपते हुए देखा तब दिव्यज्ञान से हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्यादि 700 मुनियों पर धोर उपसर्ग होता जानकर अकस्मात् उनके मुख से दुःख चिंता सूचक 'हाय—हाय' शब्द निकल पड़ा। रात्रि में अपने गुरु के मुख से हाय—हाय शब्द सुनकर

वहाँ निकट बैठे हुए क्षुल्लक जी ने इसका कारण पूछा, तब उन्होंने कहा कि हस्तिनापुर के राजा पट्मरथ के पापी दुष्ट मंत्रियों ने नरमेघ यज्ञ रचाकर अकम्पनाचार्यादि 700 मुनियों को जीवित जला देने की योजना बनाई है। तत्काल ही यह धोर उपसर्ग शांत न किया गया तो मुनियों का जीवित बचना मुश्किल है। क्षुल्लक जी ने पूछा—गुरुदेव! इसका उपाय क्या है? गुरुदेव ने कहा—धरणतिलक पर्वतके ऊपर विष्णुकुमार मुनि तपस्या कर रहे हैं वे विक्रिया ऋहिद सिद्ध हो गयी है, अतः विष्णुकुमार ही उस ऋहिद के द्वारा उपसर्ग दूर कर सकते हैं। गुरु की बात सुनकर, गुरु आज्ञा लेकर क्षुल्लकजी तुरंत ही आकाशगामिनी विद्या के द्वारा शीघ्र ही धरणीतिलक पर्वतपर पहुँचे एवं विष्णुकुमार मुनिश्री को समस्त बात कही।

क्षुल्लकजी की बात सुनकर विष्णुकुमार मुनिश्री के हृदय में, करुणा, वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा। वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने गृहस्थावरथा के भाई पट्मराज को खूबड़ाँटा-फटकारा। फिर बलि आदि मंत्रियों का गर्व दूर करने के लिए अपना बहुत छोटा ब्राह्मण का रूप बनाया और वेदों के मंत्रों को स्पष्ट बोलते हुए बलि आदि के पास पहुँचे जहाँ ये लोग यज्ञ कर रहे थे।

लघुकायधारी उस ब्राह्मण के मुख से वेद मंत्रों का स्पष्ट उच्चारण सुनकर बलि आदि मंत्री बहुत ही प्रभावित—प्रसन्न हुए और बोले हैं ब्राह्मण देवता! आपको जो कुछ हमसे माँगना है माँग लो। ब्राह्मण देव ने तीन पग भूमि मांगी। मंत्रियों ने कहा—यह तो तुमने बहुत कम मांगा है। नहीं मुझे तीन पग भूमि ही चाहिए। मैं परिग्रहधारी ब्राह्मण नहीं हूँ। बलि ने कहा—अच्छा तीन पग भूमि नापकर ले लो। तब विष्णुकुमार ने विक्रिया ऋद्धि बल पर अपना बहुत बड़ा शरीर कर लिया तदनुसार एक पग सुमेरु पर्वत पर, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर। फिर कहा—तीसरे पग की भूमि दो। बलि विराट शरीर को देखकर दंग रह गया। उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगा। विष्णुकुमार ने अपने असली रूप में आकार अकम्पनाचार्यादि 700 मुनियों का उपसर्ग दूर किया एवं समस्त श्रावकों ने धुँधे से रुँधे हुए मुनियों के गले को लाभकारी कोमल सेवइयों और खीर का भोजन तैयार करके बड़ी भक्ति से आहार कराया। जिनके घर साधु नहीं आये उन्होंने दरवाजेपर मुनि के चित्र स्थापना करके द्वार प्रेक्षण की आहार विधि पूरी की।

विष्णुकुमार मुनिश्री ने पुनःप्रायश्चित्त लेकर फिर तपस्या की। यह पवित्र दिन श्रावण सुदी पूर्णिमा का था। इस दिन से यह पर्व रक्षाबंधन के नाम से चला आ

रहा है। हमको यह पर्व केवल परम्परानुसार अनुकरण के रूप में ही नहीं मनाना चाहिए बल्कि विष्णुकुमार मुनि के समान साधर्मी जनता की विपत्ति हटाने के लिए सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार रहना चाहिए तथा अकम्पनाचार्यदि गुरुओं की तरह दृढ़ता पूर्वक धर्मपालन करना चाहिए। इस पर्व की सार्थकता, श्रेष्ठता को समझे इसे विकृत ना करें। धर्म, ग्रंथ, संत, पंथ किसी के ऊपर संकट आवे तो सब कुछ भूलकर उसके संकट का निवारण करना। क्योंकि जो वीर साहसी होते हैं वे कावर बनकर किसी के सामने सिर नीचा नहीं करते बल्कि अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी धर्म, गुरु, साधर्मी जनों की रक्षा करते हैं। यही रक्षाबंधन का पर्व महत्व, उद्देश्य है।

आज रक्षाबंधन के अवसर पर आप सभी को संकल्प करना है कि धर्म, गुरु, राष्ट्र की रक्षा संगठित होकर करेंगे। सभी के साथ दया, प्रेम, करुणा, क्षमा, वात्सल्य का भाव रखेंगे। अपने हृदय को विशाल बनाकर सभी के साथ भाईचारे का व्यवहार करेंगे।

(अन्त में सभी ने मुनि संघ की पिच्छी में रक्षासूत्र बांधे और आ. कनकनंदी जीने सब को उनकी इच्छानुसार एक-एक नियम दिये।)

वात्सल्य अंग

अनवरतमहिं सायां शिवसुखलक्ष्मीनिवन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालभ्यम्॥29॥

(पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय)

मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारण भूत धर्म में अहिंसा में और सभी साधर्मी जनों में निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य अथवा प्रीति का आलम्बन करना चाहिए।

स्वयथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकै तवा।
प्रतिपर्तियथायोग्यं वात्सल्यमभिलयते॥17॥

(रलकरण्डश्रावकाचार)

अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह में रहने वाले लोगों के प्रति अच्छे भावों से सहित और माया से रहित उनकी योग्यता के अनुसार आदर-सत्कार आदि करना वात्सल्य गुण कहा जाता है।

सम्यादृष्टि का वत्सल्य भाव गोंद या रसी का काम करता है। जैसे गोंद कागज को चिपकाने में एवं रसी लकड़ी को बाँधने में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा

का वात्सल्य गुण दृसरों को प्रेम भाव से संगठित करके बाँधता है। यह वात्सल्य भाव सम्यादृष्टि के प्रगट होने से अन्तरंग से उद्भुत होता है। इसको कोई भी भौतिक वैभव से प्राप्त नहीं कर सकता है। कबीरजी ने कहा है—
प्रेम न वाड़ी उपजे, प्रेम न हाट विकाय।
राजा प्रजा जेहि रुचे, शीशा देइ ले जाय॥

यह प्रेम न वर्गीचे में उत्पन्न होता है, न बाजार में प्राप्त होता है। राजा हो या प्रजा, जिसे प्रेम चाहिए, प्रेम के लिए सिर ढेकर भी प्राप्त कर लेना चाहिए। किसी भी कारणवश प्रेम रूपी डोरी को बल पूर्वक नहीं तोड़ना चाहिए। कहा भी है—

“रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चिटकाय।

टूटे तो फिर ना जुड़े, जुड़े गाँठ पड़ जाय॥”

रहिमन कवि कहते हैं कि प्रेम रूपी डोरी को जबरदस्ती नहीं तोड़नी चाहिए, टूटने पर फिर नहीं मिलती है, और मिलने पर भी गाँठ पड़ जाती है।

आज भाई-भाई, धर्मात्मा-धर्मात्मा, नेता-नेता, साधु-साधु थोड़ी-थोड़ी ब्रातों को लेकर झगड़ा, कलह, वाद-विवाद करके फूट डाल देते हैं, और उस फूट के कारण आज परिवार, धर्म, समाज, देश, राष्ट्र आदि बरबाद हो रहे हैं। लोकोक्ति है—

खेत में फूट होवे तो सब कोई खावै।

घर में फूट होवे तो घर ढ़ह जावै।

इस फूट के कारण ही प्रासिद्ध ग्रीक सभ्यता नाम शेष रह गयी। अत्यन्त धनी, मानी, समृद्ध, शक्तिशाली, भारतवर्ष भी अनेक वर्ष तक पराधीनता की जंजीर पहने रहा, धर्म के नाम पर विभिन्न देश-काल में नर, धन, सभ्यता-संस्कृति, मन्दिरों का विद्वंस हुआ। अभी भी साम्प्रदायिक, राजनीतिक, भाषागत, प्रान्तगत, कलह आतंकवाद युद्ध चल रहा है।

वात्सल्य शब्द का अर्थ है कि गाय जैसे बछड़े के प्रति निःस्वार्थ भाव से प्रेम करती है, पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार धर्मात्मा के प्रति निःस्वार्थ भाव से प्रेम, प्रीति, तथा संरक्षण करना। बछड़े की प्रीति से गाय सिंहनी के समुख चली जाती है और विचार करती है कि यदि मेरा भक्षण हो जाय और बछड़े की रक्षा हो जाए तो अत्युत्तम है। गेंगे प्रीति धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होनी चाहिए

जो तन-मन-धन सर्वस्य खर्च करके अपनी प्रीति को पा लें।

राजवार्तिक में वात्सल्य अङ्ग के साथ-साथ प्रवचन वात्सल्य में भी सहधर्मी के साथ प्रेम करने के लिए कहा है। यथा—

वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचन वत्सलत्वम्(13) यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिम स्नेह मुत्पादयति तथा सधर्माणावलोक्य तदगत स्नेहार्दिकृत चित्तता प्रवचन वत्सलत्वमित्युच्यते। यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचन स्नेहात्ति। तान्येतानि षोडश कारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकर नामकर्मास्त्रव कारणानि प्रत्येतव्यानि।

(तत्त्वार्थवार्तिकपठोऽध्याय 24 सूत्र)

बछड़े के गाय के समान धार्मिक जनों में स्नेह प्रवचन वत्सलत्व है। जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है, उसी प्रकार सधर्मी जनों को देखकर तदगत स्नेह से ओत प्रोत हो जाना, वा चित्त का धर्म स्नेह से आर्द्र हो जाना प्रवचन वत्सलत्व है। जो सधर्मियों के साथ स्नेह है, वही तो प्रवचन स्नेह हैं।

सम्यक् प्रकार से पृथक्-पृथक् या सर्व रूप से भावित ये षोडश कारण भावनायें तीर्थकर नाम कर्म के आस्त्रव का कारण होती हैं। वात्सल्य भाव से धर्म एवं धर्मात्मा के प्रति प्रेम प्रगट होता है। संगठन बढ़ता है, आत्म विशुद्धि होती है, कर्म निर्जरा होती है इसके साथ-साथ तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय तीर्थकर पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है जिससे यह जीव आगे जाकर तीन लोक के भव्यों के लिए अनिमित्तिक बन्धु स्वरूप बनता है। जो जीव सम्पूर्ण जीवों के कल्याण के लिए षोडश कारण स्वरूप मैत्री भावना भाता है वही जीव आगे जाकर तीर्थकर बनता है। उस पूर्व भव से भावित, प्रेम, मैत्री, वात्सल्य भाव के कारण ही तो तीर्थकर की विशाल विश्व धर्म सभा (समोवशरण) में जन्म-जात विरोधी मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी एक साथ बैठकर वात्सल्य भाव से धर्मामृत का पान करते हैं।

जैनाचार्यों ने वात्सल्य भाव के परमोक्तष्ट स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

जीव जिणवर जे मुणहि जिणवर जीव मुणेहि।

ते सम भाव परद्विया लहु णिव्याणं लहेई॥

जो जीव को जिनवर मानता है एवं जिनवर को जीव मानता है ऐसे समदृष्टि साम्य भाव को रखने वाला जीव शीघ्रातिशीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करता है। इसमें आचार्य श्री ने कहा है कि धर्मात्मा जिनेन्द्र के प्रति जैसा आदर भाव रखता है उसी प्रकार अन्य जीव के प्रति आदर भाव रखकर के उसकी निन्दा नहीं करनी

चाहिए, द्वेष एवं घृणा नहीं करनी चाहिए। जैसे खवय को प्रेम, आदर सत्कार, मान, सम्मान, बहुमान, वात्सल्य चाहिए उसी प्रकार अन्य को भी उसकी आवश्यकता है। इसलिए जो खवय के लिए चाहिए वही दूसरे के लिए वितरण करना चाहिए, वह व्यवहार दूसरों के साथ भी करें। कहा भी है—

जं इच्छासि अप्यणतो जं च न इच्छासि अप्यणतो॥

तं इच्छ परस्य वि या, एत्तियगं जिण सासणं॥

जो खवय के लिए चाहते हो और जो अपने लिए नहीं चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो वह जिन शासन का सार है।

इसी प्रकार उपरोक्त सम्पूर्ण अङ्ग को लेकर धर्मात्मा का प्रेम, आदर करना चाहिए। आज विशेषकर जैन धर्मावलम्बियों में इस गुण का अभाव होने के कारण भाई-भाई में, साधु-साधु में, घर-घर में, समाज-समाज में शीत युद्ध चल रहा है। रोगी जिस समय में जिस रोग से पीड़ित रहता है उसके निवारण के लिए उसके घोग्य औषधि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार आज जैन धर्मावलम्बी अवात्सल्यरूपी द्वेष, घृणा, तिरस्कार, फूट, कलह, वाद-विवाद रूप रोग से ग्रसित हैं। इसलिए इस अवात्सल्य रूप रोग को दूर करने के लिए एकमेव, अचूक रामबाण औषधि वात्सल्य भाव है। आज जैन धर्मावलम्बी वात्सल्य रूपी अमृत का पान करके स्वस्थ, निरोगी, सुदृढ़, उन्नत, प्रगतिशील बनने के लिए आगे बढ़ें। वर्तमान के जैन धर्मावलम्बी आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होते हुए भी संगठन के अभाव में विशेष रचनात्मक कार्य करके विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए असमर्थ हो रहे हैं। जैनियों को मुसलमानों में जो संगठन, भाईचारा, एवं अपने धर्म के प्रति समर्पित भाव हैं उसका अनुकरण, अनुसरण करना चाहिए। कर्नाटक प्रदेश के अजैन बन्धु जैनियों को उलाहना देकर कहते हैं— ‘‘डोम लोग नहीं मिलेंगे तो नष्ट हो जायेंगे, जैन लोग मिलने पर नष्ट हो जायेंगे।’’ अर्थात् डोम लोग नहीं मिलेंगे तो खेल नहीं दिखा सकते जिससे जीवनयापन ठीक से नहीं चल सकता है और जैन लोग एक साथ मिलने पर कलह-झगड़ा करने लगते हैं। उत्तर भारत के अजैन बन्धु भी इसी प्रकार एक उलाहना देते हैं कि— ‘‘जैनी होकर छैनी बन रहे हैं।’’ अर्थात् छैनी पथर आदि को तोड़ती है उसी प्रकार जैनी लोग परस्पर को तोड़ते हैं। इसलिए आचार्य विमलसागर महाराज कहते हैं कि— ‘‘धर्मात्माओं को कैची नहीं बनना चाहिए सूई बनना चाहिए।’’ इस वात्सल्य भाव में ही संगठित भाव पूर्ण रूप से

निहित है। इसीलिए जैनियों को आज संगठित होकर कन्धे से कन्धा मिलाकर विश्व के सामने कुछ आदर्श प्रतुत करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। चन्द्रगुप्त मौर्य के स्वन में एक स्वन था, जिसमें दो छोटे बछड़े एक रथ को बहन करके ले जा रहे हैं। इसका भविष्यत फल श्रुत केवली भद्रबाहु ख्यामी ने कहा था कि इस पंचम काल में नवयुवक नवयुवतियाँ ही धर्मसूपी रथ को बहन करके आगे गतिशील बनायेगी। इसीलिए मेरा भी आद्वान है कि हे नवयुवक—नवयुवतियों! उठो, जागो अपना कर्तव्य सम्भालो। गिरते हुए धर्मसूपी रथ को अपने सुदृढ़ कन्धे में धारण करके उसको सच्चे धर्म के मार्ग पर गतिशील बनाओ। प्राचीन रोग के समान कलह—कूट, वाद—विवाद को वात्सल्य रूपी अचूक औषधि से दूर करके निरोगी, स्वस्थ, सबल, सुदृढ़ गतिशील बनो। वंशजों की जलती हुई झोपड़ी में पुरुषार्थ हीन होकर देखते—देखते तुम भी मत जलो। उस झोपड़ी के लोभ से तुम्हारी भी इति श्री हो जायेगी। उस मोह को छोड़कर उस जलती हुई झोपड़ी से निकलकर सुरम्य गगनचुम्बी शीतल सुख प्रद वात्सल्य रूपी प्रासाद का निर्माण करके सुख से निवास करो। आज देश—विदेश में, राष्ट्र—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रेम की डोरी से बंधकर अनेक राष्ट्रीय—अन्तर्राष्ट्रीय, संस्था—समिति, संघ बन रहे हैं तो क्या मुष्टीमय जैन धर्मावलम्बियों के मध्य में संगठन नहीं हो सकता है? अवश्य हो सकता है। मनुष्यों के लिए असम्भव नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। संगठन का बीज वात्सल्य में निहित है। इसीलिए वात्सल्य को अपने हृदय रूपी उपजाऊ जमीन में डालकर गुण ग्राही, उपगृहन, रिथतिकरण, आदि जल, खाद रक्षण से उसको अंकुरित पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करो। आज जैन धर्मावलम्बियों में संगठन के नाम पर अनेक संरथा, समिति, सभा, मिलन होते हुए भी वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं या अपने लक्ष्य से विपरीत गमन कर रहे हैं। इसीलिए यह संगठन आदि रचनात्मक कार्य के साथ—साथ विध्वंसात्मक कार्य करके सुख्यात एवं कुख्यात हो रहे हैं। कुख्यात होने के कारण संकुचित मनोभाव, वात्सल्य भाव से रहित, निहित, स्वार्थनिष्ठ, मतवाद, पंथवाद, जातिवाद, कुर्सीवाद, दलवाद (पार्टीवाजी) आदि हैं। संगठन के लिए ये सब विरोधात्मक कारण हैं इसीलिए इन विरोधी कारणों को हटाने से अत्यन्त सरल एवं सहज साध्य है।



19

सोलह कारण पूजा

सोलह कारण भाय तीर्थकर जे भये।
हरषे इन्द्र अपार मेरु पै ले गये॥
पूजा करि निज धन्य लख्यौ वहु चाव सौ॥
हमहूं पोड़शकारण भावैं भाव सौ॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणानि! ॐ हीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणानि! अब्र
अवतरत — अवतरत सवौष्ठ अब्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः।

ॐ हीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणानि! अब्र मम सान्निहितो भवत भवत वषट्—
कंचन ज्ञारी निरमल नीर पूजों जिनवर गुण गंभीर।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो॥
दरश विशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थकर पद पाय।
परम गरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्धि 1. विनयसम्पन्नता, 2. शील ब्रतेष्वनतिवार, 3. अभीक्षण
ज्ञानोपयोग, 4. संवेग, 5. शक्तितस्त्वाग, 6. शक्तिस्तप, 7. साधुसमाधि,
8. वैव्यावृत्यकरण, 9. अहद्भक्ति, 10. आत्मार्य भक्ति, 11. वहुश्रुत भक्ति, 12.
प्रवचन भक्ति, 13. आवश्यकापरिहाणी, 14. मार्ग प्रभावना, 15. प्रवचनवात्सल्य,
16. घोडशकारणेभ्यो जन्म जगा मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामिती स्वाहा॥१॥

चन्दन घसौ कपूर मिलाय पूजौं श्रीजिनवर के पाय।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश॥
ॐ हीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो: संसार ताप विनाशनाय चंदनं। निर्व.२
तंदुल धवल सुगन्ध अनूप पूजौं जिनवर तिहुँ जग भूप।
परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश॥
ॐ हीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो; अक्षयपदप्राप्ताये अक्षतान्। निर्व.३
फूल सुगन्ध मधुप गुज्जार पूजौं जिनवर जग आधार।
परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश॥
ॐ हीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो कामवाणविश्वंसनाय पुष्पं। निर्व.४

सदनेवज वहुविधि पकवान पूजौ श्रीजिनवर गुणखान।
 परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश.॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं । निर्व.५
 दीपक ज्योति तिमिर छयकार पूजौ श्रीजिन केवलधार।
 परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश.॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो मोहान्धकार विनाशनाय दीपं । निर्व.६
 अगर कपूर गंध शुभ खेय श्री जिनवर आगे महकेय।
 परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश.॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्योऽष्ट कर्मदहनाय धूपं । निर्व.७
 श्रीफल आदिवहुतफल सार पूजौ जिन वाँछित दातार।
 परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश.॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो मोक्षफल प्राप्ताये फलं । निर्व.८
 जलफल आठों दरब चढ़ाय ‘द्यानत’ वरत करों मनलाय।
 परम गुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥दरश.॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्योऽनर्घपद प्राप्त ये अर्ध । निर्व.९
सोलह औंगो के अर्ध
 दर्शन शुद्ध न होवत जो लग, तो लग जीव मिथ्यात कहावे।
 काल अनन्त फिरो भव में, महादुःखन को कहुँ पार न पावे॥
 दोष पचीस रहित गुण अम्बुधि, सम्यक् दर्शन शुद्ध ठरावे।
 ‘ज्ञान’ कहे नर सोहि बड़ो, मिथ्यात्व तजे जिनमारग ध्यावै॥

ॐ हीं दर्शनविशुद्धि भावनायै नमः अर्ध ॥१॥
 देव तथा गुरुराय तथा, तप संयम शील व्रतादिक धारी।
 पाप के हारक काम के धारक, शत्य निवारक कर्म निवारी।
 धर्म के धीर कपाय के भेदक, पंच प्रकार संसार के तारी।
 ‘ज्ञान’ कहे विनयो सुखकारक, भाव धरो मन रखो विचारी॥

ॐ हीं विनयसम्पन्नताभावनायै नमः अर्ध ॥२॥

शील सदा सुखकारक है, अतिचार विवर्जित निर्मल कीजे।
 दानव देव करें तसु सेव, विषानत भूत विशाच पतीजे॥
 शील बड़ो जग में हथियार, जो शील की उपमा काहे की दीजे।
 ‘ज्ञान’ कहे नहिं शील वरावर, तातें सदा दृढ़ शील धरीजे॥

ॐ हीं निरतिचार शीलव्रत भावनायै नमः अर्ध॥३॥
 ज्ञान सदा जिनराज को भाषित, आलस छोड़ पढ़े जो पढ़ावे
 द्वादस दोऊ अनेकहुँ भेद, सुनाम मति श्रुति पंचम पावे॥
 चारहुँ भेद निरन्तर भाषित, ज्ञान अभीक्षण शुद्ध कहावे।
 ‘ज्ञान’ कहे श्रुत भेद अनेकजु, लोकालोक हि प्रगट दिखावे॥

ॐ हीं अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावनायै नमः अर्ध ॥४॥
 भ्रात न तात न पुत्र कलत्र न, संयम सज्जन ए सब खोटो।
 मन्दिर सुन्दर काय सखा, सबको इसको हम अन्तर मोटो॥
 भाउके भाव धरी मन भेदन, नाहिं संवेग पदारथ छोटो।
 ‘ज्ञान’ कहे शिव साधन को जैसो, साह को काम करेजु बणोटो॥

ॐ हीं संवेग भावनायै नमः अर्ध ॥५॥
 पात्र चतुर्विधि देख अनूपम, दान चतुर्विध भावसूँ दीजे।
 शक्ति समान अभ्यागत को, अति, आदर से प्राणिपत्य करीजे।
 देवत जे नर दान सुपात्रहिं, तास अनेकहि कारण सीजे।
 बोलत ‘ज्ञान’ देहि शुभ दान जु, भोग सुभूमि महासुख लीजे॥

ॐ हीं शक्ति तस्त्याग भावनायै नमः अर्ध ॥६॥
 कर्म कठोर गिरावन को निज, शक्ति समान उपोषण कीजे।
 बारह भेद तपे तप सुन्दर, पाप जलांजलि काटे न दीजे॥
 भावधरी तप धोर करो नर, जन्म सदा फल काहे न लीजे।
 ‘ज्ञान’ कहे तप जे नर भावत, ताकै अनेकहि पातक छीजे॥

ॐ हीं शक्तितस्त्यो भावनायै नमः अर्ध ॥७॥
 साधु समाधि करो नर भावक, पुण्य बड़ो उपजे अघ छीजे।
 साधु की संगति धर्म को कारण, भवित करे परमारथ सीजे॥
 साधु समाधि करे भव छूटत, कीर्ति छटा त्रैलोक्यमें गाजे।
 ‘ज्ञान’ कहे यह साधु बड़ो, गिरि शृङ्गगुफा विच जाय विगजे॥

ॐ हीं साधु समाधि भावनायै नय अर्ध ॥८॥

कर्म के योग व्यथा उदई मुनि, पुंगव कुन्तसयेषज कीजे।
पीत कफान लसास भगन्द, ताप को सूल महागद छीजे॥
भोजन साथ बनायके औषध, पथ्य कुपथ्य विचारके दीजे।
'ज्ञान' कहे जित ऐसी वैयावृत्य करे तस देव पतीजे॥

ॐ हीं वैयावृत्यकरण भावनायै नमः अर्ध ॥९॥

देव सदा अरिहन्त भजो जई, दोष अठारा किये अति दूरा।
पाप पखाल मये अति निरमल, कर्म कठोर किये चकचूरा॥
दिव्य अनन्त चतुष्टय शोभित, घोर मिथ्यान्ध निवारण सूरा।
'ज्ञान' कहे जिनराज अराधो, निरंतर जे गुण मन्दिर पूरा॥

ॐ हीं अर्हद्भक्ति भावनायै नमः अर्ध ॥९०॥

देवत ही उपदेश अनेक सु आप सदा परमारथ धारी।
देश विदेश विहार करें, दश धर्म धरें भव पार उतारी॥
ऐसे आचरण भाव धरी भज, सो शिव चाहत कर्म निवारी।
'ज्ञान' कहे गुरु भक्ति करो नर, देखत ही मन मांहि विचारी॥

ॐ हीं आचार्य भक्ति भावनायै नमः अर्ध ॥९१॥

आगम छन्द पुराण पढ़ावत, सहित तर्क वितर्क वयाने।
काव्य कथा नव नाटक पूजन, ज्योतिष वैदेक शास्त्र प्रमाने॥
ऐसे बहुश्रुत साधु मुनीश्वर, जो मन में दोउ भाव न आने।
बोलत 'ज्ञान' धरी मनसान जु, भाग्य विशेषतें जानहिं जाने॥

ॐ हीं बहुश्रुत भक्ति भावनायै नमः अर्ध ॥९२॥

द्वादस अंग उपांग सदागम, ताकी निरन्तर भक्ति करावे।
वेद अनूपम बार कहे तस, अर्थ भले मन मांहि ठरावे॥
पढ़ बहुभाव लिखो निज अक्षर भक्ति करी बड़ि पूज स्वावै।
'ज्ञान' कहे जिन आगम भक्ति, करो सद्बुद्धि बहुश्रुत पावे॥

ॐ हीं प्रवचन भक्ति भावनायै नमः अर्ध ॥९३॥

भाव धरे समता सब जीवसु स्तोत्र पढ़े मुख से मनहारी।
कायोत्सर्ग करे मन प्रीतसुं, वंदन दे तणो भव तारी॥
ध्यानधरी मद दूर करीस, दोउ करे पडकम्मव भारी।
'ज्ञान' कहे मुनि सो धनवन्त जु, दर्शन ज्ञान चरित्र उधारी॥

ॐ हीं आवश्यकापरिहाणि भावनायै नमः अर्ध ॥९४॥

जिनपूजा र्चो परमारथसुं, जिन आग नृत्य महोन्मव द्याणो।
गावत गीत वजावत ढोल, मृदंग के नाद मुधांग वयानो॥
संग प्रतिष्ठा र्चो जल जातग, सद्गुरु को साहयो कर आयो।
'ज्ञान' कहे जिनमार्ग प्रभावन भाग्य निशेषसुं जानहिं जाणो॥

ॐ हीं मार्ग प्रभावनायै नमः अर्ध ॥९५॥

गौरव मान धरे मन से मुनि पुद्गव को नित वत्सल कीजे।
शील के धारक भव्य के तारक, तासु निरंतर स्नेह धरीजे॥
धेनु यदा निजवालक के, अपने जिय छोडि न और पतीजे।
'ज्ञान' कहे भवि लोक मुनो, जिनवत्सल भाव धरे अघ छीजे

ॐ हीं प्रवचनवत्सल भावनायै नमः अर्ध ॥९६॥

जाप— ॐ हीं दर्शनविशुद्धयै नमः, ॐ हीं विनयसम्पन्नायै नमः, ॐ हीं शीलव्रताय नमः, ॐ हीं अभीक्षणज्ञानोपयोगाय नमः, ॐ हीं संवेगाय नमः, ॐ हीं शक्तितस्त्यागाय नमः, ॐ हीं शक्तितस्तपसे नमः, ॐ हीं साधु समाध्ये नमः, ॐ हीं वैयावृत्यकरणाय नमः, ॐ हीं अर्हद्वक्त्यै नमः, ॐ हीं आचार्यभक्त्यै नमः, ॐ हीं बहुश्रुत भक्त्यै नमः, ॐ हीं प्रवचनभक्त्यै नमः, ॐ हीं आवश्यकापरिहारण्यै नमः, ॐ हीं मार्गप्रभावनायै नमः, ॐ हीं प्रवचनवत्सलताय नमः॥९६॥

जयमाला

षोडश कारण गुण करै, हैर चतुरगति वास।

पाप पुण्य सब नाश के, ज्ञान भान परकाश॥

दरश विशुद्धि धरे जो कोई, ताको आवागमन न होई।

विनय महाधारे जो प्राणी, शिव वनिता की सखी वयानी॥

शील सदा दिढ़ जा नर पालै, सो औरन की आपद टालै।

ज्ञानाभ्यास करे मनमांही, ताके मोह महातम नाही॥

जो संवेग भाव विस्तारे, सुरग मुकति पद आप निहारै।

दान देय मन हरख विशेषै, इह भव जस, परभव सुरख देखे॥

जो तप तपै खपे अभिलाषा, चूरे कर्म शिखर गुरु भाषा।

साधु समाधि सदा मन लावै, तिहं जग भोग भोगि शिव जावै॥

निशदिन वैयावृत्य कैरया, सो निहचै भव नीर तिरया।

जो अरहन्त भगति मन आवै, सो जन विषय कपाय न जानै।

जो आचार्य भगति करै है, सो निर्मल आचार धरै है।

बहुश्रुतवंत भगति जो कर्है, सो नर संपूर्ण श्रुत धर्है॥

प्रथम भगति करे जो ज्ञाता, लैहे ज्ञान परमानन्द दाता।
 पट् आवश्यक काल जो साधै, सो ही रत्नत्रय आराधै॥
 धर्म प्रभाव करें जो ज्ञानी, तिन शिव मारग रीति पिछानी।
 बत्सल अंग सदा जो ध्यावै, सो तीर्थकर पदवी पावै॥

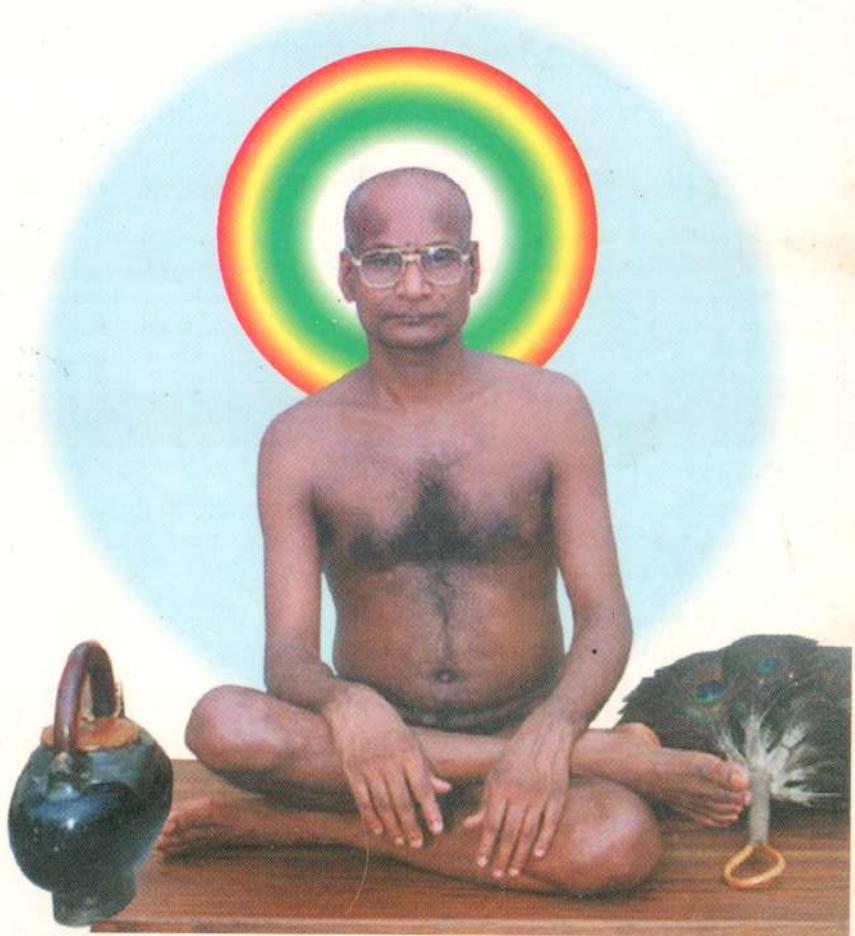
दोहा

एही सोलह भावना, सहित धौर, व्रत जोय।
 देव इन्द्र नर वंद्य पद, 'ज्ञानत' शिवपद होय॥

ॐ हौं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभः पूर्णार्घ निर्व.।
 सुन्दर घोडशकारण भावना निर्मल चित्त सुधारक धौर,
 कर्म अनेक हने अति दुर्द्वं जन्म जरा भय मृत्यु निवारै।
 दुःख दरिद्र विपत्ति हैरे भव-सागरको पथ पार उत्तौरे,
 'ज्ञान' कहे यही घोडशकारण कर्ता निवारण सिद्ध सुधारै॥
 इत्याशीर्वादः।

जैन युवा परिषद उदयपुरमें बच्चों को संस्कार सिंचन करते हुए आचार्य श्री कनकनंदीजी साथ में विराजमान है मुनिश्री विद्यानंदीजी एवं मुनिश्री प्रज्ञासागरजी





आ. रत्न श्री कनकनन्दीजीश्री गुरुदेव